Madhyakalina Bharatiya Kalaen
evam
unka Vikasa

Ramnath

Rajasthan Hindi Granth Academy
Jaipur, 1973

मध्यकालीन भारतीय कलाएँ एवं उनका विकास

लेखक

डॉ० रामनाथ

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

जयपुर

प्रस्तावना

भारत की स्वतन्त्रता के बाद इसकी राष्ट्रभाषा को विश्वविद्यालय शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रश्न राष्ट्र के सम्मुख था। किन्तु हिन्दी में इस प्रयोजन के लिए अपेक्षित उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें उपलब्ध नहीं होने से यह माध्यम-परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। परिणामतः भारत सरकार ने इस न्यूनता के निवारण के लिए "वैज्ञानिक तथा पारिभाषिक शब्दावली आयोग" की स्थापना की थी। इसी योजना के अन्तर्गत 1969 में पाँच हिन्दी भाषी प्रदेशों में ग्रन्थ अकादमियों की स्थापना की गई।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी हिन्दी में विश्वविद्यालय स्तर के उत्कृष्ट ग्रन्थ-निर्माण में राजस्थान के प्रतिष्ठित विद्वानों तथा अध्यापकों का सहयोग प्राप्त कर रही है और मानविकी तथा विज्ञान के प्रायः सभी क्षेत्रों में उत्कृष्ट पाठ्य-ग्रंथों का निर्माण करवा रही है। अकादमी चतुर्थ पंच-वर्षीय योजना के अन्त तक तीन सौ से भी अधिक ग्रंथ प्रकाशित कर सकेगी, ऐसी हम आशा करते हैं। प्रस्तुत प्रस्तक इसी क्रम में तैयार करवाई गई है। हमें आशा है कि यह अपने विषय में उत्कृष्ट योगदान करेगी। इस पुस्तक की समीक्षा के लिए अकादमी डा० गोविन्दचन्द पाण्डे, अध्यक्ष इतिहास विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय की आभारी है।

चंदनमल बैद
अध्यक्ष

सत्येन्द्र
निदेशक

प्रिय मित्र

पण्डित महेन्द्रकुमार सारस्वत

को

सादर समर्पित

प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रमुख मध्यकालीन भारतीय कलाओं अर्थात् चित्र, संगीत और वास्तु के विकास का संक्षिप्त विवेचन है। इसकी रचना राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के तत्वावधान में विश्वविद्यालयों के उच्चस्तरीय अध्ययन के लिए की गई है। चित्र और वास्तु दोनों ही दृश्य विषय हैं इसलिये इसमें सन्दर्भानुसार आवश्यक चित्र भी दिये गए हैं। शायद हिन्दी में वास्तु-विषयक यह पहला शैक्षणिक ग्रन्थ होगा इसलिये इसके साथ वास्तु-सम्बन्धी एक संक्षिप्त पारिभाषिक शब्दावली (Glossary) भी दी गई है। कुछ परिभाषाओं को चित्रांकनों द्वारा समझाया गया है। भाषा को सरल और सुबोध रखने का प्रयत्न किया गया है। हमारे विद्यार्थी को इस स्तर पर कैसी सामग्री दी जाये जिससे व्यक्तिगत रूप से उसका बौद्धिक विकास तो हो ही, उसमें अपनी संस्कृति के प्रति श्रद्धा और अपने देश के लिए प्रेम भी उत्पन्न हो—मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ में निरन्तर यह ध्यान रखा है। हमारा नवयुवक बड़ी तेजी से अपनी प्राचीन संस्कृति से दूर होता जा रहा है—यह शिक्षा-क्षेत्र की सबसे बड़ी समस्या है। पुरानी पीढ़ी के लोग पाँच हजार वर्षों की संचित उस सांस्कृतिक धरोहर को किसे सौंप जायें जो उनके पूर्वज उन्हें दे गये हैं? यह धरोहर केवल संग्रहालयों और ग्रन्थालयों में ही सुरक्षित नहीं रहती है। नये युग के रंगीन प्रभाव में हमारा नवयुवक पूर्णरूपेण रंग न जाये और अपनी संस्कृति और इतिहास के प्रति उसमें निरन्तर प्रेम और लगाव बना रहे—इस उत्तरदायित्व को कोई भी शिक्षक टाल नहीं सकता।

राजनीतिक प्रक्रियाओं और युद्धों का इतिहास अपेक्षाकृत सरल अध्ययन है। इसके विपरीत संस्कृति का इतिहास, विशेषकर कलाओं के विकास का इतिहास, कठिन होता है। इसमें इससे सम्बद्ध विभिन्न भावनाओं, प्रेरणाओं और प्रभावों का विश्लेषण करना पड़ता है और एक बड़े विस्तृत क्षेत्र का अध्ययन करने के पश्चात् ही कोई निर्णय हो पाता है। यहां भूल हो जाना आसान है और मुझे यह कहते कोई हिचकिचाहट नहीं है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में बहुत-सी भूलें और कमियाँ होंगी। किन्तु इतिहास में 'अन्तिम शब्द' कोई नहीं कहता। इतिहास एक क्रमिक अध्ययन है, स्वयं में एक विकासशील क्रिया है, निरन्तर बढ़ते रहने वाला एक पौधा है जिसमें व्यक्तिमात्र अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार योगदान देता है आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए मार्ग उन्मुक्त कर जाता है।

मैं राजस्थान विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के अध्यक्ष डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डे, प्रोफेसर डॉ० गोपीनाथ और रीडर डॉ० मामराजसिंह जैन के प्रति आभार प्रदर्शित करता हूँ। राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के उप-निदेशक श्री यशदेव शल्य, कार्यालय-अधीक्षक श्री हरीसिंह और मैसर्स गुलाबीनगर एण्टरप्राइज इण्टरनेशनल जयपुर के निरन्तर अविलम्ब सहयोग के लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। अपने फोटोग्राफर सर्वश्री वेदप्रकाश और सत्यप्रकाश (नाइस स्टूडियो, आगरा) और श्री सन्तोषकुमार को भी मैं उनकी सहायता और सहयोग के लिए धन्यवाद देता हूँ।

३१ दिसम्बर, १९७२ — रामनाथ

१०५, नेहरू नगर,
आगरा—२।

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

भूमिका :

भाग (१)– चित्रकला

भाग (२)– संगीत-कला

भाग (३)– वास्तु-कला

भूमिका

भारत में समय-समय पर बहुत से आक्रान्ता आये। सीमान्त प्रदेशों को जीतते हुए कुछ देश के भीतरी भागों तक आ गये। बहुत से विजेता जैसे शक, कुषाण और हूण यहीं बस गये। उन्होंने यहाँ की संस्कृति को अपना लिया और धीरे-धीरे वे भारतीय समाज में घुलमिलकर एक हो गये। प्राचीन-काल में विदेशी आक्रमणों के परिणामस्वरूप राजनीतिक उथल-पुथल तो बहुत हुई किन्तु सांस्कृतिक संघर्ष की विभीषिकाएँ उतनी देखने में नहीं आयीं। हिन्दू धर्म में विभिन्न विचारधाराओं और विभिन्न दृष्टिकोणों को आत्मसात् कर लेने की अद्भुत क्षमता है। उसकी उदारता की सीमाएं बड़ी विस्तृत हैं। हिन्दू शब्द की व्यापक परिभाषा है और उसे किसी एक परिधि में नहीं बाँधा जा सकता है। शिव की उपासना करने वाला भी हिन्दू है और कृष्ण का उपासक भी हिन्दू, काली का भक्त भी हिन्दू है और हनुमान का भक्त भी। हिन्दू पेड़ों की भी पूजा करते हैं और पत्थरों की भी। जो ईश्वर को मानता है वह भी हिन्दू है और जो नहीं मानता वह भी हिन्दू है। जो प्रतिदिन छः घण्टे मन्दिर में पूजा करता है वह तो हिन्दू है ही, जो कभी भगवान का नाम भी नहीं लेता वह भी हिन्दू है। वास्तव में हिन्दू धर्म में कोई ऐसा धार्मिक प्रतिबन्ध या अनुशासन नहीं है जिसका पालन करके ही कोई हिन्दू कहलाने का अधिकारी हो। हिन्दू धर्म तो जीवनयापन का एक ढंग है, कुछ सुन्दर आस्थाओं और कुछ कोमल मान्यताओं को प्रतिदिन के जीवन में ढालने की एक क्रिया है। यह व्यक्ति का व्यक्तिगत मामला है कि वह ईश्वर को कितना माने और उसकी आराधना कैसे करे।

किन्तु १२वीं शताब्दी के अन्त में, अर्थात् मध्यकाल के प्रारम्भ में दिल्ली सल्तनत की स्थापना के उपरान्त, एक नई ही परिस्थिति उत्पन्न हुई। तुर्क लोग शक और हूणों की तरह खाली हाथ नहीं आये, वे अपने साथ अपनी धार्मिक मान्यताएँ और सामाजिक व्यवस्था के अपने मानदण्ड लेकर आये। इस्लाम के कुछ निश्चित सिद्धान्त थे। प्रत्येक मुसलमान को काबे की ओर मुँह करके प्रतिदिन नमाज़ पढ़ना, वर्ष में एक मास रोज़ा रखना, जीवन में एक बार हज करने जाना—आवश्यक था। खुदा और खुदा के पैगम्बर हज़रत मुहम्मद में विश्वास रखना उसका प्रथम कर्त्तव्य था–"ला इलाहा इल्लिल्लाह मुहम्मद रसूल अल्लाह्।" इसमें उसे कोई स्वतंत्रता नहीं थी और मुसलमान बने रहने के लिये उसे इन सब निश्चित आदेशों का पालन करना आवश्यक था। समाज और राजनीति इस व्यवस्था में गौण और धर्म के अधीन थे। इमाम या खलीफा इस्लाम का सर्वोच्च पदाधिकारी होता था और वैधानिक

दृष्टि से वही सारे इस्लामिक विश्व का सांसारिक और धार्मिक नेता और गुरु था। उसका ध्येय इस्लाम का प्रकाश सारे संसार में फैलाना था अर्थात् "दारुल हर्ब" (नास्तिकों के संसार) को "दारुल-इस्लाम" (इस्लाम के संसार) में बदल देना था। इसके लिये मुल्ला बल प्रयोग किए जाने की छूटपट्टी देते थे।[1] सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जन्मा इस्लाम धर्म तलवार के बल पर १०० वर्ष से कम समय में ही मिश्र और ईरान जैसे प्राचीन प्रदेशों में फैल गया और धीरे-धीरे उसने वहाँ की प्राचीन संस्कृतियों को समूल नष्ट कर दिया। पश्चिम में स्पेन तक और पूर्व में भारत तक यह धर्म निरन्तर फैलता चला गया।

दिल्ली सल्तनत की स्थापना के पश्चात् इस प्रकार परस्पर उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों की तरह पृथक् दो बड़ी धार्मिक व्यवस्थाओं का संघर्ष प्रारम्भ हुआ। यह बड़े रहस्य की बात है कि लगभग ५०० वर्ष भयंकर विभीषिकाओं के साथ चलते रहने पर भी यह सांस्कृतिक युद्ध अनिर्णीत रहा। न तो हिन्दू-धर्म शक और हूणों की तरह इन विजेताओं को आत्मसात् कर सका और न ये विजेता ही मिश्र और ईरान की तरह यहां की प्राचीन संस्कृति को नष्ट करने में सफल हुए। बहुत-से उत्थान पतन हुए। राजनीतिक सत्ता अलबरी तुर्क, खिलजी, तुग़लक, लोदी, सूर और उनके पश्चात् मुग़लों के हाथ आई। किन्तु धार्मिक विद्वेष और घृणा ज्यों की त्यों बनी रही।

बहुत-से इतिहासकारों ने जब मध्यकालीन सांस्कृतिक संघर्ष का मूल्याँकन किया तो या तो संस्कारगत विद्वेष के कारण या पक्षपात की भावना के वशीभूत इस युग की कलात्मक उपलब्धियों पर समुचित विचार नहीं किया। मध्यकाल के विध्वंसात्मक इतिहास के नीचे उसका सृजनात्मक पक्ष दब गया। युद्धों, जज़िया और अन्य अपमानजनक करों, मन्दिरों को तोड़े जाने की घटनाओं, षड्यन्त्रों और हत्याओं से व्याप्त मध्यकाल को अधिकांशतः अन्धकारमय युग कह दिया गया। इस अवमूल्यन से बहुत-सी भ्रान्तियां पैदा हो गईं।

इस युग का अपना एक रोचक इतिहास भी है। बहुत-सी सृजनात्मक प्रेरणाएँ मध्यकालीन भारत में आई और उन्होंने देश की कला-परम्पराओं को झकोर दिया। उनके शिथिल हुए अवयवों को पुनर्जीवन मिला और बिना किसी विद्वेष के उन विजेताओं के आश्रय में ही वे विकास की नयी दिशा की ओर चल निकलीं। यों भारतीय कलाएँ, अनवरत, मध्यकाल की विभीषिकाओं में भी पलती रहीं। यह युग भारतीय संस्कृति के लिये उतना विनाशकारी नहीं था जितना आमतौर पर हम समझते हैं। इस युग का इन कलाओं—चित्र, संगीत और वास्तु—के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है जो इस काल की प्रमुख भावनाओं और धाराओं का इन कलाओं के सन्दर्भ में पर्यवेक्षण करने से स्पष्ट हो जाता है।

---

१. हज़रत मुहम्मद ने कुरान (सूरा–६ आयत–२६) में उन लोगों के विरुद्ध जिहाद का आदेश दिया जो ईश्वर और इस्लाम में विश्वास नहीं करते थे। यह आदेश अरब देश की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर दिया गया था वास्तव में हज़रत मुहम्मद का उद्देश्य बलपूर्वक किसी धर्म को थोपना नहीं था। कुरान के सूरा–२ आयत–२५६ में उन्होंने स्पष्ट कहा कि धर्म के मामले में कोई बल-प्रयोग नहीं होना चाहिये।

१

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय चित्रकला की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। चित्रकला संबंधी उल्लेख उपनिषदों में मिलते हैं। बौद्ध ग्रन्थ विनयपिटक में जो तीसरी-चौथी शताब्दी ईसा पूर्व पाली में लिखा गया, राजा प्रसेनजित के चित्रागार का वर्णन है। महाउम्मग जातक में गंगा पर बने महाउम्मग महल के चित्रों का उल्लेख है। महाभारत और रामायण काल में भी महलों और मन्दिरों में चित्र बनाए जाते थे। कौटिल्य भी चित्रकला से भलीभाँति परिचित थे और उन्होंने अपने अर्थशास्त्र में विभिन्न चित्रविधियों का उल्लेख किया है। पुराणों में ऐसी चित्र-विधाओं का विस्तृत वर्णन है। विशेषकर विष्णु-धर्मोत्तर पुराण के चित्र-सूत्र में चित्रकला का विशद् विवेचन किया गया है। शिल्पशास्त्रों में वास्तुकला और प्रतिमाविज्ञान के साथ-साथ ही चित्रकला का वर्णन किया जाता था।

संस्कृत साहित्य में चित्रकला सम्बन्धी बड़े रोचक उद्धरण मिलते हैं। कालिदास ने अभिज्ञान-शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीयम, कुमारसम्भव, मेघदूत आदि लगभग अपने सभी ग्रन्थों में चित्रशालाओं का वर्णन किया है। बाण की कादम्बनी और हर्षचरित के प्रत्येक महल में भित्ति-चित्रों से अलंकरण का वर्णन मिलता है—

"आलेख्य गृहैरिव बहुवर्णा चित्रपत्र शकुनिशत संशोभितैः"

श्री हर्ष के नैषध-चरित में चित्रकला को यही महत्त्व दिया गया है। भवभूति तीनों प्रकार के चित्रों का वर्णन करते हैं-पट्ट, पट् और कुड्य (भित्ति)। वास्तव में सौन्दर्यानुभूति के क्षेत्र में चित्रकला को अन्य शिल्पों से उत्तम समझा जाता था—

"चित्रं हि सर्व शिल्पानां मुखं लोकस्य च प्रियम्"

वात्सायन ने अपने कामसूत्र में चित्रकला के छः अंगों का वर्णन किया है :—

१. रूपभेद
२. प्रमाणम्
३. भाव
४. लावण्य-योजनम्
५. सादृश्यम्
६. वर्णिका-भंग

चित्र-सिद्धान्तों के इस सूक्ष्म विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में चित्रकला की अत्यधिक प्रगति हो गई थी और इस कला का विधिवत् शास्त्रीयकरण हो गया था। भारतीय चित्रकार वर्तना अर्थात् प्रकाश और छाया के सिद्धान्त से भी भलीभाँति परिचित था। इसका वर्णन ११वीं

शताब्दी में राजा भोज ने अपने समरांगण-सूत्रधार में किया है। भारतीय चित्रकार रूपरेखाएं खींचने और आकृति बनाने में सिद्धहस्त था और प्रमाण क्षय और वृद्धि के अन्य सिद्धान्तों की बारीकियां भी वह खूब समझता था।

भारतीय चित्रकला का सर्वोन्मुख विकास अजन्ता के भित्ति-चित्रों में परिलक्षित हुआ है। अजन्ता में कुल २९ गुफाएं हैं जिनमें मूल रूप से १६ में चित्र बनाए गए थे। अब केवल ६ गुफाओं में चित्र शेष रह गए हैं। ईसा की प्रथम शताब्दी से ७वीं शताब्दी तक अजन्ता में चित्र बनाए गए। पहली और दूसरी गुफाओं में ६२७-२८ ई० के आसपास चित्र बने। ये चित्र अत्यन्त दक्ष आचार्यों द्वारा बनाए गए हैं। इनमें अंग-विन्यास, मुख-मुद्रा, भावभंगी और अंग-प्रत्यंगों की सुन्दरता, नाना प्रकार के केशपाश, वस्त्राभरण आदि तत्त्वों को बड़ी सुन्दरता से चित्रित किया गया है और वे दर्शक की सौन्दर्यानुभूति पर स्थाई प्रभाव अंकित करते हैं। पशु-पक्षी, वृक्ष, तडाग और कमल आदि के चित्र भी बड़ी निपुणता से बनाए गए हैं। सुन्दर रंगों का प्रयोग किया गया है और चित्र में उनका मिश्रण बड़ा सुरुचिपूर्ण है। चित्रण इतना प्रशस्त और नियमित है कि प्रकृति और सौन्दर्य की आत्मा से साक्षात्कार कर लेने वाले कलाकार के अतिरिक्त कोई दूसरा उन्हें अंकित नहीं कर सकता।

भारतीय चित्रकला पाश्चात्य चित्रकला की तरह रूप-प्रधान न होकर भावप्रधान है। आन्तरिक और मानसिक भावों को प्रदर्शित करने में भारतीय कलाकार प्रवीण था। अजन्ता के कुछ चित्र इतने भावपूर्ण हैं कि उनमें चित्रित स्त्री-पुरुषों की मानसिक दशा का प्रत्यक्ष दिग्दर्शन होता है। वे कैमरे से खिंची हुई फोटो के समान सही अनुकृति हैं, किन्तु निर्जीव नहीं हैं, उनमें रक्त प्रवाहित होता है और वे जीवित-सी लगती हैं। उनकी मुद्राओं में गति है और चेहरों पर भाव अंकित हैं।

अजन्ता में भारतीय चित्रकला का चरमोत्कर्ष अंकित है। इसके पश्चात् बदली हुई परिस्थितियों के कारण कला का पतन होना आरंभ हो गया। एलोरा में इस क्रमिक ह्रास के समुचित प्रमाण मिलते हैं। वहाँ चित्रों में न तो वह कमनीयता है और न भाव-व्यंजना की वह अद्भुत क्षमता ही। आकृतियों की नाक आवश्यकता से कुछ अधिक लम्बी होती जाती है और परली निकली हुई आँख का मूलरूपेण आरंभ हो जाता है। इनकी रेखाओं में कोणात्मक प्रवृत्तियां भी विद्यमान हैं। पुरुषों के परले वक्ष को आवश्यकता से अधिक गोल करके आगे बढ़ा दिया जाता है। ये सभी तत्त्व उस मध्यकालीन भारतीय चित्रकला-शैली के सूचक हैं जिसे भूल से जैन या गुजरात शैली कहा जाता है, लेकिन वास्तव में इसे "अपभ्रंश-शैली" के नाम से अभिहित करना अधिक उपयुक्त होगा।

२

अपभ्रंश - शैली

यह शैली भारत में ११वीं से १६वीं शताब्दी तक अर्थात् लगभग सम्पूर्ण सल्तनत काल में प्रचलित रही। इस शैली के कुछ भित्ति-चित्र भी मिले हैं किन्तु वे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। मुख्यतः ये चित्र जैन-धर्म संबंधी पोथियों (पाण्डुलिपियों) में बीच-बीच में छोड़े हुए चौकोर स्थानों में बने हुए मिलते हैं। इनमें कपड़े के गुड्डे जैसी आकृतियाँ हैं जो प्रायः सवाचश्म हैं। परली आँख बाहर निकली हुई अधर में लटकी रहती है। नाक नुकीली और आवश्यकता से अधिक लम्बी होती है। ये आकृतियाँ निर्जीव और बेडौल होती हैं। जैसे श्वेताम्बर जैन मूर्तियों में शीशे की आँखें लगा दी जाती हैं वैसा ही आलेखन इन चित्रों में किया गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि इन आकृतियों की आँखें शीशे की हैं और उन्हें चिपका दिया गया है। अंग-प्रत्यंगों का आलेखन भी स्वाभाविक नहीं है। पुरुषों का परला वक्ष गोल और ऐसा उठा हुआ बनाया जाता है जैसे स्त्रियों के स्तन हों, पेट कृश और पिचका हुआ, हाथों की उँगलियां ऐसी जड़ जैसे मानों कपड़े की बत्तियाँ हों। ये आकृतियाँ प्रसंगानुसार तो अवश्य बनाई जाती थीं किन्तु इनमें भावों का सर्वथा अभाव रहता था।

इन चित्रों में पीले और लाल रंगों का प्रयोग अधिक हुआ है। रंगों को गहरा-गहरा लगाया गया है। पृष्ठभूमि आकृतियों के ऊपर चढ़ जाती है और वर्तना, क्षय-वृद्धि आदि का कोई ध्यान नहीं रखा गया है। पेड़ों का अंकन गुलदस्ते जैसा किया गया है। पशु-पक्षी कागज़ के खिलौने या कपड़े के गुड्डे जैसे प्रतीत होते हैं। एक ही चित्र में कई-कई दृश्य अलग-अलग दिखाए गए हैं जो बड़े बेमेल और असंगत लगते हैं। ये प्राचीन नागर-शैली का अपभ्रंश स्वरूप हैं और इसलिए इसे जैन या गुजरात जैसे किसी धर्म विशेष या किसी प्रान्तीय परिभाषा में न बांधकर, 'अपभ्रंश-शैली' का नाम दिया गया है।

गुजरात के पाटन नगर से भगवती सूत्र की एक प्रति १०६२ ई० की प्राप्त हुई है। इसमें केवल अलंकरण किया गया है, चित्र नहीं है। अनुमान है कि पोथियों को चित्रित करने की परंपरा इसके पश्चात् आरंभ हुई। सबसे पहली चित्रित कृति ताड़-पत्र पर लिखित 'निशीथ-चूर्णि' नामक पाण्डुलिपि है जो सिद्धराज जयसिंह के राज्यकाल में ११०० ई० में लिखी गई थी और अब पाटन के जैन-भण्डार में सुरक्षित है। इसमें बेलबूटे और कुछ पशु-आकृतियाँ हैं। १३वीं शताब्दी में देवी-देवताओं के चित्रण का बाहुल्य हो गया। अब तक ये पोथियाँ ताड़-पत्र की होती थीं। १४वीं शताब्दी से कागज़ का प्रयोग

होने लगा। अपभ्रंश के सबसे सप्राण उदाहरण कागज़ की पोथियों से मिलते हैं। गुजरात के अतिरिक्त माण्डू और जौनपुर इस शैली के अन्य प्रमुख केन्द्र थे। इस शैली में धीरे-धीरे आँखों को बुरी लगने वाली जड़ता कम हो जाती है और आकृतियाँ कुछ गतिमान प्रतीत होने लगती हैं। उदाहरण के लिए, हाथी का पाँव उठा कर चलना इस शैली के विकास को सूचित करता है। फिर भी अजन्ता का लालित्य और सौन्दर्य इन चित्रों में नहीं है।

११०० से १४०० ई० के मध्य जो चित्रित ताड़पत्र तथा पाण्डुलिपियाँ मिलती हैं, उनमें 'अंगसूत्र', 'कथासरित्सागर', 'त्रिषष्ठिश्लाका- पुरुष- चरित', 'श्री नेमीनाथ चरित', 'श्रावक-प्रतिक्रमण चूर्णि' आदि मुख्य हैं। १४०० से १५०० ई० के काल में जो पाण्डुलिपियाँ चित्रित की गई हैं उनमें 'कल्पसूत्र' 'कालकाचार्य कथा' और 'सिद्धहैम' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

गुजरात में प्राप्त सभी चित्रित कृतियाँ जैन धर्म से संबंधित हैं। कल्पसूत्र महावीर और अन्य जैन तीर्थंकरों की जीवन-कथा से संबंधित हैं और प्रसंगानुसार ऐसे ही इसमें चित्र हैं। कल्पसूत्र की एक चित्रित प्रति १२३७ ई० की ताड़पत्र पर भी प्राप्त हुई है। यह पाटन के भण्डार में है। इन सबमें ध्यान देने की बात यह है कि पृष्ठ के कथानक से चित्र का अधिक संबंध नहीं होता है। लिपिक खाली स्थान (आलेख्य स्थान) छोड़कर आगे बढ़ जाता है और उसमें बाद में चित्रकार चित्र बनाता है।

यह स्मरणीय है कि कल्पसूत्र की प्रतियाँ विशुद्ध धार्मिक भावना से प्रेरित होकर बनाई जाती थीं। धनवान लोग इन्हें बनवाकर जैन साधुओं को समर्पित कर देते थे। इस कार्य को बड़ा पुण्यमय समझा जाता था। वे लोग इन्हें सुरक्षित रखते थे। वर्ष में एक बार पर्यूषण के अवसर पर इन प्रतियों को निकालकर श्रोताओं को सुनाया जाता था और इनके चित्र दिखाए जाते थे। यही कारण है कि इनकी रचना परम्परागत ढंग से स्थापित रूढ़ियों के आधार पर होती रही। कालकाचार्य-कथा जैसे ग्रन्थों के चित्रों में यद्यपि तैमूरी वेषभूषा का प्रयोग १४वीं शताब्दी में होने लगा तथापि जैन विषयों में वही नुकीली नाक, अधर में झूलती परली आँख और नुकीली दुहैरी ठुड्डी काफी देर तक दिखाई जाती रही।

लिखने और चित्र बनाने के लिए कागज़ का प्रयोग आरंभ होने पर चित्रित पाण्डुलिपियों की शैली में एक नए युग का सूत्रपात हुआ। कल्पसूत्र और कालकाचार्य कथा की १५वीं और १६वीं शताब्दी में अनेकों प्रतियाँ बनाई गईं (चित्र-१)। हिन्दी में भी कामशास्त्र पर अनेक चित्रित पाण्डुलिपियाँ बनीं जैसे 'रति-रहस्य'।

इस शैली के ही अंतर्गत चित्रित 'बसन्त-विलास' नामक एक कृति मिली है। इसमें कालिदास के ऋतु-संहार की शैली पर बसन्त के सौन्दर्य का कविता में वर्णन है और तदनुरूप चित्र बनाए गए हैं। कुल ७९ चित्र हैं। ये अन्य धार्मिक कृतियों जैसे ही हैं। बसन्त-विलास की रचना १४५१ ई० में हुई। एक अन्य पटचित्र १४३३ ई० का पाटन से प्राप्त हुआ है। यह तीस फीट लम्बा और ३२ इंच चौड़ा है। इसमें जैन तीर्थों के चित्र हैं। यात्रियों के चढ़ने-उतरने, मुनियों के दृश्य आदि इसके सभी विषय धार्मिक हैं (चित्र-२)।

ईरानी प्रेरणा

इस काल में एक बड़ा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन और होता है। ११९२ में तराइन के द्वितीय युद्ध के परिणामस्वरूप दिल्ली सल्तनत की स्थापना हुई। मुसलमान अपने साथ कुछ नए-नए तत्त्व लाए और धीरे-धीरे देशी कलाकारों ने उन प्रेरणाओं को स्वीकार करना आरंभ किया। १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही गुजरात का प्रदेश दिल्ली के अधीन हो गया। इससे सांस्कृतिक आदान-प्रदान का मार्ग खुल गया। १४वीं और १५वीं शताब्दी की अपभ्रंश शैली के चित्रों में ईरानी प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिए अहमदाबाद से प्राप्त कल्पसूत्र की एक प्रति में आकृतियाँ ईरानी शैली से प्रभावित हैं। वस्त्रविन्यास और साजसज्जा भी ईरानी है। ईरानी बेल-बूटों का प्रयोग किया है। अहमदाबाद से प्राप्त १५वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रचित 'कल्पसूत्र' की यह प्रति अपभ्रंश

शैली की सबसे उत्कृष्ट कृति मानी जाती है। इसके हाशियों में सुन्दर ढंग से अंकित राग-रागिनियाँ, भिन्न-भिन्न नृत्यों और भाव-भंगिमाओं के चित्र बड़े प्रभावशाली हैं। इनका आलेखन सजीव और भाव-पूर्ण है। चुने हुए अलंकारों का प्रयोग सुरुचिपूर्ण ढंग से किया गया है। नई संस्कृति के संसर्ग का काफी प्रभाव इन चित्रों पर परिलक्षित होता है। कालिकाचार्य-कथा के चित्रणों में भी यही प्रभाव देखने को मिलता है। मध्यकाल के इस चरण में कला, विकास की एक नई दिशा की ओर उन्मुख हो गई। नए युग ने कलाकारों को नई प्रेरणा और कला को नया जीवन प्रदान किया।

१६वीं शताब्दी में इस शैली में सौन्दर्य और सजीवता आ जाती है। लगभग १५२५ ई० में कृत अवधी 'लौर-चन्दा' काव्य के उपलब्ध कुछ चित्रित पृष्ठों में इस शैली का क्रमिक विकास स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है (चित्र-३)। 'लौर चन्दा' हिन्दी-अवधी प्रेम कथाओं में सबसे अधिक पुराना ग्रंथ है। इसकी रचना १३७० में मुल्ला दाउद ने 'चन्दायन' नाम से की थी। बदायूनी के समय में यह काव्य अधिक प्रचलित था। अपने इतिहास-ग्रंथ 'मुन्ताखाबू-तवारीख' में बदायूनी लिखता है कि चन्दायन को मुल्ला दाउद ने खान-ए-जहान मकबूल (द्वितीय) के समय में बनाया। इसमें लौरिक (प्रेमी) और चांद (प्रेमिका) के प्रेम की कथा है जो बड़ी रसभीनी है और गाकर सुनाई जाती है। इसकी प्रतियाँ बाद में चित्रित की गईं। अवधी को फारसी लिपि में लिखा गया है। एक प्रति के कुछ चित्रित पृष्ठ बनारस के भारत कला भवन में हैं। अन्य प्रतियाँ लाहौर, चण्डीगढ़ आदि के संग्रहालयों में हैं। जबकि लाहौर संग्रहालय की प्रति के चित्र राजस्थानी शैली के हैं, और भारत कला भवन के चित्र अपभ्रंश शैली के हैं। इनमें आकृतियाँ गतिमान हैं। आँखें शीशे के मूर्तिमान नेत्रों जैसी नहीं वरन् सजीव हैं। अतिशय अलंकरण का भी इन चित्रों में अभाव है। विषय को भावपूर्ण ढंग से चित्र द्वारा प्रस्तुत करने का चित्रकार ने प्रयत्न किया है (चित्र-४)। अवधी के इन चित्रित पृष्ठों से भी यह सिद्ध हो जाता है कि अपभ्रंश-शैली का प्रचलन केवल गुजरात, राजस्थान और मालवा तक ही सीमित नहीं था। सम्भवतः इसकी रचना जौनपुर में हुई जो मध्यकालीन संस्कृति का एक प्रमुख केन्द्र था और जहाँ देशी कलाकारों को संरक्षण और प्रोत्साहन मिलता था।

जौनपुर में १४६५ ई० में चित्रित कल्पसूत्र की एक प्रति मिली है। १४३९ में सुल्तान महमूदशाह खिलजी के राज्यकाल में रचित कल्पसूत्र की ही एक चित्रित प्रति माण्डू से प्राप्त हुई है (चित्र-५)। इन जैन कृतियों में ईरानी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कलाकार निश्चय ही भारतीय थे किन्तु वे ईरानी कला और उसके नक्काशीदार डिज़ाइनों से परिचित अवश्य रहे होंगे। माण्डू के 'कल्पसूत्र' की चित्र-शैली का ही विकसित रूप हमें माण्डू में ही रचित 'न्यामतनामा' में मिलता है।

मालवा के सुल्तान सांस्कृतिक कार्यों में बड़ी रुचि लेते थे और ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी राजधानी माण्डू पूर्व मुग़ल-काल में एक उत्कृष्ट सांस्कृतिक केन्द्र था। उनका विदेशी राजदरबारों से संपर्क था। १४६७ में महमूद खिलजी के यहां बाबर के पितामह मिर्जा अबू सईद का राजदूत जमालुद्दीन अस्तराबादी आया। इन संपर्कों के माध्यम से ईरान और माण्डू के मध्य चित्रकला का आदान-प्रदान होता था। माण्डू में चित्रित ग्रंथों में ईरानी-कला का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उदाहरण के लिए 'न्यामतनामा' नामक ग्रंथ का उल्लेख किया जा सकता है। पाक-शास्त्र का यह ग्रंथ ग़यासुद्दीन खिलजी (१४६९-१५०० ई०) के राज्यकाल में लिखा गया। यह फ़ारसी की नस्ख लिपि में है और इसकी लिखावट माण्डू से ही प्राप्त सादी के बोस्ताँ नामक ग्रंथ से काफी मिलती-जुलती है। इसमें ईरानी चित्रों जैसे प्राकृतिक और उद्यानों के दृश्य बनाए गए हैं। नक्काशी का महीन काम किया गया है (चित्र ६-७)। ईंटों के डिज़ाइन बनाए गए हैं। नस्खी लिपि का अलंकरण के दृष्टि-कोण से प्रयोग हुआ है।

राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में शेख सादी के 'बोस्ताँ' की एक सुन्दर चित्रित प्रति सुरक्षित है। यह माण्डू के सुल्तान नासिर शाह खिलजी (१५०१-१२ ई०) के समय की है। इसमें ४३ चित्र हैं जिनमें

विभिन्न कलाकारों ने काम किया है। इन सभी चित्रों पर ईरान के विख्यात चित्रकार और हिरात शैली के जन्मदाता बिहजाद की कला की छाप है। इमारतों और प्राकृतिक दृष्यों के चित्रण और नक्काशी जैसे अलंकरण में यह प्रभाव स्पष्ट दृष्टि-गोचर होता है। ईरानी चित्रकला में, जैसे चीनी बादल दिखाए जाते थे, वैसे इनमें हैं (चित्र-८)। यह कुछ आश्चर्य की बात है कि इन चित्रों में भारतीय प्रभाव बहुत कम है। चेहरों पर अभिव्यक्ति का भी अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत से चित्रकार ईरान से भागकर भारत आए और उन्हें माण्डू के दरबार में शरण मिली जहाँ उन्होंने इन चित्रित ग्रन्थों की रचना की। यह सम्भव हो सकता है क्योंकि १५०७ ई· में शैबानी खां उज़बेक ने हिरात पर अधिकार कर लिया था और आसपास के प्रदेश में मारकाट मचादी थी। यह शैबानी खां वही है जिससे बाबर जैसा शेर दिल भी डरता था और जिसने बाबर जैसे दृढ़प्रतिज्ञ और साहसी व्यक्ति को भी मध्य एशिया से बाहर खदेड़ दिया था।

इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन भारतीय चित्रकला में ईरानी प्रभाव मुग़लों से पहले आ चुका था। विशेष रूप से गुजरात, राजस्थान और मालवा आदि प्रदेशों में चित्रित ग्रन्थों में यह प्रभाव धीरे–धीरे १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से जमता जा रहा था। इन प्रान्तीय कला-कारों और उनकी शैलियों का नवोदित मुग़ल चित्र-कला पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

पाल-शैली

वैसे कश्मीर में भी एक चित्र-शैली प्रचलित थी जिसके महत्त्वपूर्ण उल्लेख मध्यकालीन साहित्य में मिलते हैं। किन्तु इस शैली के अन्तर्गत रचित चित्र अभी उपलब्ध नहीं हुए हैं। कश्मीर निःसंदेह चित्र-कला का एक अत्यन्त प्राचीन केन्द्र था। अतः इस प्रदेश में धीरे-धीरे अपनी एक विशिष्ट शैली का विकसित हो जाना स्वाभाविक था जो मूल से भिन्न तो नहीं रही होगी किन्तु जिसमें प्रादेशिक विशेष-ताएं अवश्य होंगी। अकबर के चित्रकारों में अनेकों कश्मीरी चित्रकारों का उल्लेख मिलता है और ऐसा लगता है कि यहां निरन्तर चित्रकला का विकास होता रहा और चित्रकार आश्रय पाते रहे। किन्तु चित्रों के अभाव में शैली के विशिष्ट तत्त्वों का विवे-चन संभव नहीं हुआ है।

चित्रकला की एक अन्य शैली बिहार, बंगाल और नेपाल में मध्यकाल में प्रचलित थी। पाल राजाओं के संरक्षण में पलने के कारण इसे पाल-शैली का नाम दिया गया है। यह शैली अजन्ता की परम्परा से ही निकली और अपभ्रंश के विपरीत इसमें थोड़ा बहुत मूल लालित्य बना ही रहा। इस शैली के अन्तर्गत चित्रित पोथियाँ ११वीं शताब्दी के आरंभ से मिलती हैं। अधिकांशतः ये बुद्धधर्म संबंधी "अष्ट साहस्रिक प्रज्ञापारमिता" की पोथियाँ हैं। यह महायान के अनुसार आठ हजार पंक्तियों का ग्रन्थ था जिसमें बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए ज्ञान की बातें कही गई थीं। स्पष्टतः ही इन दार्शनिक विषयों के चित्र नहीं बनाए जा सकते थे और इन पोथियों में बने चित्रों का ग्रन्थ के विषयों से कोई संबंध नहीं था। थोड़ा बहुत साम्य बनाए रखने के लिए इनमें महायान बौद्ध देवी-देवताओं के, बुद्ध के जीवन संबंधी और बौद्ध तीर्थ-स्थलों के चित्र बनाए गए हैं। काला-न्तर में प्रज्ञापारमिता और तारातान्त्रिक आदि देवियों और मंजुश्री आदि देवताओं के चित्र बनने लगे।

इस शैली की सबसे प्राचीन प्रति ९८० ई० की है। कुछ नेपाल में बनी प्रतियाँ मिली हैं। १०१५ ई० की एक प्रति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ऐसी कृतियाँ बिहार और बंगाल में १३वीं शताब्दी के बाद नहीं मिलतीं और परवर्ती चित्रित ग्रन्थों में अपभ्रंश का प्रभाव अधिक हो जाता है। किन्तु नेपाल में यह शैली इसके बाद भी जीवित रहती है। वहाँ पोथियाँ ही नहीं पट-चित्र भी इस शैली में बनते थे। १५वीं शताब्दी के बाद वहाँ भी इनका प्रचलन घट गया। तिब्बत में इसके बाद भी इस शैली का काफी प्रभाव रहा।

पाल-शैली के अन्तर्गत चित्रित पोथियाँ तालपत्रों में हैं। लम्बे-लम्बे तालपत्र के एक से टुकड़े काटकर उनके बीच में चित्र के लिए स्थान छोड़कर दोनों ओर ग्रन्थ लिख दिया जाता था। नागरी-लिपि में बड़े सुन्दर अक्षरों में यह लिखाई की जाती थी। बीच के खाली स्थान में सुरुचिपूर्ण रंगों में चित्र

बनाए जाते थे। सुन्दर और सुडौल आकृतियाँ बनाई जाती थीं जिनमें बड़े आकर्षक ढंग से आँखों और अन्य अंग-प्रत्यंगों का आलेखन होता था। ये चित्र बड़े सजीव हैं और अजन्ता की कला का स्मरण कराते हैं। तत्कालीन अपभ्रंश के चित्रों से ये कहीं उत्कृष्ट हैं। एक ही परम्परा की दो विकासधाराओं के इस स्पष्ट अन्तर पर कुछ आश्चर्य होता है। आगे चलकर पाल-शैली का पतन हो जाता है, किन्तु अपभ्रंश-शैली, ईरानी-शैली से प्रेरणा लेकर अपना कलेवर बदल लेती है और परिणामस्वरूप राजस्थानी-शैली का जन्म होता है।

कला-संरक्षण

कामशास्त्र संबंधी कुछ कृतियों को छोड़कर लगभग ये सभी चित्रित ग्रन्थ धार्मिक होते थे। इनमें या तो जैन विषय होते थे, जैसे अपभ्रंश-शैली में या बौद्ध विषय जैसे पाल-शैली में। अभी लौकिक कला का विकास नहीं हुआ था। पाल राजाओं ने चित्रकला को कुछ संरक्षण दिया किन्तु अधिकांशतः यह सेठ लोगों की धार्मिक भावना से प्रेरणा लेती रही। गुजरात में तो चित्रित ग्रन्थों की अपभ्रंश परम्परा को लगभग सम्पूर्ण संरक्षण धनाढ्य जैन लोगों ने ही दिया। वैसे प्रान्तीय राजाओं के चित्रकला को प्रोत्साहन देने के उल्लेख मिलते हैं। जौनपुर और मालवा के शासक चित्रकारों को अपने यहाँ नियुक्त करते थे, किन्तु दिल्ली के सुल्तानों ने इस दिशा में शायद कभी कोई रचनात्मक कार्य नहीं किया। हसन निज़ामी, मीन्हाज या ज़ियाउद्दीन बर्नी इस संबंध में मौन हैं। फिरोज़ तुग़लक का इतिहासकार अफीफ़ कुछ और ही लिखता है। वह कहता है कि सुल्तान ने आवास के महलों में जीवधारियों के चित्र बनाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया और पहले बने हुए ऐसे चित्रों पर सफेदी पुतवा दी। उसकी धारणा थी कि यह धर्मविरुद्ध है। उसने आदेश दिया कि केवल उद्यानों के दृश्य ही बनाए जाने चाहिए। इस प्रकार दिल्ली सल्तनत के अन्तर्गत चित्रकला को संरक्षण देने का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। मध्यकाल में सबसे पहले अकबर ने ही चित्रकला के क्षेत्र में नए युग का सूत्रपात किया।

३

राजस्थानी-शैली

मध्यकालीन भारत में १५वीं शताब्दी सांस्कृतिक पुनरुत्थान का युग था । संगीत, वास्तु, धर्म, साहित्य ग्रादि सभी क्षेत्रों में नवजीवन की लहर दौड़ गई थी ग्रौर बहुमुखी उन्नति ग्रारंभ हो गई थी। चित्रकला में भी नवजागरण का युग १५वीं शताब्दी से ही प्रारंभ हुग्रा। ईरानी प्रेरणा के संसर्ग से भारतीय कलाकारों को ग्रपनी कला को परिमार्जित ग्रौर परिष्कृत करने का ग्रवसर मिला ग्रौर घिसीपिटी लकीरों का पथ त्यागकर कला नए-नए प्रयोगों की दिशा में चल निकली। ग्रपभ्रंश की परम्परा में समयानुकूल परिवर्तन हुए ग्रौर उन परिवर्तनों के फलस्वरूप एक नयी शैली का विकास हुग्रा जिसे राजस्थानी या राजपूत-शैली कहते हैं।

वैष्णववाद का उदय इस दिशा में क्रान्तिकारी चरण सिद्ध हुग्रा । इसने तान्त्रिकों की योग-क्रियाग्रों ग्रौर दार्शनिकों की रहस्यमय विधाग्रों के स्थान पर राधा ग्रौर कृष्ण के भक्तिमय प्रेम की परम्परा स्थापित की ग्रौर भक्ति को ही मोक्ष का साधन बताया । सहज सम्प्रदाय के चण्डीदास (१४वीं शताब्दी) ने रसभीने प्रेम को ग्रधिक महत्त्व दिया। १५वीं शताब्दी में मैथिल कवि विद्यापति ने भी यही रीति ग्रपनाई। इनसे पहले भी १२वीं शताब्दी में बंगाल के लक्ष्मणसेन के दरबारी कवि जयदेव ने 'गीत-गोविन्द' में ग्रौर बिल्व-मंगल ने 'बालगोपाल-स्तुति' में यही बात ली थी। १०वीं शताब्दी के भागवत-पुराण में भी कृष्ण ग्रौर ब्रज की गोपिकाग्रों के प्रेम की चर्चा है। यह कृष्ण प्रेम-गाथा वैष्णववाद की ग्राधारशिला बन गया। वल्लभाचार्य ने राधा ग्रौर कृष्ण के पवित्र प्रेम को ही १६वीं शताब्दी में भक्ति के रूप में स्थापित किया ।

इस नए दृष्टिकोण ने धार्मिक क्षेत्र में ही नहीं, कला के क्षेत्र में भी उथल-पुथल मचा दी। ग्रबतक परम्परागत धार्मिक चित्र बनाए जाते थे जो रूढ़ियों से जकड़े हुए थे। कला इन कठिन बन्धनों से मुक्त होने के लिए कई शताब्दियों से तड़प रही थी। कलाकार जितनी स्वच्छन्दता से ग्रपने हृदय की सुन्दर-सुन्दर, कोमल ग्रनुभूतियों को व्यक्त करना चाहता है उसका कोई साधन उसे ग्रपभ्रंश के युग में नहीं मिलता था। वैष्णववाद के प्रचार के साथ-साथ भक्ति ग्रौर प्रेम की धाराएं जनजीवन में प्रमुख हो गई । वैष्णवों की भक्ति ग्रौर प्रेम की इन भावनाग्रों को प्रदर्शित करने के लिए चित्रकला के सिद्धान्तों ग्रौर विषयों में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। कृष्ण-भक्ति विषयक चित्र बनाने की एक नई परिपाटी चल पड़ी। प्रेम ग्रौर भक्ति के माध्यम से ग्रब चित्रकला में लौकिक विषयों का भी चित्रण सम्भव हो गया ग्रौर इससे चित्रकला की बहुमुखी प्रगति के द्वार खुल गए। १४५१ ई० में ग्रहमदाबाद में रचित 'बसन्त-विलास' में सबसे पहली बार इस

दिशा में एक ठोस प्रयत्न किया गया। यहाँ चित्रकला प्राचीन धार्मिक रूढ़ियां त्याग कर खुली हवा में आ जाती है और उसके लौकिक पक्ष के विकास का मार्ग खुल जाता है। बसन्त-विलास में प्रेम और बसन्त के सौन्दर्य का मुक्त चित्रण किया गया है।

इस प्रकार एक नई धारा का जन्म हुआ जिसमें न केवल वैष्णव विषयों का ही चित्रण होता था वरन् सर्वथा लौकिक विषय भी बनाए जाते थे। 'बसन्त-विलास' के अतिरिक्त विल्हण की 'चौर-पंचाशिका' और अन्य ग्रन्थों में धार्मिक अंश बिल्कुल नहीं हैं। यह उल्लेखनीय है कि मुल्ला दाउद की 'लौर चन्दा' और १५०६ में लिखी गई 'मृगावती' आदि ग्रन्थों की चित्रित प्रतियों के विषय भी लौकिक हैं। यों इन चित्रों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—भक्ति-चित्र–जिनमें कृष्णभक्ति सम्बन्धी वैष्णव विषयों का चित्रण होता था और रीति चित्र–जिनमें सर्वथा लौकिक विषय बनाए जाते थे। रीति-चित्र वास्तव में हिन्दी के रीति काव्य वर्णनों की मनोरम अनुकृति हैं। इनमें नायक-नायिका-भेद प्रमुख हैं। १६वीं शताब्दी के देशी चित्रकार इस प्रकार दो प्रकार के काव्यों के चित्र बनाते थे। एक भक्ति विषयों से सम्बन्धित और दूसरे नायक-नायिका भेद विषयों पर। इससे पूर्व के संस्कृत ग्रन्थ, जैसे, अमरूशतक, गीत-गोविन्द और रसमंजरी आदि का भी चित्रण अब नायक-नायिका-भेद चित्रों के अन्तर्गत किया गया। तत्कालीन धार्मिक भावना ने काव्य को और काव्य ने चित्रकला को इस प्रकार मूल रूप से प्रभावित किया। काव्य और चित्रकला का यह पारस्परिक सम्बन्ध विशेष रूप से द्रष्टव्य है क्योंकि दोनों ही मनुष्य की सौन्दर्यानुभूति से प्रेरित होते हैं।

केशवदास ने १५९१ में रसिक-प्रिया और १६०१ में कविप्रिया की रचना की। रसिकप्रिया में नायक-नायिका भेद वर्णन है। चित्रकारों ने रसिकप्रिया के बड़े व्यापक पैमाने पर चित्र बनाए और चित्र-क्षेत्र में यह ग्रन्थ बड़ा प्रचलित हुआ (चित्र ९ और १०)। इसी प्रकार कविप्रिया जो रीतिकाव्य का एक महान् ग्रन्थ है, चित्रकारों के लिए भी एक अद्भुत प्रेरणा स्रोत बन गया। केशव की रसिकप्रिया और कविप्रिया की शैली पर ब्रजभाषा में काव्य रचना होने लगी और चित्रकारों ने उन विषयों पर चित्र बनाने की एक परम्परा ही चला दी।

केशव ने काव्य में दो परिपाटियों को जन्म दिया। उन्होंने सोलह श्रृंगार एवं स्त्री अलंकरण के सोलह प्रसाधनों का वर्णन किया। चित्रकार इन सोलह श्रृंगारों को ध्यान में रखता था जिससे वह अपने चित्रों में स्त्रियों का अंकन शास्त्रोक्त एवं श्रेष्ठतम विधि से कर सके। दूसरे, केशव ने बारह-मासा-ऋतुओं के गीतों का प्रारंभ किया। ये लौकिक गीत बड़े प्रचलित हुए। ब्रजभाषा-काव्य के बारह-मासा विषयों ने देशी चित्रकारों को अत्यधिक आकर्षित किया। उन्होंने प्रेम भावना को नवीन ढंग से व्यक्त करने का माध्यम पा लिया। संगीत की प्रगति के साथ-साथ रागमाला के चित्र बनाए जाने लगे। यह विलक्षण बात है कि कलाकारों ने संगीत जैसी अदृश्य-कला के सिद्धान्तों को चित्रकला जैसी दृश्य-कला द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया।

१६वीं शताब्दी में इस परिवर्तन ने चित्रकला का रूप ही बदल दिया। वैष्णव चित्रों में अब जीवन का उल्लास और स्फूर्ति मिलती थी। उनमें अब रंगों का बोध ही नहीं, सौन्दर्यानुभूति भी होती थी। सूर-तुलसी के वात्सल्य वर्णन में जो लालित्य है वही बालकृष्ण की लीलाओं में रंगों द्वारा अंकित किया गया है। धीरे-धीरे यह शैली अपभ्रंश शैली को आत्मसात् कर लेती है। भारतीय लोक-चित्र-शैली मूलतः राजस्थानी-शैली रह जाती है और स्वतन्त्र रूप से विकसित होती रहती है।

'बालगोपाल-स्तुति' की प्रतियों में यह परिवर्तन स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है (चित्र-११)। अंग-विन्यास, वेषभूषा, प्रकृति-चित्रण आदि सभी विधान और आलेखन अपभ्रंश-शैली से भिन्न हैं और एक नवीन विकास की ओर इंगित करते हैं। जहां अपभ्रंश के चित्र इकहरे काग़ज़ पर बने ग्रन्थ-चित्र हैं। राजस्थानी-शैली के अन्तर्गत मोटी वसलियों का प्रयोग किया गया है। अपभ्रंश की अधर में लटकी हुई परली आँख अस्वाभाविक और बुरी लगती थी। राजस्थानी-शैली में उसका प्रयोग नहीं हुआ है और

चेहरे एक चश्म हैं। दोनों शैलियों में रंगों का भी अतन्र है। अपभ्रंश में लाल-पीले और लाजवर्दी रंगों का अत्यन्त बाहुल्य से उपयोग होता था, राजस्थानी में अन्य चटकीले रंगों का भी प्रयोग किया गया है और इस शैली के चित्रों में लाल-पीले रंग प्रभावशाली नहीं रह गए हैं। स्पष्टतः ये परिवर्तन शैली के विकास की दिशा में महत्त्वपूर्ण चरण थे।

यह क्रान्तिकारी परिवर्तन राजस्थान, गुजरात और उनके समीपवर्ती प्रदेशों में हुए, जो अपभ्रंश-शैली के गढ़ थे और जहाँ बड़े-बड़े कलाकार चित्रित ग्रन्थों की रचना में संलग्न रहते थे। दिल्ली सल्तनत का प्रभाव भी इन्हीं प्रदेशों पर सबसे पहले और सबसे व्यापक हुआ। इस लाभकारी परिवर्तन का श्रेय भारतीय कलाकार के उदार दृष्टिकोण को है। बाहर से आने वाली प्रेरणाओं को वह विदेशी कहकर ठुकराता नहीं अपितु अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उनमें सुधार करके मुस्कराहट के साथ उन्हें स्वीकार करता है। इस विषय में उस पर कोई धार्मिक अंकुश नहीं है और वह अपनी कला का अपनी और अपने संरक्षक की रुचियों के अनुकूल विकास करने के लिए स्वतन्त्र है। शास्त्रीय मान-दण्डों को अवश्य वह ध्यान में रखता है किन्तु शास्त्रीय विधि-विधान सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों की विवेचना करके भी नई प्रेरणाओं को अंगीकार करने और कला का समयानुकूल विकास करने की उसकी स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करते। भारतीय कला इसीलिए प्राचीन रूढ़ियों पर आधारित होते हुए भी निरन्तर चेतन और विकासशील है।

राजस्थानी चित्रकला में ईरानी प्रेरणा के समाविष्ट होने के अतिरिक्त नए-नए तत्त्व थे। यह कला रूढ़िगत धार्मिक परम्पराओं से मुक्त है और इसमें वैष्णव भक्ति विषयक चित्रों के अतिरिक्त लौकिक विषय स्वच्छन्द रूप से प्रदर्शित किए गए हैं। यह कला मध्यकालीन साहित्य का प्रतिबिम्ब है और तत्कालीन धर्म, समाज और कला-क्षेत्र में व्याप्त प्रवृत्तियों का रंगों के माध्यम से परिचय कराती है। इसकी विचारधारा और दृष्टिकोण दोनों ही अपभ्रंश या उससे पहले की किसी भी चित्रकला से भिन्न हैं। मुग़ल चित्रकला जिसमें लगभग पूर्णतया लौकिक विषयों का चित्रण हुआ है, राजस्थानी-शैली की इसी विचारधारा और दृष्टिकोण से प्रेरित है। मध्यकालीन सांस्कृतिक पुनरुत्थान और सम्मिश्रित संस्कृति के विकास में भारतीय चित्रकला का यह परिवर्तन एक महत्त्व-पूर्ण सहयोग देता है।

राजस्थानी-शैली के चित्र महापुराण नामक एक दिगम्बर जैन ग्रन्थ की १५४७ ई० की प्रति में भी मिले हैं। इसमें लगभग ४५० चित्र हैं। ऐसे ही चित्र कुतुबन की मृगावती नामक अवधी काव्य की प्रति में हैं। तत्कालीन अन्य चित्रित ग्रन्थों में भी मुग़ल शैली के पूर्व लक्षण मिलते हैं। 'चौर पंचा-शिका' के चित्र उत्तम कोटि के हैं (चित्र–१२)। मनोदशाओं को विभिन्न उपादानों द्वारा कलाकार ने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। 'गीत-गोविन्द' की एक प्रति में उत्कृष्ट प्रकृति-चित्रण किया गया है (चित्र–१३)। इस काल के चित्रों में अपभ्रंश की जड़ और बेडौल आकृतियाँ नहीं हैं अपितु वे गतिमय, सुरुचिपूर्ण और उल्लासमय हैं।

भारतीय कला के प्रख्यात् विद्वान् आनन्द-कुमारास्वामी इस शैली को राजपूत-शैली का नाम देते हैं। १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से १६वीं शताब्दी के मध्य तक प्रचलित इस शैली के चित्रों को उन्होंने राजस्थानी और पहाड़ी दो वर्गों में बाँटा है। वह राजस्थानी का क्षेत्र राजपूताना और बुन्देल-खण्ड मानते हैं। पहाड़ी क्षेत्र में जम्मू, कांगड़ा, गढ़वाल आदि पंजाब और हिमालय के प्रदेश हैं। प्रत्येक वर्ग की फिर विभिन्न शाखाएं बन जाती हैं जो देशी राजाओं के संरक्षण में विकसित होती रहती हैं। राजस्थान में मेवाड़, जोधपुर, बीकानेर और बून्दी राजस्थानी-शैली की प्रमुख शाखाएं हैं। बुन्देलखण्ड में ओरछा और दतिया दो बड़े केन्द्र स्थापित हो जाते हैं। इन कलमों में रीति-चित्रों विशेषकर रागमाला चित्रों का बाहुल्य रहता है। पहाड़ी-शैलियों का विकास कुछ बाद में अधिकांशतः मुग़ल परम्परा के चित्रकारों के हाथों हुआ।

४

मुग़ल चित्र-कला

तैमूजिन ने, जो इतिहास में चंगेज खां के नाम से विख्यात् है, १२२० ई० में समरकन्द और राय पर अधिकार कर लिया। इससे ईरान और चीन के मध्य सम्पर्क स्थापित हो गया तथा संस्कृति और व्यापार के क्षेत्र में आदान-प्रदान होने लगा। चीन के सम्राट कुबला खां के छोटे भाई हलाकू ने १२५८ में बगदाद में लूटमार की और खलीफा की हत्या कर दी। ये सारे प्रदेश इलखानों के अधिकार में आ गए। १२९५ मे इलखान गज़न ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। यहां से ईरान में एक नए कलात्मक युग का सूत्रपात हुआ। इलखानों के यहां साम्राज्य के प्रत्येक भाग से कलाकार आकर रहते थे किन्तु चीनी कलाकारों को उनके यहां विशेष संरक्षण मिलता था। उनका ईरानी कलाओं पर व्यापक प्रभाव पड़ा। १४वीं शताब्दी के मध्य से ईरानी चित्रकला पर चीनी प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

तैमूरलंग के अभियानों के फलस्वरूप ईरान और चीन के मध्य सांस्कृतिक विनिमय की पुनरावृत्ति हुई। उसने राज्य-विस्तार ही नहीं किया बल्कि ललित कलाओं को भी प्रोत्साहन दिया। उसके और उसके वंशजों के संरक्षण में समरकन्द और हिरात में ग्रन्थ-चित्रकला का विकास हुआ। चीनी चित्रकला के तत्त्व धीरे-धीरे घुलमिल कर ईरानी कला के अंग बन गए। ईरानी चित्रकला ने इस प्रकार मूल प्रेरणा चीनी कला से ली।

तैमूर का पुत्र शाहरुख बड़ा कला-प्रेमी था और उसके दरबार में बड़े-बड़े कलाविद् संरक्षण पाते थे। धीरे-धीरे उसकी राजधानी हिरात में चित्रकला की एक नई शैली का जन्म हुआ जिसे हिरात-शैली कहते हैं। १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बिहज़ाद इस शैली का सबसे बड़ा चित्रकार हुआ। वह पहले हिरात में ही तैमूर के वंशज हुसैन मिर्ज़ा के दरबार में रहता था। फिर वह सफावी वंश के प्रथम सम्राट् शाह इस्माइल के यहां तब्रेज़ में रहने लगा। बिहज़ाद ने बड़ी ख्याति पाई और धीरे-धीरे वह ईरान का सर्वश्रेष्ठ चित्रकार माना जाने लगा।

रेखाओं में कोण, चित्रों में गति और आलंकारिकता ईरानी-शैली की मुख्य विशेषताएं हैं। उसमें अलंकरण पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता है और चित्र लगभग नक्काशी का एक उत्कृष्ट नमूना लगता है। इसमें सूक्ष्म चित्रण और कोमलता होती है। मुखाकृतियों और प्राकृतिक दृश्यों में चीनी प्रभाव रहता है।

भारत में मुग़ल वंश का संस्थापक बाबर मध्य एशिया का रहने वाला था। उसका ईरान से

बराबर सम्पर्क रहता था और वह वहां की सांस्कृतिक गतिविधियों से परिचित था। यद्यपि वह स्वयं चित्रकार नहीं था और न ही उसके दरबार में चित्रकारों के रहने का उल्लेख मिलता है फिर भी चित्रकला से उसे बड़ा प्रेम था। उसने अपनी आत्मकथा में ईरान के विख्यात कलाविद् बिहज़ाद के चित्रों की अत्यन्त मार्मिक समीक्षा की है जिससे यह अनुमान होता है कि वह तत्कालीन चित्र-शैलियों और चित्रकला की प्रवृत्तियों से भलीभाँति अवगत था।

उसके पुत्र हुमायूं का जीवन भी उसकी तरह ही कठिन संघर्षों में बीता, किन्तु हुमायूं युद्धों के बीच में कुछ न कुछ समय कला और संस्कृति के लिए अवश्य निकाल लेता था। ईरान में अपने प्रवासकाल में उसने वहाँ की चित्रकला और उसकी परम्पराओं का अध्ययन किया और वहाँ से वह दो निपुण कलाकार ख्वाजा अब्दुस्समद और मीर सैय्यद अली को अपने साथ भारत लेता आया, किन्तु यहाँ लौटते ही उसकी मृत्यु हो गई और किसी नवीन चित्र-शैली को वह जन्म नहीं दे सका। इस कार्य का श्रेय उसके पुत्र अकबर को मिलता है।

१५५६ ई० में अकबर का गद्दी पर बैठना सर्वथा नवीन युग के समारम्भ का सूचक है। अकबर स्वभाव से अत्यन्त उदार और कला-प्रेमी था। वह धार्मिक कट्टरता से मुक्त था। उसने हिन्दुओं पर जजिया आदि कर समाप्त कर दिए। उन्हें सम्पूर्ण धार्मिक और सामाजिक स्वतंत्रता दी और उनके लिए सरकारी नौकरियों के द्वार खोल दिए। देश की संस्कृति और कलाओं से अबतक अधिकांश सुल्तान विमुख रहते थे, अकबर ने इन कलाओं को अपनाकर एक नवीन युग का सूत्रपात किया। उसकी इस उदार नीति ने दोनों संस्कृतियों के समन्वय का मार्ग उन्मुक्त कर दिया।

स्थापत्य और संगीत के समान अकबर को चित्रकला में भी बड़ी रुचि थी। उसने गुजरात, राजस्थान, कश्मीर आदि प्रान्तों से देशो चित्रकार बुलाए और ईरान के इन दोनों उस्तादों ख्वाजा अब्दुस्समद और मीर सैय्यद अली के निर्देशन में उन्हें चित्र-साधना में लगा दिया। अपभ्रंश या राजस्थानी परंपरा में दीक्षित ये भारतीय कलाकार धीरे-धीरे ईरानी कलाधारा में प्रशिक्षित हुए। उन्होंने रेखा और रंग दोनों में कमाल प्राप्त कर लिया और ईरानी चित्र-विधि में पारंगत हो गए। उनके हाथों एक नवीन शैली का जन्म हुआ जिसे मुगल चित्रकला कहते हैं। इसमें प्रारंभ में ईरानी प्रभाव व्याप्त था, धीरे-धीरे ईरानी अलंकरण का स्थान भारतीय यथार्थवाद ने ले लिया। रंगों के विधान में भी भारतीयकरण किया गया। भारतीय विषय, वेषभूषा, प्रकृति और वातावरण मुक्तहस्त से दिखाए जाने लगे। ईरानी-कला से प्रेरित यह शैली धीरे-धीरे विशुद्ध भारतीय कला बन गई।

सम्राट् के चित्रकला प्रेम के सम्बन्ध में दरबारी इतिहासकार अबुलफज़ल ने आईन-ए-अकबरी में बड़े रोचक उद्धरण दिए हैं। वे लिखते हैं :—

"किसी वस्तु के सदृश्य अंकन करना तस्वीर कहलाता है। सम्राट् को वचपन से ही चित्र-कला में बड़ी रुचि है। वे इसे बड़ा प्रोत्साहन देते हैं क्योंकि यह अध्ययन और आमोद दोनों का ही उत्तम साधन है। उनकी छत्रछाया में चित्रकला ने बड़ी प्रगति की है और उनके बहुत से चित्रकार बड़े प्रसिद्ध हो गए हैं। सभी कलाकारों के चित्र हर सप्ताह दरोगाओं और लिपिकों के द्वारा सम्राट् के सामने रखे जाते हैं। सम्राट् चित्रों की कला-त्मकता के अनुकूल इनाम देते हैं या मासिक वेतन बढ़ा देते हैं। कलाकारों के प्रयोग की सामग्री में बड़ी उन्नति हुई है और उनके दाम निश्चित कर दिए गए हैं। रंगों के मिश्रण में विशेष सुधार किया गया है। चित्रों का अभूत-पूर्व अंकन हुआ है। अत्यन्त निपुण चित्रकार अब मुगल दरबार में रहते हैं और अत्यन्त सुन्दर चित्रों की जो बिहज़ाद के चित्रों से कम नहीं हैं रचना होती है। इनकी तुलना विश्व-प्रसिद्ध यूरोप के चित्रकारों के अद्भुत चित्रों से की जा सकती है। इन चित्रों की सूक्ष्मता, अंकन और सिद्धहस्त कलात्मकता का कोई

मुकाबला नहीं है। निर्जीव विषय भी जीवित से प्रतीत होते हैं। सौ से अधिक चित्रकार इस कला के उस्ताद हो गए हैं। प्रगतिशील कलाकारों की संख्या भी बहुत काफी है। हिन्दू कलाकारों की संख्या बहुत अधिक है। उनके चित्र इतने सुन्दर बनते हैं कि विश्वास नहीं होता। संसार में केवल कुछ व्यक्ति ही उनका मुकाबला कर सकते हैं। मैं चित्रकला के पथ पर अग्रसर चोटी के कुछ कलाकारों के नाम देता हूँ—

(१) तबरेज़ के मीर सैय्यद अली–इन्होंने इस कला की शिक्षा अपने पिता से ली। जब से वे दरबार में आए सम्राट् की उन पर कृपा बनी रही। इन्होंने इस क्षेत्र में बड़ी ख्याति प्राप्त की है और बड़े सफल हुए हैं।

(२) ख्वाजा अब्दुस्समद–जिन्हें शीरीं क़लम कहा जाता है। ये शीराज़ के रहने वाले हैं। यद्यपि ये दरबार में आने से पहले भी कलाकार थे तथापि इनकी कला में उत्कृष्टता दरबार में आने के बाद ही आई है। इसका कारण सम्राट् की कृपादृष्टि है जिसके प्रभाव से कला बाह्याकार में केन्द्रित न रहकर अनुभूतिपूर्ण हो जाती है। ख्वाजा के शिष्य भी उनके संरक्षण में उस्ताद हो गए हैं।

(३) दसवन्त—जाति के कहार हैं। इन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन इस कला को समर्पित कर दिया है। इन्हें चित्रकला से इतना प्रेम था कि ये दीवारों पर चित्र बनाया करते थे। एक दिन उन पर सम्राट् की दृष्टि पड़ गई। उन्होंने उनकी प्रतिभा को पहचान लिया और उन्हें ख्वाजा अब्दुस्समद के सुपुर्द कर दिया। थोड़े समय में ही वे अन्य कलाकारों से आगे निकल गए और युग के प्रथम उस्ताद बन गए। दुर्भाग्य से वे पागल हो गए और उन्होंने आत्महत्या कर ली। उनकी बहुत सी उत्कृष्ट कृतियां शेष हैं।

(४) बसावन—पृष्ठभूमि बनाने में, अंगप्रत्यंगों के चित्रण में, रंग विधान में, व्यक्ति-चित्र (शबीह-Portrait) चित्रण में और इस कला के अन्य पक्षों में वे सबसे अधिक निपुण हैं। यहाँ तक कि कुछ लोग उन्हें दसवन्त से भी उत्तम समझते हैं।

निम्नलिखित चित्रकार भी प्रसिद्ध हैं—केसू, लाल, मुकुन्द, मुश्कीं, फ़ारूख़ (क़लमाक), मधु, जगन, महेश, खेमकरण, तारा, सांवला, हरवंस, राम—इनमें से प्रत्येक की कला की उपलब्धियों का वर्णन करना सम्भव नहीं है। मेरा ध्येय बाटिका में से एक फूल चुन लेना है, अनाज के गट्ठर में से एक बाल निकाल लेना है।

जीवधारियों के चित्र और अनुकृतियां बनाने को कुछ लोग बेकार का धन्धा समझते हैं। ऐसा नहीं है। सुलझे हुए व्यक्तियों के लिए यह बुद्धि प्राप्त करने और अज्ञान के विष को दूर करने का साधन है। इस्लाम के कट्टर समर्थक चित्रकला के विरोधी हैं किन्तु वे अब सत्य का अनुभव करते हैं। एक दिन सम्राट् मित्रों की एक निजी सभा में बैठे थे। तब उन्होंने कहा—"बहुत से लोग चित्रकला से घृणा करते हैं। मुझे ऐसे लोग पसन्द नहीं हैं। मेरी राय में चित्रकार के पास ईश्वर से साक्षात्कार करने के विचित्र साधन हैं क्योंकि जब चित्रकार किसी जीव का चित्र बनाता है तब एक के बाद एक अंग को बनाते समय उसे यह अनुभव होता है कि वह अपनी कृति को वैसा व्यक्तित्व नहीं दे सकता और इस प्रकार वह ईश्वर के विषय में सोचने के लिए बाध्य हो जाता है क्योंकि ईश्वर ही जीवनदाता है और मनुष्य उसकी नकल नहीं कर सकता। इस प्रकार चित्रकार का ज्ञान बढ़ता है।"

उत्कृष्ट कलाकृतियों की संख्या कला को प्रोत्साहन देने के साथ-साथ बढ़ती गई। फारसी के गद्य और पद्य दोनों प्रकार के ग्रन्थों को चित्रित किया गया और इस प्रकार बहुत से चित्र बने। हमज़ा की कथा को बारह जिल्दों में चित्रित किया गया और कुशल कलाकारों ने इस कहानी के १४०० सुन्दर चित्र बनाए। चंगेज नामा, ज़फ़र नामा, यह किताब (आइन-ए-अकबरी), रज़्म नामा (महाभारत), रामायण, नलदमन (नल दमयन्ती), कलीला-दमना (पंचतंत्र), अयारदानिश आदि ग्रन्थों को बड़े सुरुचिपूर्ण ढंग से चित्रित किया गया।

सम्राट् स्वयं अपना व्यक्ति-चित्र (शबीह) बनवाने के लिए बैठे और उन्होंने हुक्म दिया कि साम्राज्य के सभी सरदारों (उमरा, मनसबदार) की शबीहें बनाई जाएं। एक बड़ी विशाल एलबम (पोथी) इस प्रकार बन गई । जिनका देहान्त हो गया है वे इन चित्रों के माध्यम से पुनर्जीवित हो गए हैं और जो अभी जीवित हैं वे अमर हो गए हैं।"

जैसे चित्रकारों को संरक्षण मिलता है वैसे ही अलंकरण करने के लिए विशेष कलाकारों, प्रभाकारों (Gilders), रेखाकारों (Line-drawers) और पृष्ठकारों (Pagers) की नियुक्ति की जाती है। इस विभाग में बहुत से मनसबदार, अहदी और सिपाही रहते हैं। पायकों का वेतन ६०० दाम से १२०० दाम तक होता है।"

इसमें स्मरण रखने की बात यही है कि ईरान के दो बड़े उस्तादों ख्वाजा अब्दुस्समद और मीर सैय्यदअली के अतिरिक्त अकबर के अधिकांश चित्रकार भारतीय हैं जो प्रारंभ में अपभ्रंश या राजस्थानी परम्परा में प्रशिक्षित हुए। ईरानी उस्तादों के निर्देशन में उनके हाथों ईरानी और भारतीय कला के सम्मिश्रण के फलस्वरूप एक नवीन शैली का समारम्भ हुआ जिसे मुग़ल-चित्रकला कहते हैं।

अकबर कालीन चित्रकला को चार भागों में बाँटा जा सकता है :—

(१) चित्रपट (Rolls)
(२) ग्रन्थचित्र (Miniatures)
(३) व्यक्तिचित्र (Portraits)
(४) भित्तिचित्र (Frescoes)

हमजानामा के चित्र चित्रपट की श्रेणी में आते हैं। ये सवा दो फुट लम्बे और लगभग २ फुट चौड़े हैं और सूती कपड़े पर भारतीय चित्रपटों की परंपरा में ही बनाए गए हैं। हमज़ानामा अकबर के युग की सबसे पहली कृति है। इसका रचनाकाल १५६७ से १५८२ ई० के मध्य प्रतीत होता है। इसके चित्रों में ईरान की हिरात-शैली का प्रभाव मिलता है फिर भी इनमें अपना एक निजत्व है जो निश्चय ही भारतीय कलाकारों के हाथों आया है। वेषभूषा और पहनावा भारतीय है। ये चित्र ईरानी कला-कृतियों की तरह आलंकारिक नहीं हैं वरन् घटना-प्रधान हैं। आकृतियां गतिमान् और भावपूर्ण हैं (चित्र–१४)। प्रकृति-चित्रण में भारतीय फलफूल जैसे—केले, वट, पीपल, आम और पशु-पक्षी जैसे हाथी, मोर आदि दिखाए गए हैं। भारतीय देवी-देवताओं की छबियां भी मिलती हैं।

ग्रन्थ-चित्रों की श्रेणी में भारतीय कथाएं और ऐतिहासिक ग्रन्थ दोनों ही आते हैं। अकबर ने महाभारत का फ़ारसी में अनुवाद कराया। इसकी एक प्रति को १५८८ में तीन जिल्दों में चित्रित किया गया (चित्र–१५)। रामायण के अनुवाद को भी चित्रित किया गया। पंचतंत्र के अनुवाद अनवार-ए-सुहैली की एक प्रति को भी १६०४ में चित्रित करना प्रारम्भ किया गया। अबुलफज़ल ने पंचतंत्र का अनुवाद सीधे संस्कृत से फारसी में १५८८ में किया। इसका नाम अयार दानिश रखा गया। इसकी भी चित्रित प्रतियां बनाई गईं।

ऐतिहासिक ग्रन्थों में तारीखे खानदाने तैमूरिया की प्रति को सबसे पहले चित्रित किया गया। बाबरनामे का तुर्की से फारसी में अब्दुर्रहीम खानखाना ने अनुवाद किया और १५८९ में इसकी एक चित्रित प्रति अकबर को भेंट की गई (चित्र–१६)। अकबरनामा १६०२ में अबुल फज़ल अधूरा छोड़ गए। इसकी पहली चित्रित प्रति पर १६०६ का जहाँगीर का लेख है। इसके अतिरिक्त तारीख-ए-रशीदी, दाराबनामा, खम्सा-निज़ामी आदि ग्रन्थों की भी चित्रित प्रतियां अकबर के काल की मिली हैं। अकबर के पुस्तकालय में लगभग तीस हजार पुस्तकें थीं जिनमें सैंकड़ों ग्रन्थ चित्रित थे। इससे उस महान् सम्राट् ने चित्रकला को कितना प्रोत्साहन दिया इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

अकबर ने स्वयं अपनी अनुकृति बनवाई और यह आदेश दिया कि साम्राज्य के सभी उमरा अपने-अपने व्यक्ति-चित्र बनवाएं। अबुल फज़ल के कथनानुसार इन व्यक्ति-चित्रों को एक बड़ी पोथी में संग्रहीत किया गया। यह व्यक्तिगत चित्रण मुग़ल कला का अपना निजी पक्ष है जिसका प्रारम्भ और विकास मुग़लों के उदार और चेतनाशील संरक्षण और उनके सम्पन्न और सांस्कृतिक युग में ही सम्भव

हुआ। भारतीय कला में यह एक नवीन धारा का सूत्रपात करता है।

फतेहपुर सीकरी में अकबर ने आवास के बहुत से महलों में भित्तिचित्र बनवाए। ये चित्र ग्रन्थों के समान ही हैं केवल उनको दीवार के नाप के अनुकूल बढ़ाकर बनाया गया है। वही सुन्दर विषय और लगभग उन्हीं रंगों का प्रयोग हुआ है। अधिकांशत: वे खेल, शिकार, युद्ध और उत्सवों के दृश्य हैं। भारतीय देवी-देवताओं के चित्र भी इनमें सम्मिलित किए गए हैं। भारतीय प्रकृति और भारतीय वेष-भूषा का चित्रण है। ख्वाबगाह और रंगीन महल में इन सुन्दर भित्तिचित्रों के अवशेष रह गए हैं।

अकबरकालीन चित्रशैली की अपनी कुछ विशेषताएं हैं जो इसे अन्य चित्रशैलियों से पृथक् करती हैं। इन चित्रों की मूल प्रेरणा ईरानी होते हुए भी इनकी आत्मा भारतीय है। हम्ज़ानामा के पश्चात् यह कला ईरानी और भारतीय विशेषताओं को आत्मसात् करके एक बड़े ही सुन्दर रूप में प्रकट होती है। इसके आलेखन में गति और अभि-व्यंजना है। आकृतियां भावपूर्ण हैं। चित्रों में केवल रेखाओं की ही कला नहीं है अपितु उनमें सजीवता और उन्मुक्तता है। ईरानी आलंकारिकता को भारतीय विषयों, वेषभूषा, पशु-पक्षी, प्रकृति और वातावरण के चित्रण के साथ-साथ घोल मेल लिया गया है।

अकबर के चित्रकार अधिकांशत: विशुद्ध भार-तीय रंगों का प्रयोग करते हैं, जैसे सिन्दूर, पेवड़ी, लाजवर्दी, हिंगुल, जंगाल, गेरू, हिरोंजी, रामरज, हरा ढावा एवं नील आदि। इन रंगों के मिश्रण से बड़े सुन्दर चमकदार और मीने की तरह दमदमाते हुए चित्र बनाए जाते थे। उनके ऊपर प्रभा के लिए स्वर्णकारी की जाती थी। अबुल फज़ल का यह कथन सही प्रतीत होता है कि अकबर के राज्यकाल में रंगों के मिश्रण में विशेष प्रगति हुई है।

एक-एक चित्र पर कई-कई कलाकार काम करते थे, कोई वसली बनाता था तो कोई उस पर रूप-रेखाएं। एक अन्य उस पर चित्रांकन करता था और कोई दूसरा अन्य रंग करता था। धीरे-धीरे अपने-अपने क्षेत्र में हर कलाकार विशेषज्ञ हो जाता था। इस प्रकार यह कला किसी एक कला-कार की व्यक्तिगत शैली नहीं है अपितु मुग़ल संरक्षण में पल्लवित एक सुन्दर कला-प्रवृति है जो उस सम्पूर्ण-युग से सम्बन्धित है और कुछ अंशों में दृश्य कला द्वारा उनका प्रतिनिधित्व करती है। इस पर कलाकार से अधिक आश्रयदाता के व्यक्तित्व की छाप है, उस भावना की छाप है जिसकी प्रेरणा से इन सब कलाकारों का साथ बैठकर कला साधना करना सम्भव हुआ।

मुग़ल और राजस्थानी (राजपूत) दोनों शैलियों का विकास यद्यपि साथ-साथ और लगभग पास-पास ही हुआ फिर भी दोनों दो भिन्न शैलियां हैं। मुग़ल शैली में व्यक्तियों और घटनाओं का चित्रण है और इस प्रकार यह व्यक्ति-चित्रकला (Portraiture) और इतिहासवृत-कला (Chronicle) की श्रेणी में आती है। उसमें मुग़ल सम्राट् के दरबार, खेल, युद्ध और शिकार के दृश्य हैं या व्यक्ति-चित्र हैं। राजपूत-शैली व्यक्तिगत नहीं है वह लोकशैली है और तत्कालीन धर्म और साहित्य में व्याप्त प्रवृत्तियों और भावनाओं का चित्रण करती है। अर्थात् मुग़ल शैली राजकीय संरक्षण में पली दरबारी कला (Court Art) है, संरक्षण ही उसकी मूल प्रेरणा है। राजपूत-शैली मूल रूप से सम्भ्रान्त लोक-कला (Folk-Art) है। यह तत्का-लीन धर्म और काव्य से प्रेरित है और शृंगार और सौन्दर्य इसकी आत्मा हैं। इसकी कल्पना उस जीवन से पृथक् नहीं की जा सकती जिसको यह चित्रित करती है। यह मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के प्रत्येक चरण को प्रतिबिम्बित करती है। इस शैली की प्रमुख धाराओं को भारतीय कथानकों, कृष्ण-लीला साहित्य, संगीत-सिद्धांतों और शृंगार साहित्य के ज्ञान के बिना नहीं समझा जा सकता है। इसलिए इसे भारत के देशी साहित्य का प्रति-रूप कहना गलत नहीं होगा।

कार्यविधि और रचनाक्रम के दृष्टिकोण से भी दोनों में अन्तर है। राजपूत रूपरेखाएं मुग़ल रूप-रेखाओं की तरह स्थित और निश्चित नहीं हैं वरन् गतिमान् और उड़ती-उड़ती-सी हैं। मुग़ल-कला में

छाया द्वारा उठान दिखाया गया है राजपूत-कला में सीधे रंगों का प्रयोग हुआ है तथा दिन और रात को एक समान चित्रित किया गया है। मुग़ल चित्रकला का दृष्टिकोण उदार है। वह विकास की ओर उन्मुख है और नए-नए प्रयोग करने में मुग़ल चित्रकार हिचकता नहीं। यूरोप से १६वीं और १७वीं शताब्दी में जो प्रेरणा आई उसे मुग़ल कला में स्वच्छन्द रूप से स्वीकार किया गया है। राजपूत कला में ये तत्त्व नहीं मिलते। राजस्थानी चित्रकार धीरे-धीरे फिर संकुचित रूढ़ियों में फंस जाता है। इस प्रकार विषय, वेषभूषा और कभी-कभी आकृतियां दोनों शैलियों में समान होते हुए भी मुग़ल और राजपूत शैलियों के प्राण अलग-अलग हैं।

चरमोत्कर्ष

अकबर के राज्यकाल में ही ईरानी प्रभाव के विरुद्ध मुग़ल चित्रकला में एक प्रतिक्रिया आरंभ हो गई थी और भारतीय तत्त्वों को अधिकाधिक अपनाया जाने लगा था। १७वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जहाँगीर के गद्दी पर बैठने के समय तक मुग़ल कला बिहज़ाद के प्रभाव से मुक्त हो गई। अकबर चित्रकला को आमोद और अध्ययन के ध्येय से प्रोत्साहन देता था। राष्ट्रीय सम्राट की अपनी कल्पना के अनुरूप भारतीय संस्कृति के सभी अंगों को संरक्षण देना वह अपना कर्तव्य भी समझता था। किन्तु चित्रकला में जहाँगीर की रुचि स्वाभाविक और आन्तरिक थी। वह चित्रकला को एक व्यक्तिगत शौक की तरह से प्रेरणा देता था। उसके संरक्षण में मुग़ल चित्रकला ईरानी बन्धनों से मुक्त हो गई और नए-नए क्षेत्रों में उसके विकास का मार्ग खुल गया। यद्यपि मुग़ल चित्रकला का जो अपना निजी व्यक्तित्व था वह इसमें बराबर बना रहा किन्तु जहाँगीर के कलात्मक युग में चित्रकारों में एक नवीन जागृति पैदा हुई और नए-नए चित्रणों की दिशा में यह कलाधारा चल निकली। विषय और विधि दोनों दृष्टिकोणों से ही मुग़ल चित्रकला का चरमोत्कर्ष जहाँगीर के राज्यकाल में हुआ।

अकबर के समय की चित्रकला में ईरानी आदर्शों पर आधारित अनुकृतियों का बाहुल्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि कलाक्षेत्र में यह एक महान् जागरण का आरंभ था, किन्तु कला का स्वाभाविक विकास और परिपक्व अवस्था जहाँगीर के राज्यकाल में ही प्राप्त होती है।

अकबर के युग में ऐतिहासिक और अन्य कथानकों का चित्रण हुआ। जहाँगीर के काल में इस चित्रण को उतना महत्त्व नहीं मिला। प्रकृति-चित्रण चित्रकला की प्रमुखधारा बन गया। जहाँगीर के दरबारी जीवन की विविध घटनाओं का चित्रण भी बड़े व्यापक स्तर पर किया जाने लगा। विषय-परिवर्तन से कला में वैसे ही नव-स्फूर्ति आई जैसे अपभ्रंश के रूढ़िगत विषयों से मुक्त होने पर राजस्थानी शैली में सौन्दर्य निखर उठा था।

जहाँगीर के दरबार में बड़े-बड़े कुशल चित्रकार रहते थे। इनमें कुछ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

अबुल हसन नादिर-उज़्ज़माँ
सालिवाहन
फरुखबेग
उस्ताद मन्सूर
बिशनदास
मनोहर
गोवर्धन
दौलत
मौहम्मद नादिर
उस्ताद मुराद

अबुल हसन जहाँगीर के राज्यकाल के श्रेष्ठतम कलाकार कहे जाते हैं। ये विख्यात् ईरानी चित्रकार आक़ा रज़ा के पुत्र थे। आक़ा रज़ा जहाँगीर के दरबार में आकर रहने लगे थे। अबुलहसन की कला की प्रशंसा जहाँगीर ने भी अपनी आत्मकथा में की है। निस्संदेह अकबर के दरबारी चित्रकार सुन्दर चित्र बनाते थे किन्तु अबुलहसन की कला में कुछ और ही बात है। उसके चित्रों में तूलिका का लावण्य और अंकन की कोमलता है। उसकी कला में भावना है और वह कल्पना के सहारे ऊपर उठकर काव्य के विराट् लोक में छा जाती है (चित्र-१७ और १८)। अबुल हसन ने साधारण विषयों को चित्रित किया है

जैसे बैलगाड़ी। किन्तु इन दृश्यों को उसने सूक्ष्म निरीक्षण और भावनात्मक कला के साथ प्रस्तुत किया है। यद्यपि इस जगत् प्रसिद्ध चित्र की विधि ईरानी है किन्तु विषय, छाया, अलंकरण, दृश्य आदि अन्य तत्त्व भारतीय हैं। उस्ताद सालिवाहन जहाँगीर के दरबार के एक अन्य प्रमुख चित्रकार थे। इन्होंने बड़े-बड़े सुन्दर पट्ट और पट्ट चित्रित किए।

सम्राट जहाँगीर अनन्य प्रकृति प्रेमी था। उसने चित्रकला में प्रकृति के सुन्दर-सुन्दर अंगों की अनुकृतियाँ बनवाईं। मन्सूर, मुराद और मनोहर ने जीवधारियों—पशु और पक्षियों के जो चित्र बनाए वे भारतीय दृश्यकला के वाङ्मय में एक अद्भुत अध्याय जोड देते हैं। उस्ताद मन्सूर पेड-पौधों और पक्षियों के चित्र बनाने में विशेष रूप से दक्ष थे। वे अत्यन्त सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व का भी निपुणता से चित्रण कर लेते थे। उनके चित्रों में नक्काशी जैसा सूक्ष्म चित्रण किया गया है शायद इसीलिए वे अपने आपको "मन्सूर नक्काश" कहते थे। अगर कोई पक्षी बनाया गया है तो उसका बाल-बाल स्पष्ट रूप से दिखाया गया है (चित्र-१९)। जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा में उल्लेख किया है कि मन्सूर ने सौ से अधिक ऐसे प्राकृतिक विषयों के चित्र बनाए। इन सभी चित्रों के चारों ओर बेल-बूटेदार सुन्दर हाशिए बनाए गए जो मुख्य चित्र के सौन्दर्य में चार चाँद लगा देते हैं।

जहाँगीर के संरक्षण में चित्रकला ने एक और महत्त्वपूर्ण मोड़ लिया। वैसे तो अकबर ने व्यक्ति-चित्रों को बड़ा महत्त्व दिया किन्तु जहाँगीर के काल में व्यक्ति-चित्रण चित्रकला की प्रमुख धारा बन गया। अब तक ग्रन्थ-चित्रों में यह कला सीमित रह गई थी अब इसका अभूतपूर्व विकास व्यक्ति-चित्रों के माध्यम से प्रारम्भ हुआ (चित्र-२० और २१)। बिशनदास जहाँगीर का अत्यन्त निपुण व्यक्ति-चित्रक (Portrait-Painter) था। स्त्री चित्रकारों द्वारा हरम की बेगमों के भी चित्र बनाए गए।

जहाँगीर की चित्रकला में स्वाभाविकता है जो, जैसाकि कुछ विद्वानों का मत है, किसी यूरोपीय चित्रकला के प्रभाव के कारण नहीं आई है। हमारे सांस्कृतिक इतिहास का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही रहा है कि उस पर अधिकांशतः यूरोपीय विद्वानों ने काम किया है और अपने शोध-वृत्तों में वे अपने विद्वेषों, रुचियों और व्यक्तिगत धारणाओं की छाप छोड़ना नहीं भूले हैं। हमने स्वयं परिश्रमपूर्वक अपनी संस्कृति का मूल्यांकन करने का उत्तरदायित्व अभी तक पूरा-पूरा नहीं निभाया है। इसलिए बहुत-सी भ्रांतियाँ प्रचलित चली आ रही हैं। जहाँगीर की चित्रकला में स्वाभाविकता विकास की दिशा में स्वाभाविक रूप से उत्पन्न गुण है किसी यूरोपीय प्रेरणा के कारण नहीं है। अभी भारतीय कलाकार की असीम क्षमता को विद्वानों ने नहीं पहचाना है।

चित्रकला को जहाँगीर के हाथों अनन्य प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। वह चित्रकला से इतना प्रेम करता था कि उसका अधिकांश समय चित्रकारों या उनकी कृतियों के साथ बीतता था। १६०९ में गिरीरो जहाँगीर के चित्रकला प्रेम की बड़ी प्रशंसा करता है। विलियम हाकिन्स भी जहाँगीर की चित्रकला का उल्लेख करता है। विशेष रूप से सर टामस रो ने सम्राट के चित्रकला संबंधी बड़े रोचक उल्लेख किये हैं। जहाँगीर इस कला का एक उत्कृष्ट समालोचक था और चित्र देखकर बता देता था कि वह किस उस्ताद का बनाया हुआ है। अपनी आत्मकथा में तो वह यहाँ तक दावा करता है कि यदि एक ही चित्र में कई चेहरे अलग-अलग चित्रकारों के बनाए हुए हों तो वह यह बता सकता था कि कौन-सा चेहरा किसका बनाया हुआ है। यह तभी सम्भव है जब वह बारम्बार उन चित्रकारों की कृतियों का सूक्ष्म अध्ययन करे और उनकी तूलिका से परिचित हो जाए। इससे उसकी इस कला में स्वाभाविक रुचि का पता लगता है। स्पष्ट ही है कि जहां अकबर इमारतों, संगीत और चित्रकला में एक-सी रुचि लेता था, जहांगीर अधिकांशत: चित्रकला पर ही ध्यान देता था और इसी कला के उत्कर्ष का इतिहास हम उसके राज्यकाल में पढ़ते हैं। अन्य कलाओं में उसकी रुचि गौण थी। चित्रकला के लिए जहाँगीर का युग मध्यकाल में स्वर्णयुग था।

इसी काल में चित्रों को हाशियों (Borders) से सजाने की कला प्रारम्भ हुई जिसने चित्रों को

अद्भुत सौन्दर्य प्रदान किया। चित्र के चारों ओर सुन्दर बेलबूटेदार डिज़ाइन में हाशिया बनाया जाता था। इसमें प्राकृतिक दृश्य, पेड़, चट्टानें आदि तो होते ही थे, कभी-कभी नन्हें-नन्हें पक्षियों से भी इसे सजा दिया जाता था। कभी किसी कथानक का कोई दृश्य भी दिखा दिया जाता था। इसमें लाल नीले आदि चमकीले रंगों के साथ अधिकांशतः सोने का काम किया जाता था जो झिलमिलाता रहता था और चित्र को प्रभावशाली ढंग से एक सुन्दर पूर्वभूमि (Setting) में प्रस्तुत करता था। हाशिए की कला के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण बर्लिन के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित जहाँगीर के युग की एक मुरक्का (Album) में हैं (चित्र-२२)। कभी-कभी ये हाशिए इतने सुन्दर बन गए हैं कि मूल चित्र को उन्होंने पृष्ठभूमि में छोड़ दिया है और ऐसा लगता है कि चित्रकार का ध्येय हाशिया बनाना ही था। यहां यह स्मरणीय है कि ऐसे एक चित्र पर बहुत से कलाकार काम करते थे। सिर्फ हाशिए पर ही कई-कई चित्रकारों का काम होता था, कोई हाशिए का अंकन करता था और कोई दृश्य की रूपरेखाएँ बनाता था। एक अन्य उसमें सुन्दर रंग भरता था। स्पष्टतः ही यह एक मिली-जुली योजना थी और इस पर किसी एक कलाकार की व्यक्तिगत छाप नहीं होती थी। यह कला आश्रयदाता की कला-रुचियों और उस युग की कलाधाराओं का प्रतिनिधित्व करती है।

शाहजहां के काल में मुग़ल चित्रकला का रूप बदल गया। उसकी व्यक्तिगत रुचि चित्रकला में नहीं बल्कि इमारतें बनवाने में थी। फिर भी उसने उन सांस्कृतिक परम्पराओं से छेड़छाड़ नहीं की जिनकी स्थापना उसके पितामह ने की थी। चित्रकार निरन्तर मुग़ल दरबार में आश्रय पाते रहे और चित्रकला पलती रही। सम्राट् की व्यक्तिगत रुचि से वंचित रहने के कारण इसके विकास का मार्ग तो निश्चय ही रुक गया किन्तु चित्रकला सम्बन्धी मुग़ल दरबार की गतिविधियों में अन्तर नहीं आया। इस काल की चित्रकला साम्राज्य के वैभव के समरूप चमक-दमक का प्रदर्शन करती है। उसकी प्रवृत्ति सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्वों को दिखाने की, अर्थात् वर्णनात्मक हो जाती है और भावना धीरे-धीरे लुप्त हो जाती है। यह नक्काशी सी लगती है। इसके विषय अब मुख्यतः शाही हैं और जीवन के साधारण पक्षों का चित्रण कम होता है (चित्र-२३)। इसमें भड़कीले और सोने के रंगों का अधिक प्रयोग होता है। वास्तुकला में सम्राट् की मूल रुचि के फलस्वरूप इस युग के चित्रों में वास्तुविषयों (Architectural Subjects) का बाहुल्य हो जाता है।

औरंगजेब के राज्यकाल से मुग़ल शैली का पतन आरम्भ हो गया। वह कट्टर मुसलमान था और चित्रकला को धार्मिक दृष्टिकोण से वर्जित समझता था। यद्यपि उसके बहुत से चित्र प्राप्त हुए हैं जो यह संकेत करते हैं कि परम्परानुसार वह अपने चित्र बनवा लेता था, किन्तु उसने इस कला को कुछ प्रोत्साहन दिया हो ऐसा कोई उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ है। उसकी धार्मिक अत्याचार की नीति राजनीति में ही नहीं कला के क्षेत्र में भी घातक सिद्ध हुई। चित्रकार प्रेरणा के स्थान पर ताड़ना और प्रोत्साहन के स्थान पर उपहास पाते थे। धीरे-धीरे वे मुग़ल दरबार छोड़कर हिन्दू राजाओं के आश्रय में चले गए। माली चले गए तो बाग उजड़ गया।

मुग़ल कला व्यक्तिगत प्रेरणा से पल्लवित हुई थी। जहाँगीर ने यदि उसमें गहरी रुचि ली तो कला ने चरमोत्कर्ष प्राप्त कर लिया। औरंगजेब ने यदि उसे व्यक्तिगत रूप से ठुकरा दिया तो वह कला समाप्त हो गई। यह बात राजस्थानी शैली में नहीं है क्योंकि वह लोकशैली है और राजकीय संरक्षण में पलते हुए भी वह संरक्षण पर आश्रित नहीं है। वह जीवन और विकास की प्रेरणा भारतीय जन-जीवन की उस सांस्कृतिक भावना से लेती है जिसे किसी एक संरक्षण में सीमित नहीं किया जा सकता। यह राजस्थानी-शैली का गुण है। इसीलिए मुग़ल-शैली १८वीं शताब्दी में जहां पतन की ओर गिर गयी, राजस्थानी-कला में विभिन्न शाखाएँ फूटीं और विभिन्न केन्द्रों में उसका विकास हुआ।

देशी शैलियों का विकास

राजस्थानी और उसकी विभिन्न शाखाओं को देशी शैलियों का नाम देने का अर्थ यह नहीं है की मुग़ल कला विदेशी शैली थी। इसे बहुत सीमित अर्थों

में प्रयुक्त किया गया है और तात्पर्य केवल यही है कि इन शैलियों के कलाकार विशुद्ध देशीय चित्रकार थे और बाह्य प्रेरणाओं को स्वीकार करते हुए भी वे लोक-भावना का चित्रण करते थे। मुग़ल कलाकार भारतीय तो थे किन्तु उनका कार्यक्षेत्र सीमित था और सम्राट् की रुचियों के अनुकूल उनको अपनी तूलिका चलानी पड़ती थी। उसमें जनजीवन को उतना स्थान प्राप्त नहीं होता था।

राजस्थानी में कृष्ण भक्ति विषयक और रीति-काव्य सम्बन्धी चित्रों के साथ-साथ रागमाला चित्रों का प्रचार बढ़ गया (चित्र–२४)। १७वीं शताब्दी में इसमें क्षेत्रीय शैलियों का विकास होने लगा। मेवाड़ में एक स्थानीय शाखा बन गई जो १७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अपनी परिपक्वावस्था को पहुँच गई। इसके अन्तर्गत बड़े सुन्दर प्राकृतिक दृश्य बनाए गए। इनमें मुग़ल आलंकारिकता के भी दर्शन होते हैं। आकृतियों में गति है। महाराणाओं के व्यक्ति-चित्र भी बने। आमेर (जयपुर), बून्दी, जोधपुर आदि में भी चित्रकला की विभिन्न परिपाटियां चल निकलीं। प्रत्येक शाखा में अपनी कुछ न कुछ स्थानीय विशेषता अवश्य रही जिससे उसके चित्रों को अन्य शैली के चित्रों से पहचाना जाता है। किसी में मुग़ल प्रभाव अधिक रहा, किसी में कम, किन्तु थोड़ी बहुत प्रेरणा मुग़ल कला से सभी शैलियों ने ली। बुन्देल-खण्ड में दतिया और ओरछा में बड़े सुन्दर चित्र बनाए गए। इनमें बड़ी सूक्ष्म आलंकारिकता है। भावनाओं को सुन्दर मुद्राओं द्वारा प्रस्तुत करने का भी कलाकारों ने प्रयत्न किया है। इस शैली के अन्तर्गत भी रागमाला चित्रों की बड़े व्यापक स्तर पर रचना हुई।

१८वीं शताब्दी में राजस्थानी शैली का पूर्ण विकास होता है। आलंकारिकता इसका एक विशेष गुण है। इसमें रागमाला, बारहमासा, नायिका-भेद और कृष्णलीला मुख्य विषय रहते हैं। चित्रित ग्रन्थ भी बनाए जाते हैं। मेवाड़ में नाथद्वारा में चित्रकला का बड़ा विकास हुआ। यहां चित्रों के अतिरिक्त पटचित्र भी बहुत बड़ी संख्या में बनाए गए। ये लगभग सभी कृष्णभक्ति विषयक हैं। इनकी भक्तों में बड़ी माँग रहती थी।

जम्मू और बसोहली की शैली ने जहाँगीर-कालीन मुग़ल-कला से प्रेरणा ली थी। यह प्रभाव इस शैली पर काफी दिन तक बना रहा। इसके अन्तर्गत रागमाला, नायिका-भेद, रामायण और काव्य ग्रन्थों सम्बन्धी विषयों का चित्रण हुआ। लगभग इसके समकालीन ही पहाड़ी शैली का विकास हुआ। बहुत से मुग़ल चित्रकार १८वीं शताब्दी में चम्बा, नूरपुर, कांगड़ा, मण्डी कुल्लू आदि पहाड़ी रियासतों के आश्रय में जाकर रहने लगे थे। मुग़ल दरबार की अभिरुचियों से मुक्त ये कलाकार स्वच्छन्द अपनी कला का प्रदर्शन कर सकते थे और इनके हाथों पहाड़ी शैली की स्थापना हुई। इनके चित्रों में यथार्थ और भावना है। चित्रण सजीव और रमणीक हैं। विषय तो वही परम्परागत राजस्थानी हैं अर्थात् रागमाला, नायिकाभेद, रीति-काव्य सम्बन्धी आदि किन्तु उनके अंकन में अपनी विशेषता है जो उसे अन्य शैलियों से ऊपर उठा देती है। उनमें सौन्दर्य की जो अनुभूति होती है वह राजस्थानी की अन्य शाखाओं में कम देखने में आती है। १८वीं शताब्दी में इस प्रकार राजस्थानी शैली अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई। बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों का धीरे-धीरे प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था और फिर पतन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई।

इस सन्दर्भ में दक्षिणी-शैली का उल्लेख भी आवश्यक है। दक्षिण में चित्रकला की परम्पराएं अक्षुण्ण जीवित रहीं। विजयनगर साम्राज्य के अन्तर्गत भित्ति चित्रों का चित्रण होता रहा। बहमनी साम्राज्य के विघटन के पश्चात् बीजापुर, गोलकुण्डा और अहमदनगर दक्षिण में महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक केन्द्र बन गए। ये राज्य शिया थे और इनका ईरान से सीधा सम्पर्क बना रहता था। ईरानी कला की प्रेरणा इस प्रकार दक्षिण में १५वीं और १६वीं शताब्दी में आई। इसने कलाकारों का दृष्टिकोण बदल देने का वही महत्त्वपूर्ण कार्य यहाँ किया जो अपभ्रंश के सम्बन्ध में उत्तर में किया था। प्राचीन परिपाटियों पर आधारित चित्रकला ने यहाँ भी इस नवीन कलाधारा से प्रेरित होकर अपना रूप और कुछ अंशों में अपना विधि-विधान बदल दिया।

मुग़लों से सम्पर्क के पश्चात् इस शैली में मुग़ल प्रभाव व्याप्त हो गया। मुग़ल पद्धति पर व्यापक पैमाने पर व्यक्ति-चित्र बनाए गए। चित्रित-ग्रन्थों की भी भरमार हुई। इनमें वर्णन का सूक्ष्म प्रदर्शन, सुन्दर रंगों का मिश्रण और अनुभूतियों का व्यक्तीकरण मुख्य विशेषताएं हैं (चित्र-२५)। देशीय पद्धति पर रागमाला चित्रों की बहुत बड़ी संख्या में रचना हुई (चित्र-२६)। इनमें भारतीयता की वही छाप है जो राजस्थानी-शैली की विभिन्न शाखाओं के अन्तर्गत देखने को मिलती है।

मध्यकालीन चित्रकला के इस पर्यवेक्षण से एक बात स्पष्ट हो जाती है। ईरान, ईराक, सीरिया और मिश्र आदि जिन-जिन देशों में इस्लाम फैला उसने वहाँ की प्राचीन संस्कृतियों को समाप्त कर दिया या उन्हें पूर्णतया नवीन रंग में रंग दिया। प्राचीन परम्पराएं इन देशों में धीरे-धीरे लुप्त हो गईं। किन्तु भारत में इस्लाम यह परिवर्तन लाने में सफल नहीं हुआ। यहाँ इस्लाम का आना राजनीतिक और सामान्य जीवन में चाहे विध्वंसकारी रहा हो, कला-क्षेत्र में उसका कुछ और ही प्रभाव पड़ा। इस्लाम के संसर्ग से यहां की कलाओं में नवजीवन आया और प्राचीन रूढ़ियों को त्याग कर उन्हें विकास की नई-नई बीथिकाओं पर चलने की प्रेरणा मिली। स्वयं नष्ट होने की अपेक्षा उन्होंने बाहर से आने वाले प्रभाव को ऐसे आत्मसात् कर लिया कि वह उनके स्वरूप में ही विलीन हो गया और समन्वय की इस क्रिया से उनका ही रूप निखर उठा। इसके लिए भारतीय दृष्टिकोण की उदारता और नई प्रेरणाओं को स्वीकार करने की उसकी स्वच्छन्दता उत्तरदायी है। भारतीय कला चेतन और निरन्तर विकासशील है और कोई आश्चर्य नहीं है कि मध्यकाल की कठिन परिस्थितियाँ उसे नष्ट नहीं कर सकीं। इसके विपरीत इस काल में चित्रकला संकुचित बन्धनों से उन्मुक्त होकर नवीन-नवीन प्रयोगों और परिणामस्वरूप बहुमुखी प्रगति की दिशा में चल निकली। परिवर्तनशीलता भारतीय कला की आत्मा है और इसके लिए उस पर कोई अंकुश नहीं है। यही इसके विकास का रहस्य है।

५

संगीत की प्राचीन परम्परा

हमारे यहां संगीत कला ने अत्यन्त प्राचीन-काल में ही बड़ी उन्नति करली थी। वैदिक काल में कई प्रकार के वाद्य जैसे-वीणा, कर्करी, कन्नड़-वीणा आदि (तारों के वाद्य); तुरव, नादि, बकुर आदि (वायु के वाद्य); दुन्दुभि, भूमि-दुन्दुभि, अदम्बर, वनस्पति, मृदंग आदि (चमड़े से मढ़े हुए वाद्य) प्रचलित थे। कई प्रकार की वीणाओं का उल्लेख मिलता है। तारों के वाद्यों का प्रयोग उसी देश में होना सम्भव है जहां संगीत अत्यन्त परिपक्व अवस्था में पहुँच गया हो। तन्तु वाद्यों में वीणा सर्वोत्तम मानी जाती है और उसका वैदिक युग (अनुमानतः १५०० से ६०० ईसा पूर्व) में प्रचलन हमारे यहाँ संगीतकला की उन्नति का परिचायक है।

प्राचीनकाल में संगीत को समुचित राजकीय संरक्षण और प्रोत्साहन दिया जाता था। ऐसे अनेकों उल्लेख मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि संगीत का तत्कालीन भद्र-समाज में बड़ा प्रचलन था। पाण्डवों के अज्ञातवास के समय अर्जुन राजा विराट की पुत्री उत्तरा को संगीत की शिक्षा देते थे। भास के नाटक 'प्रतिज्ञा यौगंधरायण' में राजा उदयन के वीणा बजाने में अत्यन्त निपुण होने का उल्लेख मिलता है। अश्वघोष कनिष्क के दरबार के विख्यात कवि और धुरंधर गायनाचार्य थे। प्रतापी गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त प्रयाग के स्तम्भ लेख में अपने आपको संगीतज्ञ बताते हैं। ७वीं शताब्दी के बाण के हर्षचरित में संगीत सम्बन्धी बड़े रोचक विवरण मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन जीवन में संगीत का एक महत्त्वपूर्ण स्थान था।

यह इस बात से भी प्रमाणित हो जाता है कि हमारे यहां संगीत साहित्य का निर्माण भी अत्यन्त प्राचीन काल से हुआ है। सामवेद का एक भाग गान है जिसे सामगान कहते हैं। प्राचीन परम्परा में संगीत के बड़े-बड़े आचार्यों के नाम मिलते हैं जैसे सदाशिव, शिव, ब्रह्मा, भरत, कश्यप, मतंग, याष्टिक, नारद, विशाखिल, रावण, क्षेत्रराज आदि। भरत के नाट्यशास्त्र में नृत्य और संगीत का पहली बार विधिवत् विवेचन किया गया। 'रागों' का विकास शायद इस काल तक नहीं हुआ था। इसके पश्चात् दत्तिल संगीत के एक बड़े शास्त्रकार हुए। फिर मतंग मुनि ने संगीत पर 'बृहत्देशी' नामक ग्रन्थ लिखा। राग शब्द का सूत्र-पात सबसे पहले मतंग ने किया। इसके पश्चात् नारद का 'संगीत-मकरन्द' आता है जिसका काल चौथी से सातवीं शताब्दी ईसा निश्चित किया गया

है। यह संगीत का पहला महान् ग्रन्थ था जिसमें राग, रागिनियों का विश्लेषण किया गया था। आठवीं से बारहवीं शताब्दी के मध्य रुद्रट, नामदेव, राजा भोज, परमर्दी, सोमेश, जगदेकमल्ल, लोल्लट, उद्भट, शंकुक, अभिनवगुप्त और कीर्तिधर आदि अन्य संगीताचार्य हुए।

शार्ंगदेव का 'संगीत-रत्नाकर' संगीत का दूसरा बड़ा ग्रन्थ है। वे १२१० ई० से १२४७ ई० के मध्य दक्षिण में देवगिरि (दौलताबाद) में रहते थे। उसमें उन्होंने शुद्ध सात और विकृत बारह स्वर, वाद्यों के चार भेद, स्वरों की श्रुति और जाति, ग्राम, मूर्छना, प्रस्तार, राग, गायन, गीत के गुणदोष, ताल, नर्तन आदि संगीत के सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्वों का विश्लेषण किया। उन्होंने कुल २६४ राग गिनाए जिनमें २० मुख्य राग थे, ८ उपराग और शेष गौण। इस ग्रन्थ में शार्ंगदेव ने केवल संगीत की प्राचीनतम परम्पराओं को ही लिपिबद्ध नहीं किया, अपितु संगीत कला के सभी पक्षों का वैज्ञानिक विवेचन करके संगीत के एक मूल शास्त्र की नींव डाली।

६

सल्तनत काल में संगीत का विकास

यह कुछ आश्चर्य की सी बात लगती है कि जिस सल्तनत युग (१२०६–१५२६ ई०) को अन्यथा अन्धकारमय युग कहते हैं उसी काल में भारतीय संगीत का सर्वोत्कृष्ट विकास हुआ। यह सत्य है कि अमीर खुसरो (जन्म १२५३ ई० मृत्यु १३२५ ई०) १३वीं शताब्दी में ही भारतीय संगीत की उत्कृष्टता स्वीकार करते हैं। अपने ग्रन्थ 'नूह सिपहर' (नव-आकाश) में वे भारत को दस बातों के कारण अन्य देशों से उत्तम मानते हैं। इनमें आठवां कारण वे इस प्रकार बताते हैं—

'भारतीय संगीत से हृदय और आत्मा उद्वेलित हो जाते हैं। यह संगीत किसी भी अन्य देश के संगीत से उत्तम है। इसे सीखना आसान नहीं है। विदेशी लोग तीस और चालीस साल भारतवर्ष में रहने के बाद भी भारतीय लयों को सही नहीं बजा सकते हैं।'

भारतीय संगीत की प्रशंसा वे नवीं बात में फिर करते हैं—'भारतीय संगीत केवल मनुष्य मात्र को ही प्रभावित नहीं करता, यह पशुओं तक को मन्त्रमुग्ध कर देता है। हिरन संगीत से अवाक् खड़े रह जाते हैं और उनका आसानी से शिकार कर लिया जाता है।'

किन्तु इस काल में भारतीय संगीत में कुछ नए-नए तत्त्वों का सम्मिश्रण किया गया जो मुसलमानों के साथ १३वीं शताब्दी के आरम्भ में भारतवर्ष में आए। ईरानी संगीत की कुछ विशेषताएं यहाँ स्वीकार की गयीं और कुछ नए राग और नई पद्धतियों का आविष्कार हुआ। अमीर खुसरो के सन्दर्भ में ही हमें इस समामेलन के प्रामाणिक उल्लेख मिलते हैं। उसने भारतीय संगीतशास्त्र का गहन अध्ययन किया। वह ईरानी पद्धति के चार उसूल बारह परदे आदि सिद्धान्तों से भी भलीभाँति परिचित था। उसने भारतीय और ईरानी सिद्धान्तों के सम्मिश्रण से कुछ नए राग निकाले जो मध्य-कालीन भारतीय ईरानी संस्कृति के विशिष्ट लक्षण हैं। १५-१६वीं शताब्दी में लिखे गए 'रागदर्पण' के अनुसार अमीर खुसरो ने निम्नलिखित नए रागों का सूत्रपात किया :—

मुजीर	सरपर्द	बसीट	ग़ज़न तराना
ऐमन	फिरोदस्त	सुहिल	फरग़ान निगार
मुवाफ़िक़	कौल	साज़गारी	वाखर्ज़ शाहान
ज़िलाफ	ख्याल	उश्शाक़	मुनम

कव्वाली का सूत्रपात भी अमीर खुसरो ने किया। कहते हैं सितार का आविष्कार भी खुसरो ने

ही किया। सितार ईरानी तम्बूर या ऊद से मिलता-जुलता होता है और भारतीय वीणा की पद्धति पर बजाया जाता है। किन्तु खुसरो के ग्रन्थों में इस बात का उल्लेख नहीं पाया जाता है। इसी प्रकार यह कहते हैं कि खुसरो ने मृदंग से तबले का आविष्कार किया।

भारतीय संगीत को इस प्रकार मध्यकाल में एक नई दिशा और एक नया जीवन प्राप्त हुआ। या यों कहना अधिक सत्य होगा कि नई-नई विधियों के जोड़े जाने के फलस्वरूप एक नई कला का जन्म हुआ। ख्याल और तराना जैसे नए-नए रागों ने भारतीय संगीत का स्वरूप ही बदल दिया। प्राचीन संगीत में 'जति गायन' को प्रधानता दी जाती थी, मध्यकाल के संगीताचार्यों ने 'राग गायन' का प्रचलन किया।

अमीर खुसरो ग़यासुद्दीन बलबन के समय से ग़यासुद्दीन तुग़लक के राज्यकाल तक प्रसिद्ध दरबारी, सूफी, कवि और संगीतकार थे। उनकी गणना देश के विख्यात संगीतकारों में की जाती है। उस समय संगीत मनोरंजन का प्रिय साधन था। खुसरो अपने ग्रन्थ किरानुस्सादें में कैकूबाद (१२८७-९०) के शाही संगीत सम्मेलनों का बड़ा रोचक वर्णन करते हैं। सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी भी संगीत का बड़ा शौकीन था। उसके दरबार में मुहम्मद शाह, फिकाई की पुत्री चन्गी फतुहा नुसरत खातून और मैहर अफरोज़ जैसी निपुण संगीतकार रहती थीं। एक अन्य ग्रन्थ 'ऐजाज़-ए-खुसरवी' में वे अलाउद्दीन खिलजी के राजकाल के संगीतज्ञों का विवरण देते हैं जिनमें भारतीय और ईरानी दोनों पद्धतियों के कलाकार थे। उस समय निम्नलिखित वाद्य बजाए जाते थे—

चंग	चग़नाना	(सारंगी)
डफ	दस्तक	
नाय (बंसी)	रबाब	
शहनाई	तम्बूर	

खुसरो स्वयं एक बहुत बड़े संगीतज्ञ थे। वे बड़ा सुन्दर गाते थे। उन्होंने जो नए-नए राग निकाले उनमें भारतीय और ईरानी दोनों पद्धतियों का सौन्दर्य और मिठास था। 'ख्याल' का आविष्कार खुसरो ने किया और यह एक बहुत बड़ी घटना थी। अब तक ध्रुपद शैली चलती थी जिसमें एक ही लय को स्वरों में बढ़ाया जाता था। 'ख्याल' के अन्तर्गत 'अलाप' होता है जिसमें राग की कड़ियां होती हैं और इनमें तानों को मधुर गति से दुहराया जाता है। 'ख्याल' बहुत प्रचलित हुआ। खुसरो ने 'तराना' का भी सूत्रपात किया। वाद्य-संगीत में 'झाला' जो काम करता है कण्ठ-संगीत में तराना का वही स्थान है। खुसरो संगीत रचनाएं भी बनाते थे और एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि अगर एकत्रित की जाएं तो उनकी संगीत रचनाएं इतनी सारी होंगी जितनी उनकी काव्य रचनाएं हैं।

गोपालनायक खुसरो के समकालीन एक महान् संगीतज्ञ थे। वे दक्षिण के रहने वाले थे और एक किंवदन्ती के अनुसार अलाउद्दीन खिलजी के दरबार में आए थे जहां खुसरो से उनकी संगीत प्रतियोगिता हुई थी।

इस काल में सूफी मत के अन्तर्गत भी संगीत को प्रोत्साहन मिला। यद्यपि कट्टर मुल्ला दृष्टिकोण के अनुसार इस्लाम में संगीत वर्जित है, तथापि सूफी सन्त संगीत को 'समां' के रूप में स्वीकार करते थे। संगीत आत्मा को जगाता है और इस प्रकार ईश्वर से मिलने की दिशा में ले जाता है। बड़े-बड़े सूफी सन्तों के 'खानकाओं' में संगीत सभाएं होती थीं। धूमधाम से कव्वालियां गायी जाती थीं। इस बात पर शेख निजामुद्दीन औलिया का ग़यासुद्दीन तुगलक (१३२०–२५) और उसकी शह पर मुल्लाओं ने बड़ा विरोध किया किन्तु वे सन्त के संगीत सम्मेलनों में अवरोध नहीं पहुँचा सके। धीरे-धीरे कव्वाली सूफी-मत का विशिष्ट अंग बन गया।

सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक (१३२५–५१) अपने पिता के विपरीत उदार प्रकृति का शासक था। वह संगीत का बड़ा शौकीन था और कहते हैं कि १२०० उत्तम कोटि के संगीतज्ञ उसके यहां नियुक्त थे जो उसका समय-समय पर मनोरंजन करते थे। फिरोज तुग़लक का इतिहासकार अफीफ लिखता है कि सुल्तान संगीतज्ञों को संरक्षण देता है। हर शुक्रवार को नमाज़ के बाद संगीतज्ञ महल में

एकत्रित होते थे और अपनी-अपनी कला का प्रदर्शन करते थे। कुछ वाद्य जो उस समय बजाए जाते थे, इस प्रकार थे :—

चंग	अर्गुन	नफीरी
कमंच	रुबाब	मिस्कत
नाय	तम्बूर	
ढोल	भीर	

सांस्कृतिक पुनरुत्थान का युग

सल्तनत का आरम्भिक काल भयंकर संघर्षों का काल था। विदेशी आक्रमणकारी की समझ में यहां का धर्म और इस धर्म पर आधारित कला,सामाजिक व्यवस्था और जीवनयापन का ढंग नहीं आता था और कुफ्र' कह कर वह इसे नष्ट कर देना चाहता था। किन्तु धीरे-धीरे वह समझ गया कि जिसे वह धराशायी कर देना चाहता है वह नरगिस का पौधा नहीं है, वह बरगद का विशाल पेड़ है—जिसकी शाखाएँ कटती जाती हैं, निकलती जाती हैं और पेड़ अक्षुण्ण अपनी गहरी जड़ों और विशाल तने के बल पर—अपनी प्राचीन परम्पराओं पर जीवित रहता है।

धीरे-धीरे संघर्ष का जोश कम हो गया। एक पड़ौसी ने दूसरे को सहानुभूति से देखा। दोनों मिलकर बैठे और सांस्कृतिक विनिमय आरम्भ हुआ। बाहर से आने वाली नई-नई प्रेरणाओं को धीरे-धीरे स्वीकार किया गया और भारतीय मूल के आधार पर एक मिलीजुली संस्कृति का उदय हुआ। सांस्कृतिक सम्मेलन की यह प्रक्रिया समय बीतने के साथ-साथ तेज होती गई और इस प्रकार लगभग १५वीं शताब्दी से सांस्कृतिक पुनरुत्थान का युग आरंभ हुआ। भक्ति आंदोलन ने धर्म और समाज की काया पलट कर दी। हिन्दू वास्तु-कला में मुस्लिम तत्त्वों के समावेश के फलस्वरूप इस काल में अत्यन्त सुन्दर और मनोरम एक नई शैली का विकास हुआ जो मुग़लों के राजकाल में चरमोत्कर्ष पर पहुँची। इस युग का सबसे अधिक प्रभाव संगीत के क्षेत्र में पड़ा। संगीत का सम्बन्ध सीधा हृदय से होता है और भावों से उद्वेलित होते ही यह विद्रोह कर उठता है, सारे बन्धन तोड़कर परिवर्तन को स्वीकार कर लेता है। नई प्रेरणा ने प्राचीन संगीत पद्धति में एक नया जीवन फूंक दिया और उसे विकास की एक नई दिशा की ओर उन्मुख कर दिया।

संगीत को इस युग में बड़े व्यापक पैमाने पर राजकीय संरक्षण और प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। कड़ा मानिकपुर के शासक मलिक सुल्तानशाह के पुत्र बहादुर मलिन ने संगीतज्ञों का एक बृहत् सम्मेलन बुलाया। इसमें संगीत रत्नाकर आदि संगीत के अठारह ग्रन्थों को एकत्रित करके सब विवादास्पद विषयों का निर्णय कराया गया और परिणाम-स्वरूप १४२८ ई० में 'संगीत-शिरोमणि' नामक ग्रन्थ की रचना हुई जिसमें कुल निर्णीत बातें संकलित थीं।

जौनपुर के इब्राहीम शाह शर्की (१४००-१४३६) और उसके पौत्र हुसैनशाह शर्की (१४५७-७९) भारतीय संगीत से बड़ा प्रेम करते थे। उनके दरबार में भारतीय संगीत की बड़ी उन्नति हुई। वहीं से ख्याल-गायकी की एक नई पद्धति चली और कम से कम तीन नए रागों का आविष्कार हुआ। इसी प्रकार कश्मीर के शासक जैनुल आबदीन के दरबार में भारतीय राग गाए जाते थे और संगीतज्ञों को आश्रय मिलता था।

मेवाड़ के महाराणा कुम्भा (१४३३–६८) अपने युग के एक महान् संगीतज्ञ थे। इस कारण उन्हें 'अभिनव भारताचार्य' कहा जाता था। उन्होंने संगीत पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे जैसे 'संगीत राज' और 'संगीत मीमांसा'। गीत-गोविन्द पर उन्होंने 'रसिक-प्रिया' नाम से एक टीका लिखी। उन्होंने 'संगीत-रत्नाकर' पर भी एक टीका की रचना की। इससे उनके संगीत के आचार्यत्व का तो पता चलता ही है, तत्कालीन संगीत की उन्नतावस्था का भी अनुमान होता है।

ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर (१४८६–१५१६) भी संगीत के एक बहुत बड़े कोविद थे। उन्होंने संगीताचार्यों का एक विशाल सम्मेलन बुलाया जिसमें रागों का विधिवत् वर्गीकरण किया गया। इसके आधार पर 'मान कुतूहल' नामक एक

बहुमूल्य ग्रन्थ लिखा गया जिसमें संगीत-कला की सूक्ष्मतम बातों का विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया गया। मानसिंह ने ध्रुपद को पुनर्जीवित किया और कुछ नए राग निकाले। उन्होंने ही ग्वालियर में शास्त्रीय संगीत की एक परम्परा की स्थापना की। विश्व-विख्यात तानसेन ग्वालियर की इसी परम्परा के शिष्य थे। राजा मानसिंह ने शास्त्रीय संगीत के ग्रन्थ 'राग दर्पण' का फारसी में अनुवाद कराया। इससे भारतीय संगीत का शास्त्रीय-ज्ञान विद्वान् मुसलमानों को भी उपलब्ध हुआ। मानसिंह के दरबार में बड़े-बड़े गवैये रहते थे जैसे बैजू, पाण्डवी, लोहांग और नायक भिक्षु। मध्यकालीन संगीत को ग्वालियर ने एक नया जीवन, नई चेतना और एक नया कलेवर दिया। राजा मानसिंह का इस दिशा में योगदान अभिनन्दनीय है।

विजयनगर के कृष्णदेवराय और संरक्षक रामराय कुशल गायक थे और बड़े-बड़े संगीतज्ञ उनके दरबार में संरक्षण पाते थे। संगीत पर बड़े-बड़े ग्रन्थ उनके समय में लिखे गए। अन्य राजदरबारों में भी संगीतज्ञ मुक्तहस्त आश्रय पाते थे।

सिकन्दर लोदी (१४८७–१५१७) को संगीत से बड़ा प्रेम था। कहते हैं मुल्लाओं के डर से वह प्रत्यक्ष रूप से संगीतज्ञों को नहीं बुलाता था किन्तु अपने किसी मित्र या सरदार के यहां संगीत सभाओं का आयोजन करके समीप के खेमे में बैठकर संगीत का रसास्वादन करता था। उसी के राज्यकाल में फारसी में संगीत का पहला ग्रन्थ 'लहजत-ए-सिकन्दर शाही' लिखा गया। इसकी रचना उमर याहिया ने की जो अरबी, फारसी और संस्कृत का विद्वान् था। 'लहजत' संस्कृत में लिखे संगीत के ग्रन्थों जैसे 'संगीत रत्नाकर' और 'संगीत कल्पतरु' पर आधारित है। लेखक ने इसे सिकन्दर लोदी को समर्पित किया है जो इस बात का द्योतक है कि सिकन्दर लोदी जैसा कट्टर धर्मान्ध सुल्तान भी भारतीय संगीत का लोहा मानता था।

संगीत साहित्य में भी इस काल में बहुमूल्य वृद्धि हुई। १५वीं शताब्दी में ही पंडित दामोदर मिश्र ने 'संगीत दर्पण' नामक संगीत के एक महान् ग्रन्थ की रचना की। इससे संगीतशास्त्र में शिवमत की स्थापना हुई। इन्होंने मूल ६ राग और ३६ रागनियां मानीं और उनके गाए जाने के समय निश्चित किए। इसी काल में 'संगीत-रत्नावली' नामक एक अन्य ग्रंथ लिखा गया। पण्डित लोचन ने 'राग तरंगिणी' नामक एक ग्रन्थ लिखा। इसमें 'यमन' और 'फरदोस्त' रागों का वर्णन है जो मुस्लिम पद्धति के सुन्दर तत्त्वों की स्वीकारोक्ति का परिचायक है। वास्तव में राग-रागनियों की जो नई पद्धति इस ग्रन्थ में स्थापित की गई, उसी पर परवर्ती संगीत की नींव रखी गई है। शास्त्रीय क्षेत्र में विकास की यह एक महत्त्वपूर्ण अवस्था थी।

७

मुग़ल-काल : संगीत का स्वर्ण-युग

१५वीं शताब्दी में सांस्कृतिक पुनरुत्थान का जो युग भारत में प्रारम्भ हुआ वह मुग़लों के राज्यकाल में, विशेषकर अकबर से शाहजहां तक के काल (१५५६–१६५८ ई०) में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। भारतीय इतिहास में गुप्तकाल के पश्चात् यह सौ वर्ष का युग दूसरा स्वर्णयुग था जिसमें भारतीय संस्कृति को अधिकाधिक प्रोत्साहन मिला और उसकी अभूतपूर्व प्रगति हुई। अकबर के उदार दृष्टिकोण ने भारतीय कलाओं के लिए राजकीय आश्रय के द्वार मुक्तहस्त खोल दिए और देशी कलावन्त मुग़ल दरबार से सम्बद्ध होकर विभिन्न कलाओं के विकास में लग गए।

१६वीं शताब्दी के बड़े-बड़े दरबारी संगीतज्ञ या तो ग्वालियर के होते थे या वे मश्शाद, तबरेज़ आदि ईरानी नगरों से आते थे। कश्मीर के गवैये भी मशहूर थे। संगीत की कश्मीरी परम्परा की स्थापना १५वीं शताब्दी में जैनुल आबदीन के संरक्षण में ईरान और तूरानी संगीतज्ञों ने की थी। नायक भिक्षु १६वीं सदी के एक महान् कलावन्त थे। वे ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर के दरबार में रहते थे और ग्वालियर की संगीत परम्परा की स्थापना में उनका ठोस सहयोग था। मानसिंह की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र राजा विक्रमाजीत ने उन्हें वही सम्मान दिया। १५२६ में पानीपत में विक्रमाजीत की मृत्यु के पश्चात् भिक्षु कालिंजर के राजा कीरतसिंह के यहां चले गए। वहाँ से वे गुजरात गए जहां सुल्तान बहादुर ने उन्हें अपने दरबार में बड़े प्रेम से रखा। शेरशाह के पुत्र इस्लाम शाह (१५४५–१५५३) को भी संगीत का बड़ा शौक था और उसके दरबार में दो बड़े गवैये रामदास और महापत्तर आश्रित थे। बाद में ये दोनों अकबर के दरबार में चले गए।

अकबर के राज्यकाल में एक नए युग का आरम्भ हुआ। वह धार्मिक कट्टरता से मुक्त, उदार शासक था। मुल्ला मौलवियों को मुंह लगाना तो दूर की बात है वह उन्हें समुचित नियन्त्रण में रखता था जिससे वे राजकीय मामलों में अनुचित हस्तक्षेप न कर सकें। अब तक उन्होंने राज्य को धर्मप्रधान राज्य (Theocratic State) बना रखा था, अकबर ने सही अर्थों में उसे धर्मनिरपेक्ष बना दिया। उसने धार्मिक भेदभावों की सभी शृंखलाएँ—जज़िया आदि—काट कर फेंक दीं और हिन्दू मुसलमान दोनों को धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक सभी क्षेत्रों में समान स्तर दिया।

उसने भारतीय दर्शन और विभिन्न धर्मों का अध्ययन किया और भारतीय जीवन को सूक्ष्म ढंग से समझा। भारतीय कलाओं से वह बड़ा प्रभावित हुआ और संस्कृति के इन कोमल तन्तुओं को उसने उदार-हृदय संरक्षण और प्रोत्साहन दिया। बड़े-बड़े संगीतज्ञों को अपने दरबार में आश्रय देकर उसने भारतीय संगीत के विकास में महत्त्वपूर्ण कड़ियां जोड़ दीं।

दरबारी इतिहासकार अबुलफजल शाही संगीतज्ञों के विषय में आइन-ए-अकबरी में लिखता है—'संगीत के जादू की आश्चर्यजनक शक्ति का वर्णन नहीं किया जा सकता। संगीत हृदय के कोमलतम भावों को उद्वेलित करता है और श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देता है। यह गृहस्थ और वैरागी दोनों के लिए लाभकारी है।'

'सम्राट् (अकबर) संगीत से बड़ा प्रेम करते हैं और संगीत साधना करने वाले सभी लोगों को आश्रय देते हैं। दरबार में बहुत से संगीतज्ञ हैं जिनमें हिन्दू भी हैं और ईरानी, तूरानी और कश्मीरी भी। स्त्रियां भी हैं और पुरुष भी। दरबारी संगीतकारों को सात भागों में बाँट दिया गया है, सप्ताह के एक-एक दिन प्रत्येक अपनी-अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं।'

अबुल फजल दरबार के मुख्य-मुख्य संगीतज्ञों की एक सूची देते हैं जिनमें सर्वप्रथम ग्वालियर के तानसेन हैं। अधिकांश संगीतज्ञ ग्वालियर के ही हैं। अन्य मश्शाद, हिरात, किपचाक और खुरासान के हैं। रामदास कलावन्त, सुभान खाँ, मियाँ लाल खाँ कलावन्त भी बड़े संगीतज्ञ माने जाते थे। मालवा के बाजबहादुर भी इस सूची में हैं। अबुल फजल मुख्य-मुख्य कुछ वाद्य भी गिनाते हैं जैसे—

सरमण्डल	बीन
नाय	करणा
घीचक	तम्बूरा
कुबूज	रुबाब
सुर्णा	कानून

कासिम 'कोहबार' ने कुबूज और रुबाब के सम्मिश्रण से एक नया वाद्य निकाला था।

अकबर के दरबार के नवरत्न तानसेन भारतीय संगीत के महान् संगीतज्ञ माने जाते हैं। अबुल फजल उनकी कला की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं और लिखते हैं कि वैसा गवैया भारत में पिछले एक हजार वर्ष में भी नहीं हुआ था। तानसेन ग्वालियर के समीप बेहट नामक ग्राम के रहने वाले थे। शायद उन्होंने संगीत की प्रारम्भिक शिक्षा मुहम्मद गौस और हरिदास से पाई। इतना निश्चित है कि वे ग्वालियर की शास्त्रीय परम्परा के अन्तर्गत प्रशिक्षित थे। स्वरों पर उनका अद्भुत अधिकार था। वे आरम्भ में बांधवगढ़ (रीवां) के राजा रामचन्द्र बघेल के यहां संगीतज्ञ थे। उनकी ख्याति अकबर के दरबार में पहुँची और अकबर ने उन्हें अपने यहां बुला लिया। पहली बार ही उनका संगीत सुनकर अकबर मन्त्रमुग्ध हो गया और उसने दो लाख रुपयों का पुरस्कार दिया। वे फिर निरन्तर अकबर के दरबार में ही रहे।

उनके विषय में बहुत-सी किंवदन्तियां प्रचलित हैं। उनकी बैजू बावरा से कोई संगीत प्रतियोगिता हुई थी यह सही प्रतीत नहीं होता है क्योंकि दोनों के कालक्रमों में बड़ा अन्तर है। सूरदास से उनकी मित्रता अवश्य कही जाती है। भक्तकवि और संगीतज्ञ गोविन्दस्वामी से भी वे परिचित थे। यह भी कहा जाता है कि प्रसिद्ध संगीतज्ञ पुण्डरीक विट्ठल भी इनसे कछवाहा नरेश मानसिंह के संगीत-प्रेमी भाई माधवसिंह के यहां मिले थे।

तानसेन ने कई नए राग और रागनियां निकालीं जैसे मियां की मलार, दरबारी कानड़ा, मियां की सारंग और मियां की टोड़ी। गुजरी टोड़ी के आविष्कार का श्रेय भी कभी-कभी तानसेन को दिया जाता है किन्तु लगता है कि यह ग्वालियर के राजा मानसिंह के युग में आरम्भ हुई और उनकी गूजरी रानी 'मृगनयनी' की स्मृति में इसका नामकरण किया गया। कहते हैं तानसेन ने रुद्रवीणा का भी आविष्कार किया। निश्चय ही हिन्दू-मुस्लिम संगीत पद्धतियों का जो सुन्दर समन्वय १५वीं शताब्दी में आरम्भ हुआ था उसे अकबर के संरक्षण में तानसेन जैसे कलाकोविदों ने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया।

तानसेन के गायन में हृदय को मन्त्रमुग्ध कर देने वाली अद्भुत मिठास थी। जहांगीर ने अपनी आत्मकथा में उल्लेख किया है कि मृत्यु के समय शेख सलीम चिश्ती ने अकबर से तानसेन का संगीत सुनने की प्रार्थना की। तानसेन बुलाए गए और उन्होंने अवसर के अनुकूल एक करुणामय राग गाकर सुनाया। उनका संगीत समाप्त होते ही सन्त ने शान्तिपूर्वक अपने प्राण त्याग दिए।

यहाँ यह स्मरणीय है कि इस युग में गायन की जितनी प्रगति हुई उतनी संगीत के शास्त्रीय पक्ष की नहीं। 'राग दर्पण' के रचयिता फकीरुल्लाह लिखते हैं कि मानसिंह तोमर के समय में संगीत के जैसे बड़े-बड़े आचार्य थे वैसे अकबर के समय में नहीं हुए। अकबर के समय में बड़े-बड़े गवैये थे जो गायनकला में अत्यन्त निपुण थे किन्तु संगीत के सिद्धांतों का ज्ञान उन्हें उतना नहीं था।

जहांगीर के दरबार में भी कलावन्तों का वही सम्मान होता रहा जैसा अकबर के दरबार में होता था। अलबत्ता जहाँगीर को संगीत से उतना लगाव नहीं था जितना चित्रकला से और उसका राज्यकाल चित्रकला के विकास का काल कहा जाता है। वह निरन्तर आगरे से बाहर लाहौर या कश्मीर में रहता था और इस कारण भी संगीत को अपने पिता जैसी प्रेरणा नहीं दे पाता था। शाहजहां के दरबार में बड़े-बड़े संगीतज्ञों के आश्रय का उल्लेख मिलता है। तानसेन द्वारा स्थापित की हुई परम्परा पर ही ध्रुपद का गायन होता था। तानसेन के दामाद लाल खां गुण समुद्र शाहजहां के दरबार के महान् संगीतज्ञ थे। दरबार के हिन्दू कलावन्तों में जगन्नाथ महाकविराय चोटी के गायनाचार्य थे। वाद्य संगीत का भी प्रचलन बराबर बना रहा। दो वाद्य संगीतज्ञ बड़े विख्यात थे—रुबाब के कलाकार सुखसैन और बीन के कलाकार सूरसैन।

भक्ति सन्तों ने भी संगीत के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। वैष्णव सन्त गीतों को बड़ा महत्त्व देते थे और सुन्दर भजनों को गायन द्वारा प्रस्तुत करते थे। वल्लभाचार्य स्वयं एक संगीतज्ञ थे। उनके शिष्य सूरदास सुन्दर गीत काव्य की ही रचना नहीं करते थे, उन गीतों को सुन्दर स्वरों में गाते भी थे। वास्तव में मध्यकालीन गीत का अर्थ उस कविता से ही है जो संगीत पद्धति के अनुसार गेय हो। तुलसी की विनयपत्रिका और गीतावली भी ऐसे ही गेय काव्य हैं। मेवाड़ के महाराणा सांगा के पुत्र भोजराज की पत्नी मीरावाई निपुण संगीतज्ञ थीं। उनका बनाया 'मीराबाई का मलार' नामक राग प्रसिद्ध है।

बंगाल में संगीत की बड़ी प्रगति हुई। यह प्रदेश प्राचीन काल से ही संगीत का घर रहा है। १०वीं-११वीं शताब्दी में राग-संगीत का वहां बड़ा प्रचार था। १२वीं शताब्दी में हुए सैन वंश के प्रतापी राजा लक्ष्मण सैन संगीत से बड़ा प्रेम करते थे। जयदेव उनके ही दरबार में रहते थे। जयदेव ने गीत-गोविन्द में प्रबन्ध गीतों की रचना की जिनमें तत्कालीन राग और तालों का समन्वय किया गया। उनकी भारतीय संगीत को यह बहुमूल्य देन थी। कहा जाता है उनके गीत पुरी के जगन्नाथ मन्दिर में प्रतिदिन देवदासियों द्वारा गाए जाते थे। कीर्तन के रूप में दक्षिण में भी उनका प्रचार हुआ।

बंगाल के वैष्णव सन्तों के हाथों गायन की अन्य सुन्दर परम्पराएं पल्लवित हुईं। चण्डीदास और विद्यापति ने १४वीं–१५वीं शताब्दी में कृष्ण-कीर्तन की पद्धति चलाई। मंगल-गीतों और पद-गीतों की भी रचना हुई। ये विभिन्न रागों और तालों में विभिन्न रस और भावों के साथ गाये जाते थे। श्री चैतन्य (१४८५–१५३३ ई०) के साथ बंगाल में नए युग का प्रवर्त्तन हुआ। यह संगीत के नवजागरण का युग था। उन्होंने नाम-कीर्तन की परम्परा चलाई। कीर्तन प्रबन्ध-गीति के अन्तर्गत एक निबद्ध गायनविधि है और इसमें ताल, राग, लय आदि संगीत के सभी तत्त्व होते हैं। चैतन्य कीर्तन पर बहुत अधिक जोर देते थे और राधा और कृष्ण की प्रेममय भक्ति के लिए संकीर्तन को ही सर्वोत्तम साधन मानते थे। उनके शिष्यों में उस समय के बड़े-बड़े संगीतज्ञ थे जैसे स्वरूपदामोदर, राय रामानन्द, मुरारी गुप्त आदि। इन वैष्णव भक्ति सन्तों ने संगीत को अनन्य प्रोत्साहन दिया।

श्री चैतन्य के पश्चात् नरोत्तमदास, आचार्य श्रीनिवास आदि वैष्णव सन्तों ने बंगाल में पद-कीर्तन को पुनर्जीवित किया। १६वीं-१७वीं शताब्दी में वृन्दावन और मथुरा भारतीय संगीत के प्रमुख केन्द्र थे। गोस्वामी कृष्णदास कविराज, स्वामी हरिदास आदि आचार्यों ने एक नयी पद्धति का प्रारम्भ किया और प्रबन्ध-ध्रुपद गायन चलाया। इधर भक्ति सम्बन्धी मीरा और सूर के भजनों ने संगीत को बड़ा प्रोत्साहन दिया। वृन्दावन के होली त्यौहार से सम्बन्धित होरी-धामार नामक एक प्रबन्ध संगीत का भी प्रारम्भ हुआ। परवर्ती संगीत की लगभग सभी परिपाटियों की स्थापना इस प्रकार इस युग में हुई।

१५वीं–१६वीं शताब्दी से संगीत सम्बन्धी चित्र बनाए जाने लगे थे। इन्हें रागमाला चित्र कहते हैं। १७वीं–१८वीं शताब्दी में राजस्थानी (राजपूत) शैली के अन्तर्गत इन चित्रों का बड़ा प्रचार हुआ। इनमें रागमूर्तियों के साथ काव्यात्मक वर्णन और ध्यान मन्त्र भी होते थे। इससे प्रत्येक राग की विशेष ऋतु और वातावरण का परिचय होता था। संगीत के शास्त्रीयकरण की दिशा में यह एक ठोस प्रयत्न था। रागमाला चित्र संगीत और चित्रकला के पारस्परिक सम्बन्ध पर तो प्रकाश डालते ही हैं, मध्यकाल में व्याप्त उस लोकभावना का भी प्रतिनिधित्व करते हैं जो भक्ति पर आधारित तत्कालीन धर्म, साहित्य, चित्रकला और संगीत—जनजीवन के चारों सांस्कृतिक पक्षों – को प्रेरित करती थी। चित्रकला और संगीत भारतीय जीवन का अभिन्न अंग थी और जब उस जीवन का दृष्टिकोण भक्तिमय हो गया तो कलाओं के क्षेत्र में भी वही विषय स्वीकार कर लिए गए। यही तथ्य भारतीय कला की आत्मा है। लोकजीवन से पृथक् इन कलाओं की कल्पना नहीं की जा सकती।

मुग़ल काल में संगीत साहित्य में भी बहुमूल्य वृद्धि की गई। १५७० ई० में क्षेमकरण ने 'रागमाला' नामक ग्रन्थ लिखा। १६१० में सोमनाथ ने 'राग विमोध' लिखा। इसके बाद श्रीनिवास पण्डित ने 'राग तत्व विमोध' की रचना की। १६६० में हृदय नारायणदेव ने 'हृदय कौतुक' नामक एक अन्य ग्रन्थ लिखा। इसमें स्वरप्रकरण, रागों की परिभाषा और वर्गीकरण आदि विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया। १७वीं शताब्दी का सब से अधिक महत्त्वपूर्ण संगीत ग्रन्थ पण्डित अहोबल का 'संगीत पारिजात' था। इस प्रकार लिपिबद्ध शास्त्रीय पक्ष के दृढ़ आधार पर संगीत की प्रगति होती रही।

औरंगजेब १६५८ में मुग़ल साम्राज्य के सिंहासन पर बैठा। वह धर्मान्ध मुसलमान था और कट्टर मुल्ला दृष्टिकोण का पालन करता था। उसने अकबर द्वारा स्थापित सभी रीति-रिवाजों (जैसे झरोखा-दर्शन) को समाप्त कर दिया। उसने दरबार के ज्योतिषियों को भगा दिया और चित्रकारों को निकाल बाहर किया। उसका विचार था कि ये सब बातें उसके धर्म में वर्जित हैं। उसने दरबारी संगीतज्ञों की नौकरियां समाप्त कर दीं और गाना-बजाना बिल्कुल बन्द करा दिया। कहते हैं दरबार के गवैयों ने एक बड़े जुलूस का आयोजन किया और रोते-चिल्लाते हुए महल के नीचे से निकले। सम्राट् ने शोरगुल सुनकर पूछा–यह क्या है ? उत्तर मिला कि संगीत मर गया है उसे दफ़नाने ले जाया जा रहा है। उसे अच्छी तरह गहरा दफनाया जाए जिससे फिर न निकले—औरंगजेब ने निर्दयतापूर्वक मुस्करा कर कहलवाया। मुग़ल दरबार के संगीतज्ञ देशी राजाओं के यहां जाकर आश्रय ढूंढ़ने के लिए बाध्य हो गए। प्राचीन परम्पराओं की दृढ़ नीवों पर आधारित भारतीय कलाएँ तो निरन्तर पलती रहीं किन्तु मुग़ल दरबार की शान-शौकत उजड़ गई। जिस मुग़ल दरबार में तानसेन दीपक-राग गाते थे वहां अब दक्षिण के युद्धों से हार कर लौटे हुए सेनापतियों की कर्कश ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। औरंगजेब ने मृत्योपरान्त पाए जाने वाले एक स्वप्निल 'बहिश्त' की खातिर अपने जीवन की प्रत्यक्ष सत्ता को ही नहीं, सम्पूर्ण मुग़ल साम्राज्य को विनाश की अग्नि में झोंक दिया। अकबर की व्यक्तिगत प्रेरणा के कारण इस विशाल राष्ट्रीय साम्राज्य का निर्माण हुआ था, औरंगजेब की व्यक्तिगत घृणा के कारण यह साम्राज्य धूल में मिल गया।

८

प्राचीन वास्तु परम्पराएँ

मोहनजोदड़ो में हड़प्पा संस्कृति के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं उनसे पता चलता है कि भारत में ईसा से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व भी पत्थर और ईंटों से सुरुचिपूर्ण निर्माण होता था। वहां आवास-भवन और स्नानगृह मिले हैं और नालियों की व्यवस्था पाई गई है। यह यहां की प्राचीनतम् सभ्यता थी जिसका विकास यहां के मूल निवासियों के हाथों हुआ। कालान्तर में आर्य लोग बाहर से आए और देश के उत्तरी भागों में बस गए। वे खेतिहर थे और उन्होंने नगरों में रहना बहुत बाद में आरम्भ किया। शायद इसीलिए वैदिक काल (लगभग १५०० से ६०० ईसा पूर्व) के वास्तुकला सम्बन्धी प्रमाण नहीं मिले हैं। इस युग में लकड़ी, बाँस और फूंस से निर्माण कार्य होता था। जंगलों की बहुतायत थी और यह सामग्री आसानी से उपलब्ध थी। सांची और भारहुत के प्राचीन संस्थानों से इस बात के समुचित प्रमाण प्राप्त हुए हैं। वेदिका और तोरण यद्यपि पत्थर के हैं किन्तु वे लकड़ी की वेदिका और लकड़ी के तोरण की पद्धति पर बने हैं, और पत्थर में उनकी अनुकृति ही नहीं, अनुवाद-सा प्रतीत होते हैं। उत्कीर्ण शिलापट्टों पर जो दृश्य अंकित हैं उनमें भी गौखें, प्रसादिकाएँ, अण्डाकार छतें, खम्भे और छज्जे—सभी लकड़ी और बांस के प्रारूप हैं। अनुमान है कि मौर्यकाल से (लगभग चौथी शताब्दी ईसा पूर्व) हमारे यहाँ पत्थर से निर्माण होना आरम्भ हुआ। किन्तु मूल प्रेरणा लकड़ी की रचना-विधि से होने के कारण, लकड़ी के तत्त्व हमारी स्थापत्य कला में थोड़ा बहुत बराबर बने ही रहे।

वैसे जैन लोग भी निर्माण-कार्य में बड़ी रुचि लेते थे और बहुत से प्राचीन जैन अवशेष मथुरा से प्राप्त हुए हैं। इनमें एक जैन स्तूप का काल तो ७७७ ईसा पूर्व निश्चित किया है। किन्तु विधिवत् रूप से वास्तुकला को प्रोत्साहन सबसे पहले बुद्ध धर्म ने दिया। बड़े-बड़े स्तूपों की रचना हुई जिनमें सांची, भारहुत और अमरावती के स्तूप मुख्य हैं। उत्तरी पश्चिमी सीमान्त प्रदेश, उदाहरणार्थ पेशावर और चरसद्दा में भी बड़े-बड़े स्तूप बने जिनमें चूने और मृणमय पट्टों का बड़ा सुन्दर प्रयोग किया गया। वास्तु-कला के विकास में बुद्ध धर्म का एक और बड़ा महत्त्व-पूर्ण योगदान था। इसके अन्तर्गत बड़ी-बड़ी भव्य गुफाएं खोदी गयीं जिनमें चैत्य और बिहार बनाए गए। इनमें काट-काट कर सुन्दर गवाक्ष, खम्भोंदार कक्ष और गज-पृष्ठाकार छतें ही नहीं बड़ी

सुन्दर-सुन्दर मूर्तियां भी निर्मित की गयीं। इनकी रचना दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से ८वीं शताब्दी ईसा तक हुई। इनमें कार्ली, कन्हैरी, भज, कान्दन, नासिक, पीतलखोड़ा, वेदशा और अजन्ता की गुफाएं मुख्य हैं। इनमें लकड़ी के तत्त्वों का स्पष्ट परिचय मिलता है। जैसे, लकड़ी के खम्भों को दीमक से बचाने के लिए उनके आधार में घड़ों का प्रयोग होता था वैसे ही खम्भे ज्यों के त्यों कार्ली में बने हैं। इसकी छत भी गजपृष्ठाकार है जैसी लकड़ी और बाँस की छतें बनाई जाती थीं। उसमें कहीं-कहीं तो वास्तव में लकड़ी की शलाकाएं लगाई भी गयी हैं जो अभी शेष हैं। चट्टानों को काटकर बनाई गई इस कृति में बाहर से लकड़ी या पत्थर लगाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। यह बात प्रमाणित करती है कि पत्थर का युग आ जाने पर भी स्थपति को लकड़ी के तत्त्वों की याद नहीं भूली थी और वह उनका प्रयोग कर रहा था। अजन्ता की सुन्दर गुफाएं इस युग की अद्भुत कृति हैं। इनमें बड़े सुन्दर चित्र बने हैं जिनमें बुद्ध की जातक कथाएं अंकित हैं। भारतीय कलाओं के विकास में अजन्ता का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

हिन्दुओं के वैष्णव और शैव मन्दिर का विकास गुप्त काल (३५०–६५० ई०) में हुआ। उपास्य देव की प्रतिमा एक छोटे से कक्ष में विराजमान की गई। इसे गर्भ-गृह कहा गया। इसके बाहर खम्भों-दार एक खुला हुआ बरामदा बनाया गया। हिन्दू मन्दिर की यह मूल योजना थी। देवगढ़, बर्वासागर और भूमरा के मन्दिर इसी युग के हैं। बाद में इसमें मण्डप, अर्धमण्डप और प्रदक्षिणा पथ जोड़ दिए गए और इस प्रकार इसकी रचना-विधि का विकास हुआ। धीरे-धीरे शिखर पल्लवित हुआ और दसवीं शताब्दी तक हिन्दू मन्दिर एक भव्य प्रासाद बन गया। खजुराहो के मन्दिरों में इसका चरमोत्कर्ष प्रकट हुआ। उड़ीसा और दक्षिण में यही योजना विविध रूपों में विकसित हुई। दक्षिण में शिखर का स्वरूप बदल गया। वहां या तो अण्डाकार शिखर का प्रयोग हुआ या गोपुरम् बनाए गए। जैनों ने भी इसी विधि को अपनाया और उनके मन्दिर भी मूल रूप से इसी योजना पर बने। गुजरात में लकड़ी का प्रयोग बहुत होता था और वहाँ लकड़ी की रचना-विधि से प्रेरित तत्त्वों का बाहुल्य बराबर बना रहा। इनमें तोरण, प्रसादिकाएं और क्षितिजाकार, क्रमशः छोटी होती हुई, (Corbelled) छतें उल्लेखनीय हैं।

हमारे यहां ईंटों से भी निर्माण कार्य होता था। हड़प्पन संस्कृति में भी ईंटों की रचना के प्रमाण मिले हैं। स्तूपों में भी ईंटें लगाई जाती थीं, जैसे मीरपुरखास, मालोट, काफिरकोट आदि। गुप्तकाल में और उसके बाद ईंटों के बड़े-बड़े मन्दिर बने जिनमें भीतरगांव, परावली, कुरारी, बोधगया, राजशाही, सीरपुर और पुजारीपाली के मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कहीं-कहीं इनमें त्रिज्याकार महराब और दुहरे गुम्बद का भी प्रयोग किया गया। इनमें अलंकरण कटी हुई ईंटों या मृणमय पट्टों (Terracotta Plaques) से किया जाता था। इस वर्ग में भीतरगांव का मन्दिर सर्वोत्कृष्ट कृति है।

इस्लाम के भारत में आने से पहले ही हमारे यहां वास्तुकला अपने चरमोत्कर्ष तक पहुँच गई थी और विश्व प्रसिद्ध बड़े-बड़े मन्दिरों का निर्माण हो चुका था। इनमें मामल्लापुरम् के सुन्दर रथ, पट्टादकिल का वीरुपक्ष का मन्दिर, कांजीवरम् का कैलाश-मन्दिर, तंजोर का वृहदेश्वर मन्दिर, औसिया और किराड़ के मन्दिर, मुढ़ेरा का सूर्य मन्दिर, आबू के जैन मन्दिर, खजुराहो के मन्दिर, ग्वालियर का सहस्त्रबाहु का मन्दिर और भुवनेश्वर के लिंगराज और मुक्टेश्वर के मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पत्थर के इन भव्य प्रासादों में बड़े सुन्दर शिखर बनाए गए। इनमें देवी-देवताओं, और स्त्री-पुरुषों की मूर्तियों का अलंकरण के लिए भी प्रयोग हुआ। मन्दिर के साथ-साथ मूर्तिकला का भी विकास हुआ और उसने धीरे-धीरे कलात्मकता के चरम आदर्श को पा लिया। विशेषकर खजुराहो के मन्दिरों की मूर्तियां बोलती हुई-सी प्रतीत होती हैं। उनमें भावों को बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया गया है। पाश्चात्य संसार में यूनानी मूर्तिकला की बड़ी ख्याति है किन्तु यूनानी मूर्तियाँ मानव शरीर की ज्यों की त्यों सही अनुकृति के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। वे जैसे

फोटो प्रतिलिपि हों। उनमें जीवन नहीं है। खजुराहो की मूर्तियाँ जीवित-सी लगती हैं। भावों के अनुकूल शरीर के विभिन्न अंगों को कलाकार ने जिस तरह से मोड़ा-तोड़ा है उससे ऐसा लगता है कि ये पत्थर की नहीं हैं। पत्थर के काम में भारतीय कलाकार इतना अधिक दक्ष हो गया था कि वह इसे मोम की तरह से काट छांट कर इच्छित भाव को सही-सही अंकित कर सकता था।

स्थापत्य में पत्थर का व्यापक प्रयोग होता था। पत्थर के खम्भे या दीवारें, पत्थर की छतें और पत्थर का ही शिखर बनता था। पत्थर के ही छज्जे लगाये जाते थे। बड़ी-बड़ी शिलाएं उपलब्ध थीं और उनसे विविध विधियों से छतें पाटी जा सकती थीं। कहीं-कहीं तो पत्थरों को एक के ऊपर एक बिना चूने-मसाले के रखकर निर्माण कर लिया जाता था। पत्थर के काम में भारतीय कारीगर अत्यन्त निपुण था और परम्परागत पत्थर से ही निर्माण कार्य करता था। यहां यह स्मरणीय है कि यद्यपि हमारे यहां महराब बनाये जाते थे और भीतर गांव के मन्दिर में उसके प्रमाण उपलब्ध हैं फिर भी महराब बनाने का हमारे यहां रिवाज नहीं था। महाराब पर भारतीय कारीगर भरोसा नहीं करता था। इसके अतिरिक्त पत्थर में रचना करना उसे कहीं अधिक आसान लगता था। फिर पत्थर में वह उन अलंकरणों का उपयोग कर सकता था जिनका ईंट और चूने में प्रयोग करना सम्भव नहीं था।

इस्लाम के आने से पहले हमारे यहां वास्तुशास्त्र पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। इनमें मानसार और समरांगण सूत्रधार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वास्तुकला की एक बृहत् वास्तुविधा बन गई थी। मन्दिर के छोटे से छोटे तत्त्वों का भी विवेचन किया जा चुका था और निर्माण सम्बन्धी एक-एक बात के निश्चित मानदण्ड स्थापित हो चुके थे। शास्त्रीयकरण की यह स्थिति कला की अत्यन्त विकसित अवस्थाओं के साथ-साथ ही सम्भव होती है। इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे यहां मुसलमानों के आगमन के समय वास्तुकला बहुत अधिक उन्नतावस्था में थी और उसकी परम्पराएं बड़ी गहरी और दृढ़ थीं।

प्राचीन वास्तुकला के कुछ विशिष्ट तत्त्व सारांश में इस प्रकार थे :—

(१) इसमें पत्थर का व्यापक प्रयोग होता था जिसमें खम्भे, उदम्बर, तोड़े, छज्जे आदि से रचना की जाती थी। ये तत्त्व मूलरूप में काष्ट-कला से प्रेरित थे।

(२) यह रचना विधि समतल (क्षैतिज Trabeate) थी। बोझ को लम्बवत् रखने की अपेक्षा समतल (Horizontal) रखा जाता था।

(३) यह कला धार्मिक भावना से प्रेरित थी। कला, कला के लिए न होकर जीवन का विशिष्ट अंग थी। जीवन की अन्य गतिविधियों की तरह यह भी मोक्ष का साधन थीं। भारतीय जीवन से पृथक् इस कला की कल्पना नहीं की जा सकती और इसीलिये जिन्हें भारतीय जीवन और उसमें व्याप्त धार्मिक भावना का ज्ञान नहीं होता है वे इस कला को नहीं समझ पाते हैं। यह कला दरबारी कला नहीं थी। जनजीवन से अभिन्न रूप से सम्बद्ध यह कला मुख्यत: लौकिक (Folk-Art) थी। इस कला का ध्येय किसी व्यक्ति-विशेष की रुचिओं का प्रदर्शन करना नहीं, जन-जीवन की धार्मिक भावना को साकार करना था।

(४) यह कला भद्र कृत थी। जन-जीवन में जो कुछ शुभ है उसका यह प्रदर्शन करती थी। सत्यं शिवं सुन्दरम् के सिद्धान्त पर इसका विकास हुआ था। कमल, चक्र, स्वास्तिक आदि सभी चिह्न शुभ मानकर कला के क्षेत्र में स्वीकृत किये गये थे। इसी आधार पर अष्टमंगल चिह्नों का सूत्रपात हुआ था। कीर्तिमुख आदि अलंकरण के सभी रूपक इसी आदर्श को सामने रख कर प्रयोग किये जाते थे।

(५) यह कहना सही नहीं है कि भारतीय वास्तु में अलंकरण को प्रधानता दी गयी है। चित्र और शिल्प सदैव ही वास्तु के

अधीन थे और मूल वास्तु-योजना के अनुकूल ही उनका विधान होता था। पत्थर की अत्यन्त सुन्दर मूर्तियों से मन्दिर के अलंकरण की भारतीय वास्तु की अपनी पद्धति है । मूर्तियां ललित भावों का प्रदर्शन करती हैं। अपने आप में पूर्ण लगने वाली यह मूर्तिकला वास्तु का अभिन्न अंग है और वास्तु से प्रथक् इसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

(६) भारतीय वास्तु में तालमान निर्धारित थे और इन शास्त्रीय मानदण्डों का पालन करना आवश्यक था । ये मानदण्ड सौन्दर्यशास्त्र के आधार पर बनाये गए थे। इन मानदण्डों के न मानने का अर्थ केवल यही था कि रचना के अनुपात बिगड़ जाते थे और इमारत असुन्दर लगने लगती थी। वास्तव में इन ताल-मानों में ही भारतीय वास्तुकला के सौंदर्य का रहस्य छिपा हुआ है ।

९

सल्तनत काल की वास्तुकला

(१) गुलामवंश की इमारतें (१२०६-१२९० ई०)

११९२ में तराइन के द्वितीय युद्ध के परिणामस्वरूप दिल्ली सल्तनत की स्थापना हुई। दिल्ली और अजमेर के प्रदेश तुर्कों के अधिकार में आगए। वे अपने साथ अपना एक अलग धर्म, अपनी सामाजिक व्यवस्था और कला के अपने मानदण्ड लेकर आए। हिन्दू-धर्म व्यक्तिगत उपासना को प्रधानता देता है। उपासक अव्यक्त से प्रतीकों के माध्यम से भक्ति के द्वारा सम्पर्क स्थापित करता है। जीवन का लक्ष्य निर्वाण हो या मोक्ष—वह चुपचाप अकेले बैठकर ध्यानस्थ होकर सृष्टि के चरम सत्य का अनुभव करना चाहता है। इस भावना के अनुरूप ही उसके धार्मिक संस्थान होते हैं। उदाहरण के लिए मन्दिर में गर्भगृह जहां उपास्यदेव की प्रतिमा विराजमान होती है एक छोटा-सा, तंग, अंधकारमय कक्ष होता है। इस्लाम में इसके विपरीत सब मिलकर एक साथ एक निश्चित प्रणाली से नियमपूर्वक नमाज़ पढ़ते हैं और इसलिये मस्जिद में बड़े-बड़े खुले हुए कक्ष, दालान और आंगन होना आवश्यक होता है। दिल्ली पर अधिकार होते ही सहधर्मियों के लिए एक मस्जिद बनाने की आवश्यकता अनुभव हुई। तुर्कों की सेवा में कुछ मुल्ला मौलवी तो धार्मिक कार्यों के लिए थे किन्तु कलाकार एक भी नहीं था। परिणामस्वरूप उन्हें भारतीय कारीगरों से ही काम लेने के लिए विवश होना पड़ा। २७ हिन्दू और जैन मन्दिरों को तोड़कर उन्होंने दिल्ली में एक काम-चलाऊ मस्जिद बनाई जिसका नाम 'कुव्वत-उल इस्लाम मस्जिद' (इस्लाम की शक्ति प्रदर्शित करने वाली मस्जिद) रखा गया। प्राचीन ऊंची चौकी को ज्यों का त्यों रहने दिया गया। पूर्व, उत्तर और दक्षिण की ओर खम्भोंदार दालान और उनके मध्य में द्वार बनाये गए और पश्चिम की दीवार में क़िबला दिया गया। मन्दिरों से प्राप्त पत्थर के खम्भे, उदम्बर, छाद्यशिलाएं और अन्य सामग्री से ही इस मस्जिद का निर्माण हुआ। ऊंचाई बढ़ाने के लिये दो-दो खम्भों का प्रयोग किया गया। हिन्दू मन्दिरों जैसी अलंकृत छतें भी बनाई गईं। अभिलेखों के अनुसार ११९७ ई० में यह मस्जिद बनकर तैयार हो गई। ११९९ में कुतुबुद्दीन ऐबक ने इसके पश्चिम में मकसूरा बनवाया जिसमें मध्य में मुख्य महराब था और दोनों ओर दो-दो छोटे महराब थे। इस प्रकार आराधना स्थान (Sanctuary) बन गया (चित्र-२८)। बाद में इल्तुतमिश ने किबले की दीवार में बड़े सुन्दर विशाल महराब बनवाए जो हिन्दुओं की समतल पद्धति (Trabeate System) पर बने और जो सही अर्थों में त्रिज्याकार (Arcuate) नहीं हैं। किन्तु महराब और गुम्बद इस्लाम की कृतियों में, विशेषकर मस्जिद में, विशिष्ट प्रतीक् माने जाते थे और चाहे वे आलंकारिक हों उनका मस्जिद में होना आवश्यक

था। जिन भारतीय कारीगरों को इस काम में लगाया गया शायद वे त्रिज्याकार महराब नहीं बनाते थे और उन्होंने अपनी पद्धति से ही उनका निर्माण किया।

गुलामवंश (१२०६-९०) की पहली इमारत जिसमें तोड़े हुए मन्दिरों से प्राप्त सामग्री का प्रयोग नहीं हुआ वरन् प्रत्येक पत्थर की रचना इसी ध्येय को सामने रखकर की गई–कुतुबमीनार है। इसे कुतुबुद्दीन ने ११९९ में बनवाना प्रारंभ किया और उसके उत्तराधिकारी इल्तुतमिश ने १२१२ में पूर्ण कराया। यह ध्वजस्तम्भ की तरह पत्थर की एक मीनार है जिसमें मूलरूप से चार मंज़िलें थीं। बाद में फिरोज तुग़लक ने पांचवीं मंजिल बढ़ादी और अब इसकी कुल ऊंचाई २२८ फीट है। इसमें ३६० सीढ़ियाँ हैं। यह गोल है और गर्जराकार है अर्थात् ऊंचाई बढ़ने के साथ साथ इसका व्यास कम होता जाता है और यह छोटी होती जाती है। सबसे नीचे की मञ्जिल में गोल और नुकीले दांते हैं, दूसरी में केवल गोल धारियां हैं, तीसरी में फिर त्रिकोणात्मक नुकीले दांते हैं, चौथी बिल्कुल गोल है। प्रत्येक मन्जिल में एक छज्जेदार प्रालिन्द (Balcony) बनाई गई है जिसमें निच्यावाश्म (Stalactite) का प्रयोग हुआ है (चित्र–२९)। एकरूप अरबी अक्षरों में पत्थर में खोदी गई कुरान की आयतों के अतिरिक्त ये निच्यावाश्म भी कुतुबमीनार के विशिष्ट अलंकरण हैं। शहद की मक्खी के छतें जैसा इसका रूपांकन छज्जे की छाया में बड़ा सुन्दर लगता है। हमारे यहां इसका प्रयोग कुतुबमीनार के साथ ही आरम्भ हुआ।

यह कहना सही नहीं है कि मूल रूप से इसे हिन्दुओं ने बनवाया था और तुर्कों ने इसे मीनार में परिवर्तित कर लिया। न तो यह वाराह-मिहिर की वेधशाला का कोई निरीक्षण-स्तम्भ है न पृथ्वीराज का यमुना-स्तम्भ। पुरातत्त्व, वास्तु और लिखित प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि इसका निर्माण कुतुबुद्दीन और इल्तुतमिश ने ही कराया।

एक और भ्रान्ति इसके विषय में प्रचलित है कि यह मस्जिद का मज़ीना थी अर्थात् यहां से नमाज़ का समय होने पर आज़ान दी जाती थी। यह सम्भव नहीं है कि मुअज्ज़न प्रतिदिन पांच बार इस मीनार पर चढ़ता उतरता और आज़ान देता। न ही वहाँ से आज़ान का शब्द सुनाई दे सकता है। वास्तव में इसे किसी काम में लाने के लिये नहीं बनवाया गया है। यह प्रतीकात्मक कृति है और इसके बनवाने का ध्येय नए जीते हुए प्रदेश के निवासियों को इस्लाम की शक्ति और वैभव से चमत्कृत करना था। इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि १३६७ में फिरोज़ तुग़लक ने अम्बाला से लाकर अशोक की एक विशाल लाट को कोटला फिरोज़शाह में ठीक अपनी जामी मस्जिद के सामने स्थापित किया। उसका नाम 'मिनारा–ए–ज़रीन' (सोने की मीनार) रखा गया। यहाँ इसे खड़ा करने का ध्येय किसी उपयोग में लाना नहीं था। यह भी एक प्रतीकात्मक रचना थी। हमारे यहां बुद्ध चैत्यों, जैन और हिन्दू मन्दिरों के सामने ध्वजस्तम्भ बनाये जाते थे जिन पर धर्मचक्र या उस देवता का वाहन सूचक के रूप में विराजमान होता था। अनुमान है कि इसी से प्रेरणा लेकर कुतुबमीनार का प्रतीकात्मक निर्माण हुआ। चन्द्र के लौह-स्तम्भ को लाकर मस्जिद के प्रांगण में ठीक किबला के सामने गाडने का भी भला और क्या ध्येय हो सकता है।

सुल्तानगढ़ी नामक मकबरा इल्तुतमिश ने अपने पुत्र नासिरुद्दीन मुहम्मद (ज्येष्ठ) की स्मृति में १२३१ ई० में बनवाया। इसकी प्राचीरें दुर्ग के परकोटे की तरह दृढ़ और विशाल हैं और इस तथ्य की ओर इंगित करती हैं कि उस समय तुर्क लोग अपने आपको भारत में कितना असुरक्षित समझते थे और मकबरों को भी किलों की तरह दृढ़ बनाते थे। इसके अन्दर वर्गाकार एक विशाल आंगन है जिसके मध्य में एक अठपहलू चबूतरा है। इसके नीचे भूगर्भ में कब्र है। अनुमान है कि चबूतरे के ऊपर एक मण्डप (Pavilion) मूलरूप से रहा होगा जो कालान्तर में नष्ट हो गया।

इस आंगन के पूर्व और पश्चिम की ओर खम्भोंदार दालान हैं। पश्चिम वाले दालान के मध्य में मुख्य कक्ष पर गुम्बद है और दीवार में क़िबला (महराब) बनाया गया है जो वहाँ मस्जिद होने का सूचक है। केवल यह महराब ही वहां मुस्लिम तत्त्व है, नहीं तो खम्मे, तोड़े, उत्कीर्ण शिलाएँ, छतें आदि सभी तत्त्व विशुद्ध भारतीय हैं।

स्पष्ट ही इसमें हिन्दू मन्दिरों से प्राप्त सामग्री को उपयोग में लाया गया है।

इल्तुतमिश का मकबरा गुलामवंश की इमारतों में सबसे अधिक अलंकृत इमारत है। इसकी रचना १२३६ में इल्तुतमिश की मृत्यु के आसपास हुई। यह एक विशाल, वर्गाकार कक्ष है जिसके तीन ओर मध्य में द्वार दिये गए हैं। पश्चिम की दीवार मक्का की दिशा सूचित करने के लिये बन्द कर दी गई है और वहां क़िबला बनाया गया है। रचना हल्के पीले रंग के पत्थर में की गई है। मकबरे के अन्दर व्यापक स्तर पर पत्थर में खुदाई का काम किया गया है। इसमें कुरान की आयतों को सुन्दर अरबी अक्षरों में खोदकर भी अलंकरण किया गया है और साथ-साथ अर्ध चक्र, कमल आदि विशुद्ध हिन्दू रूपक (Motifs) भी बनाये गए हैं। रेखाकृत डिज़ाइनों और आलंकारिक मेहराबों का भी प्रयोग हुआ है। पत्थर में खुदाई की कला में भारतीय कारीगर विशेष पारंगत था और यहां उसने अपनी निपुणता का बड़ा सुन्दर प्रदर्शन किया है।

इस मकबरे में कोण-महराबों (Squinch) का चारों कोनों में प्रयोग किया गया है और इस विधि से वर्गाकार कक्ष को ऊपरी भाग में अठपहलू योजना में परिवर्तित कर दिया है। प्रत्येक कोने पर फिर पत्थर रखकर इसे १६-पहलू बनाया गया और फिर इसके ऊपर मुस्लिम चाप वक्र (Arcuate) पद्धति से ही एक गुम्बद का निर्माण किया गया। यह गुम्बद कालान्तर में गिर गया। अनुमान है कि भारतीय कारीगरों ने यहां इस विधि से गुम्बद बनाने का पहली बार प्रयोग किया था और कक्ष के अनुपात से वे गुम्बद को आवश्यक ऊंचा नहीं बना सके और यह गुम्बद इसलिये स्थाई नहीं रह सका। कोण महराब और गुम्बद का इस मकबरे में प्रयोग वस्तुतः दोनों शैलियों के सम्मिश्रण की ओर इंगित करता है।

(२) **खिलजी युग की इमारतें (१२९०-१३२० ई०)**

इल्तुतमिश के वंशज अपने झगड़ों में उलझे रहे। बलबन के सामने मंगोलों से निपटने और सुल्तान के पद की मान और प्रतिष्ठा बढ़ाने की समस्याएं थीं और उसे भवन-निर्माण की ओर ध्यान देने का अवकाश ही नहीं मिला। अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली-सल्तनत का इसके पश्चात् एक प्रतापी सुल्तान हुआ। उसके राज्यकाल (१२९६-१३१६ ई०) की दो प्रमुख इमारतें शेष रह गई हैं-कुतुबमीनार के पास अल्लाई दरवाजा और जमातखाना मस्जिद जहां बाद में हज़रत निज़ामुद्दीन औलिया की समाधि बनी।

अलाउद्दीन ने कुव्वत-उल-इस्लाम मस्जिद में और विस्तार कराया और क़िबले की दीवार बढ़ाई। उसने कुतुबमीनार से भी बड़ी एक मीनार बनवाना आरम्भ किया जो किन्हीं कारणोंवश नहीं बन सकी। उसने अल्लाई दरवाजा भी इस मस्जिद के दक्षिणी द्वार की तरह से बनवाया। यह १३०५ में पूर्ण हुआ। इल्तुतमिश के मकबरे के समान यह भी वर्गाकार है किन्तु इसमें लाल पत्थर के साथ-साथ अलंकरण के लिये श्वेत संगमरमर का भी प्रयोग किया गया है। इसके चारों ओर सीढ़ियोंदार चार द्वार हैं जिनमें नुकीले महराबों का प्रयोग किया गया है। यह त्रिज्याकार महराब हैं। प्रत्येक महराब के नीचे बर्छी के फलों की माला दी गई है जिससे महराब का सौन्दर्य कई गुना बढ़ जाता है। (चित्र-३०) महराबों के नीचे पतले-पतले कमनोय स्तम्भ बनाये गये हैं जो बोझ तो उतना नहीं संभालते हैं जितना शोभा बढ़ाते हैं। इनकी कटाई देखते ही बनती है और सहज ही हिन्दू मन्दिरों की कला का स्मरण कराती है।

अल्लाई दरवाजा यद्यपि एक ही मंजिल की इमारत है किन्तु बाहर की ओर से इसकी दीवारों को दो मंजिलों में दिखाया गया है और उनमें संगमरमर के साथ सुन्दर कटाई का काम किया गया है। महराबों के साथ-साथ घूमती हुई अरबी अक्षरों में कटी कुरान की आयतें बड़ी भली लगती हैं। इसमें कोण-महराब का प्रयोग हुआ है और उनके आधार पर एक उपयुक्त गुम्बद बनाया गया है। जहां शेष इमारत पत्थर की है जिसे निस्सन्देह भारतीय कारीगरों ने सजाया है, गुम्बद चूने का बनाया गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि मूलरूप से इस पर चीनी टाइलस का चटकीले रंगों वाला अलंकरण किया गया था। अल्लाई दरवाजा

सल्तनत काल में निर्मित एक उत्कृष्ट कृति है। जहां पत्थर में खुदाई की कला का श्रेय भारतीय कलाकारों को मिलता है। इसमें कोण-महराब और गुम्बद जैसे मुस्लिम तत्त्वों का भी सफल प्रयोग हुआ है। १५वीं शताब्दी के वर्गाकार मकबरों ने अल्लाई दरवाजे से प्रेरणा ही नहीं ली, इसके रचना-विन्यास का अनुकरण किया और इस दृष्टि से अल्लाई दरवाजा सल्तनत काल में वास्तुकला के विकास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

जमातखाना मस्जिद भी लाल पत्थर की है। यह आयताकार है। मुख्य कक्ष में मिम्बर और क़िबला है और इसके दोनों ओर उपकक्ष हैं। कोण-महरावों द्वारा गुम्बद बनाये गये हैं। इन पर बड़े सुन्दर पद्मकोश, आमलक और कलश जैसे विशिष्ट हिन्दू तत्त्व हैं जो गुम्बद के सौन्दर्य में चार चाँद लगा देते हैं। इसके महराब भी अल्लाई दरवाजे जैसेही नुकीले और अलंकृत हैं। अल्लाई दरवाजे जैसी ही पत्थर में सुन्दर खुदाई का काम किया गया है जिसमें अरबी अक्षरों के रूपांकनों की बहुतायत है। इसमें सन्देह नहीं है कि छोटी-सी यह मस्जिद बड़े सुरुचिपूर्ण ढंग से बनाई गयी है और अत्यन्त उत्कृष्ट रूप से अलंकृत इमारतों में गिनी जाती है। यह उस युग की भी परिचायक है जिसमें ऐसी सुन्दर मस्जिद का बनाना सम्भव हुआ।

(३) तुग़लक कालीन इमारतें (१३२०–१४११ ई०)

तुग़लक वंश के संस्थापक ग्यासुद्दीन तुग़लक का मकबरा इस काल की बड़ी सुन्दर इमारत है। यह दिल्ली में तुग़लकाबाद में स्थित है। इसका निर्माण १३२५ में हुआ। यह मकबरा एक बड़ी कृत्रिम झील के मध्य में चट्टान पर स्थित एक छोटे से दुर्ग में बनाया गया है। दुर्ग में जाने का मार्ग एक तंग ऊंचे रास्ते द्वारा है और इस ढंग से किले को अभेद्य बना दिया गया है। इससे फिर उसी भावना का परिचय मिलता है जिसमें दिल्ली के शासक अपने आपको असुरक्षित समझते हैं और स्मारकों को बागों में बनाने की अपेक्षा किलों में बनाना अधिक पसन्द करते हैं।

यह मकबरा भी वर्गाकार (चित्र-३१) है और इसमें भी लाल पत्थर के साथ श्वेत संगमरमर का प्रयोग हुआ है। इल्तुतमिश के मकबरे की तरह ही पश्चिमी दीवार क़िबले के लिये बन्द कर दी गई है। शेष तीनों ओर मध्य में द्वार दिये गये हैं। इन द्वारों में एक नयी विशेषता देखने को मिलती है। इसमें मुस्लिम महराब (Arch) के साथ-साथ भारतीय उदम्बर (Lintel) का भी प्रयोग किया गया है। पत्थर की यह शिला बोझ को अधिक सहारा नहीं देती और स्पष्ट ही यह सौन्दर्य के लिये लगाई गई है। अनुमान है कि यह नया विधान भारतीय कारीगरों ने सुझाया जो कभी भी महराब पर भरोसा करने को तैयार नहीं होते थे और परम्परागत पद्धति पर ही रचना करना चाहते थे। जैसे-जैसे उन्हें कार्य करने की स्वतन्त्रता मिलती गई वे भारतीय तत्त्वों को जोड़ते चले गये। उदम्बर के प्रयोग से प्रत्येक द्वार का सौन्दर्य निखर उठा है। उसमें अल्लाई दरवाजे जैसी बर्छी के फलों की माला भी बनाई गई है। महराब का मध्य बिन्दु भारतीय कीर्तिमुख जैसा घुमावदार (Ogee Curve) बनाया गया है।

इसके विपरीत एक विदेशी तत्त्व भी इस मकबरे में देखने को मिलता है। इसकी बाहरी दीवारें सीधी, लम्बवत् नहीं हैं, उनमें ढाल दिया गया है। ढाल की मात्रा मिश्र के पिरामिडों जैसी नहीं है, बहुत कम है और समरूप दी गई है। अन्दर कक्ष में यह ढाल नहीं है। कोण-महराबों द्वारा गुम्बद का निर्माण किया गया है। यह इकहरा गुम्बद इमारत को बड़े सुन्दर और प्रभावशाली ढंग से आच्छादित किये हुए है। इस गुम्बद पर भारतीय आमलक और कलश बनाये गये हैं जिनसे यह और भी अधिक सुन्दर लगता है। मन्दिर के शिखर की तरह गुम्बद भी इन इमारतों को जैसे मुकुट पहनाता है।

इस प्रकार इस इमारत में भारतीय और मुस्लिम दोनों तत्त्वों का बड़ा मनोरम समामेलन हुआ है। महराब के साथ उदम्बर लगाया गया है, कोण महराबों के साथ तोड़ों (Brackets) का प्रयोग है और गुम्बद पर आमलक और कलश का उपयोग हुआ है। वास्तव में यहीं से सही अर्थों में एक मिश्रित शैली का प्रारंभ होता है जिसका चरमोत्कर्ष मुगलों के स्वर्णकाल में हुआ।

फ़िरोज़ तुगलक का मकबरा १३८८ में बना। फ़िरोज़ कट्टर धार्मिक दृष्टिकोण का पक्षपाती था और वातावरण के प्रभाव से इस्लाम में जो भारतीय तत्त्व घुलमिल गये थे उन्हें निकाल देना चाहता था। धर्म के मामले में ही नहीं वास्तुकला में भी उसकी धार्मिक पक्षपात की नीति का परिचय मिलता है। भारतीय कारीगर पत्थर के काम में दक्ष था इसलिये उसने अनगढ़ पत्थरों और चूने की इमारतें बनवाईं जिससे भारतीय कारीगर को अपनी परम्परागत शैली में काम करने का कम से कम अवसर मिले। चूने में इमारतें बनवाने से शुद्ध मुस्लिम रंगीन विधियों से अलंकरण करने की भी सुविधा होती थी। फ़िरोज के मकबरे में इस प्रकार पत्थर का काम बहुत कम है अधिकांश चूने की रचना है। इसमें भी बाहरी दीवारों में ढाल दिया गया है। लेकिन वह बहुत कम है।

इसमें दो द्वार हैं। द्वार बनाने की बड़ी सुन्दर विधि इस युग तक विकसित हो गयी थी। सामने के भाग को कुछ आगे बढ़ाकर उसमें एक विशाल महराब की आकृति बनाई जाती थी। इसमें फिर आवश्यक ऊंचाई का द्वार बनाया जाता था। फ़िरोज तुगलक के मकबरे के द्वार में उदम्बर और भारी तोड़े काम में लाये गये हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि ये तत्त्व इतने अधिक प्रचलन में आगये थे कि उन पर आपत्ति नहीं होती थी। मकबरे के अन्दर कोण-महराबों के प्रयोग द्वारा गुम्बद का निर्माण किया गया है। बाहर की ओर गुम्बद एक अठपहलू आधार (Drum) पर बनाया गया है। इस पर आमलक या कलश जैसे हिन्दू तत्त्व नहीं हैं। मकबरे के बाहर पत्थर की एक वेदिका (Railing) मथुरा और सांची की प्राचीन पद्धति पर अवश्य बनाई गयी है जो इस कट्टर सुन्नी सुल्तान के मकबरे में बड़ी आश्चर्यजनक लगती है।

भारतीय कलाकार ने इससे कुछ पहले एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया। गुम्बद बनाने की आवश्यकता से अब इन्कार नहीं किया जा सकता था। किन्तु वर्गाकार कक्षों के ऊपर गोल गुम्बद बनाने में बड़ी कठिनाई होती थी और कोण-महराबों आदि का प्रयोग करना पड़ता था। धीरे-धीरे यह अनुभव किया गया कि यदि इमारत ही अठपहलू (Octagonal) बनायी जाये तो उस पर गुम्बद बनाना बड़ा सुविधाजनक होगा। अतः १३६७-६८ में खान-ए-जहान तेलंगानी का मकबरा अठपहलू योजना पर बनाया गया। मुख्य कक्ष अठपहलू रखा गया और उसके बाहर आठों ओर खुला बरामदा बनाया गया। प्रत्येक भुजा में तीन महराब दिये गये और सब तरफ ऊपर छज्जा ढका गया। प्रधान गुम्बद के आठों ओर आठ लघु गुम्बद (Cupola) बनाये गये। पत्थर का व्यापक प्रयोग किया गया।

यह मकबरा मध्यकालीन वास्तुकला के विकास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यद्यपि इसमें बहुत से तत्त्वों का प्रयोगात्मक रूप में उपयोग हुआ है फिर भी यह सल्तनत युग की इमारतों में बढ़ते हुए भारतीय प्रभाव का सूचक है। छज्जे द्वारों में उदम्बर और तोड़े, गुम्बद पर आमलक और कलश आदि का प्रयोग इसी दिशा में संकेत करता है। इस मकबरे से ही बाद में सैय्यदों, लोदियों और सूरों के सुन्दर और विशाल अठपहलू मकबरों का विकास हुआ।

ऐसा लगता है कि फ़िरोज़ तुग़लक भरसक प्रयत्न करके भी मुस्लिम और हिन्दू शैलियों के सम्मिश्रण की प्रक्रिया को रोक नहीं सका। जिन इमारतों को वह स्वयं बनवाता था उनमें वह भारतीय तत्त्वों को नियन्त्रण में रख सकता था, किन्तु अन्य इमारतों में ये तत्त्व खुलकर प्रकाश में आ जाते थे। संस्कृतियों के समामेलन की यह भावना इतनी स्वाभाविक थी कि इसे रोक पाना फ़िरोज़ तुग़लक या किसी के बस की बात नहीं थी।

फ़िरोज़ तुग़लक के राज्यकाल में कुछ बड़ी-बड़ी मस्जिदें भी बनवाई गयीं। ये दो प्रकार की थीं। एक परम्परागत योजना के अनुसार बनाई जाती थीं जिसके बीच में एक विशाल आंगन होता था और तीन तरफ दालान। मुख्य द्वार पूर्व की ओर होता था, उत्तर और दक्षिण की ओर भी उपद्वार बनाये जा सकते थे। आंगन के पश्चिम की ओर एक विशाल इमारत के रूप में आराधना भवन (Sanctuary) होता था जिसमें मुख्य कक्ष में क़िबला और मिम्बर होते थे। दालान और आराधना

भवन के सभी मुख महराबों द्वारा बनाये जाते थे। मुख्य कक्ष का मुख्य द्वार एक विशाल महराब होता था जिसे ईवान (Iwan) कहते हैं। इसके दोनों ओर सम्बद्ध गर्जराकार मीनारें (Tapering Turrets) होती थीं। छत पर गुम्बदों का प्रयोग होता था। सबसे बड़ा गुम्बद आराधना भवन के मुख्य कक्ष पर होता था। कोटला फ़िरोज़शाह की जामी मस्जिद, काली मस्जिद और बेगमपुरी मस्जिद इसी (चित्र-३२) वर्ग की मस्जिदें हैं। इनमें खम्भों और छज्जे का प्रयोग तो हुआ है किन्तु रचना मूलरूप से अनगढ़ पत्थर और चूने में हैं। चूने का मोटा प्लास्टर सब ओर किया गया है जिस पर मूल रूप से शायद रंगीन अलंकरण किया गया होगा और जो अब काला पड़ गया है।

दूसरे वर्ग की मस्जिदें 'कलां' और 'खिड़की' मस्जिद (चित्र ३३, ३४) हैं। इनको चार भागों में बांटा गया है। प्रत्येक भाग में एक खुला आंगन और उसके चारों ओर दालान दिए गये हैं। इसमें लघु-गुम्बदों (Cupolas) का बड़ा व्यापक प्रयोग हुआ है और खम्भों या छज्जों का सर्वथा अभाव है। अनुमान है कि ये मस्जिदें किसी विदेशी प्रेरणा के फलस्वरूप बनाई गई और इनमें कोई भी भारतीय तत्त्व नहीं आने दिया गया। किन्तु यह योजना चली नहीं। फ़िरोज़ के ही राज्यकाल में परम्परागत मस्जिदों का निर्माण हुआ और उसके बाद तो 'चतुरांगण' मस्जिदें बनाई ही नहीं गईं।

फ़िरोज़ तुग़लक की मस्जिदों की एक अपनी अलग ही श्रेणी है। उनमें चूने का प्रयोग है और बाहरी दीवारों पर विभिन्न विधियों द्वारा ढाल दिया गया है। रेखाकृत, अरबी आयतों और अरबी लिपि से मिलते-जुलते (Arabesque) अलंकरण चूने में किये गये हैं और भारतीय पत्थर की खुदाई और रूपकों को यथासम्भव बहिष्कृत रखा गया है। पद्मकोश, आमलक, कलश, छत्री, छज्जा, तोड़े आदि भारतीय-तत्त्वों का भी प्रयोग नहीं किया गया है। परिणामस्वरूप ये इमारतें भद्दी और बदसूरत लगती हैं और उस युग की परिचायक हैं जिसमें इस्लाम के कट्टर दृष्टिकोण के अनुसार शासन किया गया और राज्य को धार्मिक अत्याचार का साधन बना दिया गया। इनका देश की संस्कृति या मध्यकालीन वास्तुकला के विकास की मुख्य धाराओं से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(४) सैय्यदों, लोदियों और सूरों की इमारतें (१४११-१५४५ ई०)

१५-१६वीं शताब्दी राजनीतिक उथल-पुथल का युग था। १३९८ में तैमूर के हमले ने तुग़लकों की बची-खुची शक्ति समाप्त कर दी। १४११ में खिज्र खां ने सैय्यद वंश की नींव डाली। १४५१ में बहलोल लोदी ने सैय्यदों को हटाकर लोदी वंश की स्थापना की। १५२६ में पानीपत के युद्ध में अन्तिम लोदी सुल्तान इब्राहीम हार गया और मारा गया और दिल्ली आगरा के प्रदेश बाबर के हाथ आगये। किन्तु १५४० में शेरशाह सूर ने हुमायूँ को हरा दिया और देश से बाहर खदेड़ दिया। १५४५ में उसकी मृत्यु के पश्चात् सूर साम्राज्य तितर-बितर हो गया और १५५६ में मुग़लों ने इन प्रदेशों को फिर जीत लिया।

किन्तु सम्पूर्ण १५वीं शताब्दी में एक ही वास्तु शैली निरन्तर चलती रही और वंशों या सुल्तानों के परिवर्तन से शैली के क्रमिक विकास पर अन्तर नहीं पड़ा। इसके बाद भी यद्यपि १५२६ में मुग़ल साम्राज्य की स्थापना हुई, किन्तु अकबर के अभ्युदय से पहले तक इमारतें उसी पद्धति पर बनाई जाती रहीं। इसका चरमोत्कर्ष शेरशाह (१५४०-४५) की इमारतों में मिलता है। इसलिए सैय्यद, लोदी और सूर—इन तीनों वंशों के राज्यकाल की इमारतों को एक ही शैली के अन्तर्गत अध्ययन करना होगा।

इसमें दो प्रकार के मकबरे बनाये गए एक वर्गाकार और एक अठपहलू। वर्गाकार मकबरों में बड़े खान-का गुम्बद, छोटे खान का गुम्बद, बड़ा गुम्बद, शोश गुम्बद, दादी का गुम्बद, पोली का गुम्बद और ताजखान का मकबरा मुख्य हैं। इस मकबरे की योजना और रचनाविन्यास अल्लाई दरवाजे जैसी है अर्थात् अन्दर एक बड़ा हाल है जिसमें कोण-महराबों द्वारा गुम्बद बनाया गया है। किन्तु बाहर की दीवारें इस प्रकार बनाई गई हैं कि मकबरे में दो या तीन मन्जिलें लगती (चित्र-३५) हैं। पश्चिम की तरफ बन्द दीवार में क़िबला है और

तीन तरफ द्वार हैं जिनमें महराब और साथ-साथ तोड़ों पर आधारित उदम्बर हैं। यह तत्त्व ग्यासुद्दीन तुगलक के मकबरे से प्रारंभ होकर इन मकबरों में विकसित हुआ है। इमारत के ऊपर एक भारी, इकहरा, विशाल गुम्बद है जिसके चारों कोनों पर चार छत्रियां हैं। गुम्बद पर आमलक और कलश हैं। इसमें कहीं भी ढाल नहीं दिया गया है। अन्दर चूने और रंगीन विधियों से अलंकरण हुआ है। पत्थर की कटाई का काम भी है। कुछ मकबरे बड़े सुन्दर और प्रभावशाली लगते हैं। विशेष रूप से इन मकबरों की ऊर्ध्वरचना (Super-Structure) बड़ी आकर्षक है।

अठपहलू मकबरे अधिकतर सुल्तानों के लिये बनाए गए। ये वर्गाकार मकबरों की अपेक्षा चौड़ाई में अधिक हैं किन्तु ऊंचाई में कम हैं। इनमें मुबारक सैय्यद का मकबरा, मुहम्मद सैय्यद का मकबरा, सिकन्दर लोदी का मकबरा और सासाराम (बिहार) में स्थित हसन खां सूर और (चित्र–३६) शेरशाह सूर के मकबरे मुख्य हैं। वर्गाकार मकबरों की तरह इनकी चौकियां ऊंची नहीं हैं। मुख्य कक्ष जिसमें कब्र है अठपहलू है और उसके बाहर हर दिशा में एक खुला हुआ बरामदा है। इसकी प्रत्येक भुजा में तीन-तीन महराब हैं जिनमें मध्य का महराब कुछ बड़ा होता है। सब तरफ एक विशाल छज्जा दिया गया है। प्रत्येक कोने पर बाहर की ओर एक ढलवां वप्र (Buttress) है जो दृढ़ता के लिये कम और परम्परागत सौन्दर्य के लिये अधिक प्रयोग में लाया गया प्रतीत होता है। मुख्य कक्ष पर एक विशाल भारी गुम्बद है जिसके नीचे गुलदस्ते या छत्रियां बनाई गई हैं। द्वार में महराब की आकृति है किन्तु प्रवेश तोड़ों पर आधारित उदम्बर के द्वारा दिया गया है। सम्पूर्ण रचना पत्थर की है। केवल गुम्बद ईंटों और चूने का बना है जिसमें अन्दर रंगीन चित्रकारी की गई है। बाहर की ओर मूल-रूप से चीनी टाइल्स का काम किया गया था। इस पर भव्य पद्मकोश और आमलक हैं। गुम्बद पहले इकहरे बनाए गए, सिकन्दर लोदी के मकबरे में दुहेरा गुम्बद (Double-Dome) है अर्थात् वह बीच में से खोखला है। गुम्बद को ऊंचा उठाने की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग था। कक्ष पर छत पाट कर स्थपति एक समस्या निबटा लेता था और फिर वह गुम्बद को इच्छित ऊंचाई तक उठा ले जा सकता था। इमारत का सम्पूर्ण सौन्दर्य उसके उठान (Elevation) पर आश्रित था और धीरे-धीरे स्थपति ऊंचाई बढ़ाकर अपनी कृति को सुन्दर बनाना सीख गया। इस सिद्धान्त का चरमोत्कर्ष ताजमहल में हुआ जिसमें चौड़ाई कम और ऊंचाई कहीं अधिक है। फिर भी समानुपात अत्यन्त मनोरम हैं।

शेरशाह का मकबरा अठपहलू वर्ग में सबसे सुन्दर मकबरा है। (चित्र–३७) मकबरों के इतिहास में इसका महत्त्व ताजमहल से कुछ ही कम है। एक भील में सीढ़ियोंदार एक ऊंची चौकी पर इसका निर्माण हुआ है। मूल योजना वही है किन्तु विभिन्न अंगों के सम्मिश्रण और विकास से इसकी शोभा अत्यन्त बढ़ गई है। चौकी के चारों कोनों पर चार विशाल छत्रियां दी गई हैं जो मुख्य इमारत को चारों ओर से सुशोभित करती हैं। मुख्य इमारत में भी छत्रियों का बड़ा व्यापक प्रयोग हुआ है। आठ छत्रियां बरामदे के ऊपर कोनों पर हैं। फिर आठ गुम्बद के आधार पर बनाई गई हैं जो इस प्रकार एक स्वतन्त्र मंजिल सी बन गई हैं। विशाल गुम्बद पर अत्यन्त आकर्षक पद्मकोश, आमलक और कलश बनाया गया है। वास्तव में इस इमारत का सम्पूर्ण सौन्दर्य ऊर्ध्वरचना (Super-structure) में केन्द्रित है। निर्माण में पत्थर का प्रयोग हुआ है किन्तु अलंकरण के लिये रंगीन विधियां भी काम में लाई गई हैं। महराब आलंकारिक रूप से अधिक प्रयुक्त हुए हैं। वास्तव में रचना भारतीय परम्परागत क्षैतिज (Trabeate) है जिसमें पत्थर की शिलाओं को उदम्बर और अन्य विधियों में काम में लाया गया है। यह मकबरा मुस्लिम-भारतीय-शैली के विकास में उस अवस्था का सूचक है जहां एक दूसरे के तत्वों को अपनाने में अब कोई हिचकिचाहट नहीं रह गई थी और मुक्त रूप से एक मिश्रित पद्धति का परिपालन हो रहा था।

लोदियों और सूरों के युग में बड़ी-बड़ी मस्जिदें बनवाई गईं जिनमें बड़ा गुम्बद मस्जिद, खैरपुर मस्जिद, मोठ की मस्जिद, जमाला मस्जिद और

शेरशाह की किला-ए-कुहना मस्जिद मुख्य हैं। ये सब एक ही वर्ग की मस्जिदें हैं। ये तुग़लकों की मस्जिदों से छोटी हैं और इनमें आंगन, दालान, उपद्वार आदि नहीं होते हैं। मीनार आदि और अंग भी इनमें नहीं हैं। वास्तव में इसमें मुख्य आराधना-भवन (Sanctuary) ही होता है जिसमें पांच कक्ष होते हैं और परिणामस्वरूप मुख में पांच महराबद्वार होते हैं। अतः इसका 'पंचमुखी' मस्जिद नामकरण करना सुविधाजनक होगा। पहली दो मस्जिदों में चूने का काम अधिक है, बाद की तीनों पत्थर की हैं। मोठ की मस्जिद में पीछे की ओर दोनों तरफ, दो मंजिल की एक-एक अट्टालिका (Tower) बनाई गई जिसमें खम्भे तोड़े और छज्जे का प्रयोग किया गया। सामने की ओर भी छज्जा दिया गया। पार्श्व में दोनों ओर बाहर निकली हुई प्रसादिकाएं (Oriel-Windows) बनाई गईं जो विशुद्ध भारतीय तत्त्व है। जमाला मस्जिद में इन अंगों में घटा-बढ़ी की गई। गुम्बद पर पद्मकोश और आमलक की छटा बनी रही।

इस वर्ग की सबसे सुन्दर मस्जिद दिल्ली के पुराने किले में स्थित शेरशाह की मस्जिद है जिसे किला-ए-कुहना मस्जिद कहते हैं। (चित्र-३८) इसमें वही पांच कक्ष हैं किन्तु उनमें त्रिज्याकार छतें बनाने के लिये विविध विधियों का प्रयोग हुआ है। मुख्य कक्ष के ऊपर गुम्बद है जिस पर पद्मकोश, आमलक और कलश आदि बड़े आकर्षक भारतीय उपकरणों का प्रयोग हुआ है। पीछे मोठ की मस्जिद जैसी ही अट्टालिकाएं हैं। मुख में आलंकारिक महराबों में प्रवेश भी महराबों द्वारा दिया गया है। पत्थर में सुन्दर खुदाई और कटाई की कला का प्रदर्शन तो हुआ ही है रंगीन पत्थरों द्वारा जड़ाऊ (Inlay) काम भी किया गया है। मिश्रित शैली के दृष्टिकोण से ही नहीं, सौन्दर्य के दृष्टिकोण से भी यह मस्जिद एक उत्कृष्ट कृति है और मुग़लों से पहले की मस्जिदों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

१०

प्रान्तीय वास्तुशैलियां

सल्तनत काल में बंगाल, जौनपुर, गुजरात, मालवा आदि प्रान्तों में स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना हुई और उनके अधीन बड़ी-बड़ी इमारतें बनवाई गईं। वैसे इनमें अधिकांश मकबरे और मस्जिदें हैं किन्तु कुछ महल और सार्वजनिक इमारतें भी बनवाई गईं जैसे मांडू में आवास के महल और गुजरात में बावड़ियां और तालाब। इनमें यद्यपि स्थानीय परिवर्तन और घटा-बढ़ी की गई है किन्तु मूल रूप से सल्तनत युग की मिश्रित शैली का ही प्रयोग हुआ है। महराब और गुम्वद मुस्लिम इमारतों में लगभग आवश्यक रूप से बनाये जाते रहे। महराबों की वक्रचाप विधियों में कोण-महराब, निच्यावाण और ईवान (Portal) विभिन्न रूपों में प्रयुक्त हुए। गुम्बद की भी विविध आकृतियों का प्रयोग किया गया। इनके साथ-साथ भारतीय खम्भों, तोड़े, उदम्बर, छज्जे, छत्रियां, पद्मकोश, आमलक और कलश आदि का भी उपयोग हुआ। विशेषकर गुजरात में हिन्दू और जैन मन्दिर जिस शैली पर बनाये जाते थे वह मुस्लिम इमारतों में भी अधिकांशतः काम आती रही। गुजरात की मस्जिदों में कहीं-कहीं तो महराब का प्रयोग प्रतीक स्वरूप ही हुआ है, नहीं तो सम्पूर्ण रचना भारतीय तत्त्वों से की गई है। पत्थर काम में लाया गया है, पत्थर की खुदाई ही से अलंकरण किया गया है। प्रेरणा को स्वीकार तो किया गया किन्तु मूल रूप को बना रहने दिया गया। इस प्रकार इस काल में हिन्दू और मुस्लिम दोनों पद्धतियों के समामेलन के विविध रूप देखने को मिलते हैं। उदाहरण के लिये बंगाल, जौनपुर, पंजाब, गुजरात, मालवा और दक्षिण की कुछ प्रान्तीय शैलियों का पर्यवेक्षण कर लेना आवश्यक है।

(१) बंगाल :

बंगाल में वर्षा अधिक होती है। गंगा और उसकी सहायक नदियों का जाल बिछा हुआ है। प्रदेश उर्वर है और बांस और लकडी बहुतायत से होते हैं। पत्थर की कमी के कारण, इनका प्राचीन काल से ही स्थापत्य में प्रयोग होता आया था। जलवायु नम होने के कारण भी भवन-निर्माण में इस सामग्री से बड़ी सहायता मिलती थी। प्रादेशिक विशेषताओं के अनुरूप ही यहां वास्तुकला का विकास हुआ।

लगभग दिल्ली सल्तनत के साथ-साथ ही यहां मुसलमानी राज्य की स्थापना हुई। केन्द्र से बहुत दूर और एक सम्पन्न प्रदेश में होने के कारण यहां के सूबेदार स्वतंत्र होने का लोभ संवरण नहीं कर पाते थे। इल्तुतमिश के काल से ही दिल्ली और लखनौती (गौड़) के मध्य संघर्ष प्रारम्भ हो गया था। धीरे-धीरे दिल्ली के सुल्तान अपने झगड़ों में इतने उलझ गए कि वे लखनौती पर अपना नियन्त्रण स्थायी नहीं रख सके। यहां स्वतन्त्र राज्य की

स्थापना हुई। बड़ी-बड़ी इमारतें बनवाई गईं। सांस्कृतिक क्षेत्र में और भी विविध प्रयोग हुए। शेरशाह ने बंगालियों से फिर युद्ध प्रारम्भ किया। हुमायूं ने गौड़ को जीत लिया। किन्तु शेरशाह के साथ संघर्ष में वह हार गया और उसे देश छोड़कर भागना पड़ा। शेरशाह ने बंगाल को सात भागों में बांट दिया और उसके प्रशासन की विधिवत् व्यवस्था की। अकबर के काल से बंगाल मुग़ल साम्राज्य का अभिन्न अंग बन गया। किन्तु यहाँ की सूबेदारी बड़ी कंटकमय समझी जाती थी और अधिकांशत: सजा देने के लिए ही मनसबदारों को यहां का सूबेदार बनाया जाता था।

सल्तनत काल में गौड़ बंगाल की राजधानी रहा। राजधानी एक बार पाण्डुआ चली गई किन्तु १४४२ में फिर गौड़ लौट आई। इस काल की सभी इमारतें इस प्रकार गौड़ और पाण्डुआ में हैं। इनमें से अधिकांश नष्ट हो गई हैं। कुछ शेष हैं जिनमें पाण्डुआ की अदीना मस्जिद और गौड़ में स्थित दाखिल दरवाजा, कदम रसूल, तांतीपुरा और छोटी सोना मस्जिदें मुख्य हैं।

पाण्डुआ की अदीना मस्जिद का निर्माण १३६४ के लगभग सुल्तान सिकन्दरशाह ने कराया। यह एक विशाल जामी मस्जिद है जिसमें हजारों व्यक्तियों के नमाज पढ़ने के लिए स्थान है। इसकी वही परम्परागत योजना है अर्थात् बीच में आंगन है जिसके तीन ओर महराबदार दालान हैं। पश्चिम की ओर आराधना भवन है। उत्तरी दालान के ऊपर एक मञ्जिल और बनाई गयी है। यहां भारी चौड़े खम्भों से महराबदार निर्माण किया गया है जो दृढ़ तो है ही, खम्भों और महराबों का सुरुचिपूर्ण सम्मिश्रण होने के कारण बड़ा अच्छा लगता है। खम्भे पत्थर के हैं, महराबों में ईंटों का प्रयोग किया गया है।

आराधना भवन का मुख्य कक्ष (Nave) विशेष रूप से अलंकृत है। यहां पत्थर की सुन्दर कारीगरी के दर्शन होते हैं। कमल और कुछ अन्य रूपक हिन्दू हैं। किबले की दिशा सूचित करने वाला महराब बुद्ध चैत्यों और बिहारों में प्रयुक्त आलय (Niche) की स्पष्ट अनुकृति है। इसमें तीन दांत हैं (Trefoil) जो दो सुन्दर कमनीय स्तम्भों पर आधारित हैं। एक ओर एक अन्य दांतेदार आलय है और दूसरी ओर सीढ़ियोंदार मिम्बर है। इसकी छत और गुम्वद ईंटों के थे और शायद सही अनुपात न होने के कारण वे गिर गए। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अदीना मस्जिद अपने युग की अत्यन्त सुन्दर और भव्य इमारत रही होगी।

नदियों, बाढ़ों और अतिशय वर्षा के इस प्रदेश में परम्परागत रूप से जो मकान बनते थे उनकी छतें ऐसी बनाई जाती थीं जिससे वे हल्की रहें और वर्षा का पानी नीचे आसानी से बह जाए। ये छतें बांसों को मोड़कर बनाई जाती थीं और फूंस से ढकी जाती थीं। धीरे-धीरे मुड़ी हुई नुकीली छतें यहां के स्थापत्य का एक विशिष्ट अंग बन गई। इमारतें जब ईंट और पत्थर की बनाई जाती थीं तब भी यह तत्त्व उसमें परम्परागत रूप से रहता था। १४२५ के लगभग पाण्डुआ में निर्मित सुल्तान जलालुद्दीन मुहम्मदशाह का मकबरा, जिसे एक लक्खी मकबरा कहते हैं इस बात का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। मुड़ी हुई बाँस की छत जैसा ही इसका रचना विधान है। गौड़ में स्थित छोटी सोना मस्जिद (१४९३–१५१९) की छत भी पत्थर की होते हुए भी इसी प्रकार की है। इसमें मध्य गुम्बद को बंगाल की झोपड़ी की छत जैसा ही बनाया गया है। इस मस्जिद में पत्थर की कटाई का सुन्दर काम किया गया है। दाँतेदार महराबों का प्रयोग हुआ है। गौड़ की तान्तीपुरा मस्जिद (१४७५) में पत्थर की कटाई का ऐसा ही सुन्दर काम देखने को मिलता है। गौड़ में अन्य बहुत-सी इमारतें बनवाई गई थीं। जिनमें से अधिकांश नष्ट हो गई हैं। कुछ मस्जिदें, जैसे चमकट्टी मस्जिद, लौटन मस्जिद, गुम्मट मस्जिद, बड़ी सोना मस्जिद और कदम रसूल मस्जिद अभी शेष हैं। इनका निर्माण १४७५ से १५३० के मध्य हुआ। इनमें पत्थर के साथ-साथ ईंटों का भी व्यापक प्रयोग किया गया था। कहीं-कहीं ईंटों के साथ मृण्मय अलंकरण हुआ था। गौड़ के खंडहरों से रंगीन टाइलों के उदाहरण उपलब्ध हुए हैं जो यह संकेत करते हैं कि यहां आमतौर पर ईंटों से निर्माण होता था और उसमें

अलंकरण के लिए रंगीन टाइल लगाए जाते थे। तान्तीपुरा और लौटन मस्जिदों में तो ये टाइलें अभी लगी हुई हैं।

१५वीं शताब्दी में निर्मित गौड़ में ही स्थित दाखिल-दरवाजा अपने युग में एक प्रभावशाली इमारत रहा होगा। यह ईंटों से बनाया गया था। इसमें एक विशाल महराबदार द्वार है जिसके दोनों ओर गर्जराकार अट्टालिकाएं हैं। दूर से ही यह किसी दुर्ग का दृढ़ प्रवेश द्वार सा लगता है। इसमें भी मृणमय अलंकरण किया गया था। लगभग इसके समकालीन ही निर्मित फिरोज मीनार भी गौड़ में ही स्थित है। यह पांच मंजिल की है और ८४ फीट ऊंची है। इसे विजय-स्तम्भ के रूप में बनवाया गया था। यह भी ईंटों की बनी है और इसमें अलंकरण के लिये नीली और सफेद टाइलों का प्रयोग हुआ है।

बंगाल की शैली का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व मुड़ी हुई नुकीली छत है। स्मरण रखने की बात है कि गौड़ का राज्य समाप्त होने पर यहां के कारीगर धीरे-धीरे मुग़ल आश्रय में चले गये। उन्होंने इस तत्त्व का सूत्रपात मुग़ल वास्तुकला में किया जिसके प्रमाण आगरे के खास महल और नगीना मस्जिद में और दिल्ली की मोती मस्जिद में मिलते हैं। मुग़लों के पतन के पश्चात् राजपूत वास्तुकला में यह तत्त्व इतना अधिक प्रभावशाली हो गया कि मुड़ी हुई नुकीली छतें और वैसे ही मुड़े हुए नुकीले महराब उनकी इमारतों के विशिष्ट अंग बन गये।

(२) जौनपुर :

फिरोजशाह तुग़लक (राज्यकाल १३५१-१३८७) ने गोमती के किनारे एक नगर बसाया और उसका नाम अपने चचेरे भाई मुहम्मद बिन तुग़लक (जिसे जौना खां कहते थे) की स्मृति में जौनपुर रखा। तुग़लक राज्य के अन्तर्गत यहां के सूबेदार मलिक-उल-शर्क कहलाते थे और इसी से शर्की वंश की नींव पड़ी। १३९८ में तैमूरलंग के आक्रमण का लाभ उठाकर ये स्वतन्त्र हो गये। लोदी वंश के संस्थापक बहलोल लोदी का जौनपुर के शर्कियों से भयंकर संघर्ष हुआ। बहलोल ने अन्त में हुसेन शाह शर्की को हरा दिया और जौनपुर पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार शर्कियों को राज्य करने के लिए सौ वर्ष से भी कम समय मिला। किन्तु इस अल्प-काल में ही जौनपुर उत्तरी भारत का एक महत्त्व-पूर्ण सांस्कृतिक केन्द्र बन गया। यहां राज्याश्रय में संगीतज्ञों और चित्रकारों को संरक्षण मिलता था। यहां बड़े-बड़े कालिज थे जहां दूर-दूर से विद्यार्थी पढ़ने आते थे। इसे इसलिये भारत का शीराज़ कहा जाता था। शेरशाह सूर ने भी यहीं शिक्षा पाई थी।

इस काल में यहां कुछ बड़ी-बड़ी मस्जिदें बनवाई गईं जिनमें शमसुद्दीन इब्राहीम द्वारा १४०८ में निर्मित अटाला मस्जिद, महमूदशाह के राज्य-काल में १४५० में निर्मित लाल-दरवाजा मस्जिद, और हुसेनशाह द्वारा १४७० में निर्मित जामी मस्जिद प्रमुख हैं। ये तीनों एक ही श्रेणी की मस्जिदें हैं और तीनों की एक ही योजना विन्यास है अर्थात् मध्य में एक विशाल खुला हुआ आंगन जिसके तीन ओर बड़े-बड़े दालान और पश्चिम की ओर आराधना गृह है। आराधना गृह से मध्य में मुख्य कक्ष है जिसके ऊपर मुख्य गुम्बद है। किन्तु इसके सामने की ओर ईवान के रूप में एक विशाल महराब खड़ा किया गया है जिसने मुख की ओर से गुम्बद को बिलकुल छिपा दिया है। ध्यान रखने की बात यह है कि गुम्बद का ध्येय नीचे के कक्ष के ऊपर छत पाटना ही नहीं था, ऊर्ध्व रेखा में उसकी शोभा बढ़ाना भी था। इन मस्जिदों में गुम्बद को इस प्रकार ढककर यह सौन्दर्य तत्त्व नष्ट कर दिया गया है और जौनपुर की मस्जिदों की यह बहुत बड़ी कमजोरी है। स्पष्ट ही इन मस्जिदों की प्रेरणा दिल्ली की बेगमपुरी मस्जिद (१३८७) से ली गई जिसमें मध्य में ऐसे ही ईवान का आयोजन था। किन्तु यहां ईवान की गहराई घटा दी गई और ऊंचाई इतनी बढ़ाई गई कि अनुपात नियन्त्रण से बाहर हो गए। विभिन्न अंगों में तालमेल बिगड़ गया। थोड़ा बहुत सौन्दर्य पत्थर की सुन्दर कटाई के कारण शेष रह गया है।

इन मस्जिदों में पत्थर का व्यापक प्रयोग हुआ है। खम्भों और तोड़ों से रचना की गई है। कुछ सामग्री हिन्दू मन्दिरों से ली गई है। नुकीले

महरावों में बर्छी के फल वाली माला लगाई गई है। अलंकरण के लिये खाली आलयों (Niches) का भी काफी उपयोग किया गया है। ईवान में ढाल दिया गया है जो इस युग की सल्तनत वास्तुकला का विशिष्ट तत्त्व था। भारतीय कारीगरों ने सम्पूर्ण सौन्दर्य को बनाए रखने का काफी प्रयत्न किया है किन्तु वास्तुकला में जिन तत्त्वों से ललित और कमनीय सौन्दर्य का बोध होता है उनका इन मस्जिदों में अभाव है।

(३) पंजाब और सिन्ध :

पंजाब और सिन्ध के प्रदेशों में मुसलमानी सभ्यता का प्रभाव सबसे पहले और सबसे अधिक पड़ा। यहां ईंटों से मकान बनाने का रिवाज था और परिणामस्वरूप रंगीन टाइलों से अलंकरण किया जाता था। यह ईरानी पद्धति थी। लाहौर में सल्तनत काल की इमारतों के अवशेष महत्त्वहीन हैं। मुल्तान में कुछ बड़े-बड़े मकबरे अवश्य शेष रह गये हैं। इनमें शाह युसुफ गर्दिज़ी का मकबरा (११५०), शदना शहीद शमसुद्दीन तबरिज़ी और बहाउलहक के मकबरे (निर्माणकाल १२६० से १२८० के मध्य) और शेख रुकने आलम का मकबरा (१३२०-२५) प्रमुख हैं। बहाउलहक, शमसुद्दीन तबरिज़ी और रुकने आलम के मकबरे अठपहलू हैं। प्रत्येक भुजा में एक-एक महराब है और कोनों पर निर्यूह (Pinnacles) दिये गये हैं। ऊपर एक विशाल गुम्बद बनाया गया है जिस पर पद्मकोश और कलश हैं। कटी हुई ईंटों से अलंकरण करने की विधि के अतिरिक्त इनमें रंगीन टाइलों का भी व्यापक प्रयोग किया गया है। यह अलंकरण ही इन इमारतों का विशिष्ट तत्त्व है।

सिन्ध में कटी हुई अलंकृत ईंटों और रंगीन टाइलों का उपयोग सबसे अधिक होता था। सम्मा वंश की सभी इमारतें इसी शैली में हैं। दबगीर मस्जिद, मकली पहाड़ी के मकबरे और मुगल युग में निर्मित जानीबेग का मकबरा और थट्टा की जामी मस्जिद सभी में अलंकरण की यही विधि अपनाई गई है। इस पद्धति का सबसे बड़ा दोष यही था कि इसमें स्थपति को रचनाविन्यास का अवसर ही नहीं मिलता था और वह अलंकरण के लिए आए हुए टाइल के कलाकार के अधीन रहकर काम करता था। वास्तु गौण और अलंकार प्रमुख हो जाता था। दीवारों में छज्जे तोड़े आदि न देकर उन्हें ऐसा बनाया जाता था कि उन पर अधिक से अधिक टाइल का काम किया जा सके। निर्माण कार्य में सबसे अधिक ध्यान इस प्रकार रंगीन काम की इस कला को दिया जाता था। इमारत पर इस अलंकरण को ऐसे ओढ़ा दिया जाता था जैसे कपड़े की किसी दुकान पर लकड़ी की आकृति को जड़ाऊ साड़ी पहना दी गई हो। यहां साड़ी का प्रदर्शन ही जैसे एक मात्र ध्येय होता है, वैसे ही इन इमारतों में रंगीन टाइलों के काम का प्रदर्शन किया गया है।

(४) गुजरात :

मध्यकाल की प्रान्तीय शैलियों में सबसे अधिक सुन्दर और कलात्मक गुजरात की शैली है। यहां प्राचीन काल से बड़े-बड़े सुन्दर जैन और हिन्दू मन्दिर बनते थे जिनमें सुरुचिपूर्ण ढंग से काटे हुए खम्भे, सर्पाकार तोड़े (Struts) और छज्जे, समतल छतें (Corbelled ceilings), प्रसादिकाएं (Oriel Windows) और वप्रों (Buttresses) का प्रयोग होता था। वास्तव में बात यह थी कि गुजरात में लकड़ी के स्थापत्य का चलन अधिक था और रचना के ये सारे अंग मूलतः लकड़ी में बनते थे। लकड़ी में इन्हें सुन्दर से सुन्दर ढंग से काटा और सजाया जा सकता था। पत्थर का प्रचार होने पर लकड़ी के इन्हीं तत्त्वों का पत्थर में अनुवाद कर दिया गया। उनका स्वरूप ज्यों का त्यों बना रहा, केवल सामग्री बदल गई। मूलरूप से लकड़ी की रचना विधि से प्रेरित होने के कारण ही इन अंगों में इतना लोच और कमनीयता है। गुजरात के सुल्तानों का यह सौभाग्य ही कहना चाहिए कि उन्हें अपनी इमारतों में काम करने के लिए भारत के सबसे अधिक योग्य कारीगर मिले जिनके पास प्राचीन वास्तु परम्पराओं का विशाल भण्डार था। गुजरात की वास्तुशैली प्रान्तीय-शैलियों में सर्वोत्कृष्ट है और मुग़लों की कला से कुछ ही पीछे रह जाती है।

एक विशेष बात यह है कि जिस पद्धति पर ये कारीगर हिन्दू और जैन मन्दिरों में काम करते थे

उसी पर इन्होंने मस्जिदों का निर्माण किया। इस्लाम के प्रतीक स्वरूप महराब डाला तो डाला नहीं तो बहुत सी इमारतों में महराब भी नहीं हैं। सुन्दर खम्भों और सर्पाकार तोड़ों द्वारा की गई यह रचना परम्परागत ढंग से हुई। तोरण और प्रसादिकाओं का व्यापक प्रयोग किया गया। हिन्दू मन्दिर की योजना वर्गाकार कोणात्मक होती थी। इसी तत्त्व का प्रयोग सम्बद्ध मीनारों में किया गया जो पूर्ण रूप से आलंकारिक थीं। इस प्रकार गुजरात की मस्जिद का विकास भी हिन्दू मन्दिर के तत्त्वों को लेकर हुआ। जैसे रामायण का फारसी में अनुवाद कर दिया गया हो, यह शैली विशुद्ध भारतीय शैली है।

यहां भी सबसे पहले हिन्दू मन्दिरों को मस्जिदों में परिवर्तित करके काम चलाया गया। फिर मन्दिरों को गिराकर उनकी सामग्री से निर्माण किया गया। इसके पश्चात् वह अवस्था आई जब प्रत्येक इमारत की विधिवत् योजना बनाई जाती थी और उस योजना के अनुसार पत्थर काटकर तैयार किए जाते थे। पाटन की मुस्लिम इमारतें सबसे पहली अवस्था में १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ में बनीं। इनमें शेख फरीद का मकबरा ही शेष रह गया है। दूसरी श्रेणी की इमारतों में भड़ौच की जामी मस्जिद है। मध्य में आंगन के तीन ओर दालान और पश्चिम की ओर आराधना भवन है। इसमें हिन्दू मन्दिरों से प्राप्त सामग्री जैसे अलंकृत खम्भों का खुलकर उपयोग किया गया है। यद्यपि पश्चिम की दीवार में महराब बनाए गए हैं किन्तु इस मस्जिद का स्वरूप मूल रूप से हिन्दू मन्दिर जैसा ही है। इस मस्जिद का निर्माण भी १४वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही हुआ।

खम्भात की जामी मस्जिद जो लगभग १३२५ में बनी कुछ भिन्न है। इसके आराधना भवन के मुखपट (Facade) पर भी महराब बनाए गए जिससे हिन्दू तत्त्वों की प्रधानता समाप्त हो जाए। इसमें पत्थर की सुन्दर जालियों का प्रयोग किया गया। यह भी गुजरात की शैली की एक विशेषता थी किन्तु ये जालियां पहले लकड़ी में बनाई जाती थीं। कुल मिलाकर खम्भात की मस्जिद सुन्दर लगती है। यहां से शैली की तीसरी अवस्था प्रारम्भ हो जाती है।

१३३३ में ढोलका में हिलाल खां काजी की मस्जिद बनी। इसमें आराधना भवन के महराबदार मुख्यद्वार के दोनों ओर बाहर दो आलंकारिक मीनारें बनाई गईं। यह गुजराती शैली का विशिष्ट तत्त्व था जिसका सूत्रपात्र मस्जिद की रचनाविधि में किया गया। कालान्तर में यह बहुत प्रचलित हुआ। सम्पूर्ण १५वीं शताब्दी और १६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इसका मुख्यद्वार से सम्बद्ध रूप में अहमदाबाद की मस्जिदों में जैसे जामी मस्जिद, अहमदशाह की मस्जिद, सैय्यद आलम की मस्जिद, कुतुबुद्दीन शाह की मस्जिद, रानी रूपदन्ती की मस्जिद और सारंगपुर मस्जिद में व्यापक प्रयोग किया गया। चम्पानर की जामी मस्जिद और नगीना मस्जिद में भी इनका ऐसे ही प्रयोग हुआ। धीरे-धीरे इसका उपयोग आराधना भवन के मुखपट के दोनों ओर वप्रों के रूप में होने लगा और इसके उदाहरण अहमदाबाद में रानी सीपरी की मस्जिद, मुहाफ़िज़ खां की मस्जिद और मुहम्मद गौस की मस्जिदों में मिलते हैं। इससे मुखपट की शोभा चौगुनी हो जाती है। गुजरात के अतिरिक्त इसका और कहीं प्रयोग नहीं हुआ और स्पष्ट ही तोरण और प्रसादिकाओं की तरह यह इस प्रदेश की शैली की अपनी विशेषता थी। ढोलका में ही १३६१ में टन्का मस्जिद बनी। किन्तु इसमें हिन्दू मन्दिरों से प्राप्त सामग्री जैसे खम्भों का प्रयोग अधिक किया गया और शैली के विकास में इसका कोई महत्त्व नहीं है।

१४११ में अहमद शाह ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। उसने असावल के प्राचीन स्थान पर अहमदाबाद नामक नगर बसाया। यों अहमद-शाही वंश की नींव पड़ी। इसके राज्यकाल में सैकड़ों उत्कृष्ण श्रेणी की इमारतें जैसे मस्जिदें, मकबरे, बावड़ियां, कुएं और सरोवर बने। इमारतें बनवाने का यह क्रम लगभग १५० वर्ष चलता रहा। कुछ बड़ी-बड़ी भव्य मस्जिदों का इस काल में निर्माण हुआ। चम्पानेर की मस्जिदों को छोड़कर ये लगभग सभी अहमदाबाद में हैं। अहमदशाह के

ही राज्यकाल में यहां कुछ बड़ी सुन्दर मस्जिदें बनीं जिनमें जामी मस्जिद मुख्य है। (चित्र–३९) इसके आराधना भवन में यद्यपि मुखपट पर महराबों का प्रयोग हुआ है और ऊपर गुम्बद लगे हैं किन्तु अन्दर की सारी रचना खम्भों और तोड़ों द्वारा की गयी है। अन्दर मुख्य कक्ष में छत पर से प्रकाश और वायु लाने के लिये खम्भों पर ही आधारित एक दुहरी मंजिल बनाई गई (चित्र–४०) है। इससे भारतीय कलाकार की कलात्मक सूझ-बूझ का परिचय मिलता है। ३०० खम्भों को सम्पूर्ण आराधना भवन में बड़े सुन्दर ढ़ंग से सजाया गया है। मन्दिर जैसे ढ़ालदार आसनों का प्रयोग किया गया है। तोरण लगाये गए हैं। सुन्दर डिजाइनों में कटी हुई जालियों का उपयोग किया गया है। स्पष्ट ही गुजरात की प्राचीन वास्तुकला के ये परम्परागत तत्त्व मध्यकाल की शैली में घुलमिल गये थे और निस्संकोच मुस्लिम इमारतों के अंग बन गये थे। कला में दो भिन्न धाराओं के सम्मिश्रण का इससे अधिक सुन्दर उदाहरण और कहीं देखने को नहीं मिलता है।

मध्यकालीन गुजरात शैली के कुछ विशिष्ट तत्त्व इस प्रकार हैं :—

कोणात्मक मीनारें (वप्रें)
तोरणाकार आलय और महराब
प्रसादिकाएं
खम्भे और उनके शिरस
सर्पाकार तोड़े और छज्जे
समतल छतें
छत्रियों और कलश
पत्थर में कलात्मक कटाई का काम और जालियां।

स्पष्ट ही अकबर की इमारतों में ये तत्त्व गुजरात के कारीगरों के हाथों पहुँचे।

१५ वीं शताब्दी के मध्य में अहमदाबाद के निकट सरखेज नामक रमणीक स्थान पर बड़े व्यापक स्तर पर निर्माण कार्य हुआ। यहां मकबरे, मस्जिदें, आवास-भवन, तोरण द्वार, बाग और सरोवर बनाये गए। इनमें शेखअहमद खत्री और दरयाखां के मकबरे प्रसिद्ध हैं।

महमूद बघर्रा १४५९ में गद्दी पर बैठा। यहां से अकबर के १५७१ में गुजरात विजय करने तक निर्माण कार्य को बहुत प्रोत्साहन मिला और अहमदाबाद में सैकड़ों मस्जिदें और मकबरे बनवाये गये। इनमें बीबी अच्युत कूकी की मस्जिद, मुहाफिज़ खां की मस्जिद, फतह मस्जिद, गुमटी मस्जिद, सिड़ी सैय्यद की मस्जिद, मुहम्मद गौस की मस्जिद आदि मुख्य हैं। मकबरों में सैय्यद उस्मान का मकबरा, शाहआलम का मकबरा, रानी सीपरी का मकबरा और रानी रूपवन्ती का मकबरा प्रसिद्ध हैं। मुहाफिज खां की मस्जिद बड़े कलात्मक ढंग से अलंकृत की गई है। सिड़ी सैय्यद की मस्जिद में अत्यन्त सुन्दर जालियों का प्रयोग हुआ (चित्र–४१)है। स्पष्ट ही ये काष्ट-कला से प्रेरित हैं। रानी सीपरी की मस्जिद का अलंकरण भी उत्कृष्ट श्रेणी का (चित्र-४२) है। फर्गुसन ने तो इसकी गिनती संसार की सर्व सुन्दर इमारतों में की थी। इसमें केवल एक ओर एक महराब लगा है, नहीं तो रचना विधान पूर्णतः हिन्दू है। रेलवे स्टेशन के सामने ही स्थित इसी युग की एक मस्जिद में एक अद्भुत् बात देखने को मिलती है। मुखपट के मुख्य महराब के दोनों ओर दो मीनारें हैं जो हिलती हैं। एक मीनार ऊपर से गिर गई है। दूसरी की तीनों मंजिलें अभी ज्यों की त्यों हैं। ऊपर जाकर मुख्य स्तम्भ को पकड़ कर हिलाने पर पूरी मीनार स्पष्ट, निस्संदेह हिलती है। इसके हिलने के कारण का पता नहीं लग सका है। क्या भेद है ? किन्तु यह आश्चर्यजनक बात है कि ठोस पत्थर की बनी यह मीनार ऐसे हिलती है जैसे कोई चीज़ झूल रही हो। यह मध्यकाल की वैज्ञानिक उपलब्धियों की ओर तो संकेत करती ही है भारतीय कलाविदों की क्षमता का भी परिचय कराती है। १४२३ में बनी अहमदाबाद की जामी मस्जिद में भी ऐसी ही मिलती मीनारें थीं जो १८१९ के भूचाल में गिर गईं। कहते हैं कि इनमें से जब एक को हिलाया जाता था तो दूसरी अपने आप हिलती थी। अहमदाबाद की कुछ अन्य मस्जिदों में भी ऐसी हिलती मीनारों के उपयोग होने का उल्लेख मिलता है। दुःख की बात है कि हमारे यहां के विद्वान् इस भेद की जड़ तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं करते न हमारी राष्ट्रीय सरकार

ही वास्तु सम्बन्धी शोध-कार्यों को कभी कोई प्रोत्साहन देती है।

चम्पानेर की जामी मस्जिद भी एक भव्य इमारत है (चित्र-४३) । इसका निर्माण महमूद बघर्रा के ही राज्यकाल में हुआ। मस्जिद का मुख्य द्वार बड़े सुन्दर ढंग से बनाया गया है जिसमें जालियाँ, सर्पाकार, तोड़ों और वर्गाकार छत्रियों का अलंकरण के लिए प्रयोग हुआ है। इसमें भी अहमदाबाद की जामी मस्जिद की तरह आराधना भवन की साज-सज्जा पर सबसे अधिक ध्यान दिया गया है। रचना वैसी ही खम्भोंदार है (चित्र-४४)। वैसे ही सुन्दर तत्त्वों का सम्मिश्रण हुआ है। इस मस्जिद की गिनती भी भारत की सर्वोत्कृष्ट मस्जिदों में की जाती है।

इन इमारतों के अतिरिक्त गुजरात में सरोवर, कुएं और बावड़ियाँ बनवाने का बड़ा रिवाज था। पाटन में जयसिंह सिद्धराज का बनवाया हुआ सहस्त्रलिंग तालाब जिसमें बीच-बीच में एक हजार शिव मन्दिर थे और जो कई मील के घेरे में फैला हुआ था, अपने मूल रूप में एक अद्‌भुत कृति रहा होगा। ११वीं शताब्दी में आसर्वा में माता भवानी की सीढ़ियोंदार विशाल बाव (बावड़ी) बनी। पाटन में राणा की बाव का निर्माण भी लगभग इसी काल में हुआ। अहमदशाही वंश के राज्य काल में यह परम्परा बनी रही और कुछ बड़ी-बड़ी बावड़ियों और कुओं का निर्माण हुआ। आसर्वा में ही १५वीं शताब्दी में बाई हरीर की बावड़ी बनाई गई। अहमदाबाद से १२ मील दूर अदालज में भी एक बावड़ी बनीं जो गुजरात की बावड़ियों में सबसे सुन्दर मानी जाती है। यह कई मञ्जिल गहरी है। प्रत्येक मंजिल में कक्ष, खम्भोंदार बीथिकाएं और चबूतरे बने हैं। पत्थर में बड़ा सुन्दर अलंकरण हुआ है। इसी काल में चट्टानें काटकर महमूदाबाद में भमरिया कूपागार का निर्माण किया गया। यह भी बड़ी सुन्दर कृति है। यह स्मरणीय है कि जल से सम्बन्धित ये वास्तु कृतियाँ सार्वजनिक उपयोग के लिए बनाई जाती थीं और किसी व्यक्तिगत अहं, प्रदर्शन या स्मृति के लिए नहीं बनती थीं। ये गुजरात के लोगों, विशेषकर जैनों की धार्मिक भावना का सूचक हैं।

(५) **माण्डू :**

फिरोज तुगलक के मरते ही तुगलक साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ हो गया। १३९८ में तैमूरलंग के विनाशकारी आक्रमण ने रही सही कमी पूरी करदी। विभिन्न प्रान्तों के सूबेदार स्वतन्त्र हो गए। मालवा में भी दिलावर खां गोरी ने एक स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली जिनके अधीन कालान्तर में बड़ी-बड़ी इमारतों का निर्माण हुआ। इसकी प्रेरणा स्पष्ट ही दिल्ली सल्तनत की वास्तु-शैली से ली गई और उसी का स्थानीय रुचियों और उपलब्ध सामग्री के अनुकूल विकास किया गया। पहले राजधानी धार में रही। फिर प्राचीन माण्डव-गढ़ को राजधानी बनाया गया। जंगलों और घाटियों से घिरा हुआ यह दुर्गम स्थान बड़ा सुरक्षित था। यहां गोरी और खिलजी वंश के सुल्तानों ने लगभग १५० वर्ष के राज्यकाल में बड़ी-बड़ी इमारतें बनवाईं जिनमें हिण्डौला-महल, होशंग शाह का मकबरा, जामी मस्जिद, अशरफी महल और जहाजमहल मुख्य हैं।

हिण्डोला महल (चित्र-४५) होशंगशाह के राज्यकाल में बना और शायद दरबारहाल की तरह से उसका प्रयोग होता था। यह दुमञ्जिली इमारत पत्थर की बनी है। मुख्य कक्ष आयाताकार है जिसमें नुकीले विशाल महराबों का प्रयोग किया गया है। बाहर की ओर भी महराब है। बाहर की दीवारों में ढ़ाल दिया गया है जो तुगलककालीन इमारतों के ढ़ाल की याद दिलाता है। ऊपर की मंजिल में बड़ी सुन्दर प्रसादिकाएं (Oriel-Windows) बनाई गई हैं। इस सम्पूर्ण मुस्लिम-कृति में यही एक स्पष्ट हिन्दू तत्त्व है जिसकी प्रेरणा अनुमानतः गुजरात से आई। यही तत्त्व इस विशाल इमारत में अलंकरण का भी काम करता है। वैसे पत्थर की कुछ जालियों का भी इसमें प्रयोग हुआ है।

होशंगशाह का मकबरा श्वेत संगमरमर की एक सुन्दर इमारत है। इसकी योजना स्वयं होशंग ने बनाई किन्तु यह उसके उत्तराधिकारी महमूद के राज्यकाल में १४४० में पूर्ण हुआ। यह

वर्गाकार है। दो तरफ खाली दीवारें हैं। दक्षिण और उत्तर की तरफ तीन-तीन महराब दिए गए हैं। दक्षिण के मध्य का महराब मुख्य द्वार है। चारों ओर सुन्दर तोड़ों पर आधारित एक छज्जा बनाया गया है। सबसे ऊपर एक विशालकाय गुम्बद है जिसके चारों कोनों पर चार आलंकारिक लघु गुम्बद दिए गए हैं (चित्र-४६)। गुम्बद पर पद्मकोश नहीं है, आमलक और कलश हैं। अन्दर रंगीन टाइल का काम हुआ है। बन्द महराबों में जालो का प्रयोग किया गया है।

माण्डू की सबसे आकर्षक इमारत जामी मस्जिद है (चित्र-४७)। इसे होशंगशाह ने बनवाना आरम्भ किया और उसके उत्तराधिकारी महमूद ने १४४० के आसपास इसे पूर्ण कराया। यह वर्गाकार है और प्रत्येक भुजा २८८ फीट लम्बी है। यह एक ऊँची चौकी पर बनी है जिसके नीचे महराबदार कक्ष बनाए गए हैं। ऊँचे मुख्यद्वार के सामने बड़ी सुरुचिपूर्ण सीढ़ियां बनाई गई हैं। माण्डू की इमारतों में सीढ़ियों का बड़ा सुन्दर विधान रखा गया है और यह यहां की वास्तु-शैली की एक विशेषता है। मस्जिद की वही परम्परागत योजना है अर्थात् मध्य में विशाल आंगन के तीन ओर दालान है और पश्चिम की ओर आराधना-भवन है। दालान के कक्षों पर लघु गुम्बदों का प्रयोग हुआ है। मुख्य कक्षों पर विशाल भारी गुम्बद हैं जिन पर आमलक और कलश सुशोभित हैं। मुख्य द्वार का रचना विन्यास बड़ा सुन्दर है। यह और होशंग-शाह का मकबरा लगभग साथ-साथ ही बने और दोनों लगभग एक से ही हैं।

आराधना भवन को बड़े सुन्दर ढंग से संवारा गया है। पश्चिमी दीवार में महराबदार आलंकारिक आलय दिए गए हैं जिनमें अल्लाई-दरवाजे जैसी बर्छी के फलों की माला लगाई गई है। उन्हें पतले-पतले कमनीय खम्भों पर आधारित किया गया है। मिम्बर के ऊपर एक अत्यन्त आकर्षक छत्री बनाई गई है जिसमें सर्पाकार तोड़े और विशाल छज्जे का प्रयोग हुआ है (चित्र-४८)। स्पष्ट ही ये तत्त्व गुजरात की वास्तु-शैली से प्रेरित हैं। ऐसा लगता है कि इन इमारतों के निर्माण में गुजरात के कला-कारों ने भी भाग लिया था। भारी महराब के साथ-साथ नुकीले महराब बड़े अच्छे लगते हैं। एक सिरे से एक सीधी रेखा में देखने पर वे बड़ा सुन्दर दृश्य प्रस्तुत करते हैं। सम्पूर्ण रचना पत्थर की है। रंगीन टाइलों का भी अलंकरण के लिए व्यापक प्रयोग किया गया है।

अशरफी महल (चित्र-४९) का निर्माण भी महमूद प्रथम के राज्यकाल (१४३६-६९) में हुआ। यह बड़ी सुन्दर इमारत रही होगी। अब लगभग खण्डहर हो गई है। मूलरूप में यह एक मदरसा था जिसमें एक खुला आंगन और चारों ओर महराबदार कक्ष थे। बाद में आँगन को ढक कर छत पर एक विशाल मकबरा बनाया गया था। मकबरे तक जाने के लिए सुन्दर सीढ़ियों का आयोजन किया गया। यहीं महमूद ने मेवाड़ के राणा कुम्भा पर तथाकथित विजय के उपलक्ष में विजय-स्तम्भ भी बनवाया था जिसका केवल आधार शेष रह गया है। इस महल में रंगीन टाइलों के अतिरिक्त संगमरमर में विभिन्न रंगीन पत्थरों से जड़ाऊ काम (Inlay) भी किया गया है। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि पत्थर के जड़ाऊ काम का सूत्रपात शाहजहां के युग में नहीं हुआ। माण्डू में संगमरमर की इमारतें बनने के साथ-साथ **१५वीं** शताब्दी में ही भारतीय कारीगर यह अलंकरण करने लगे थे।

जहाजमहल माण्डू में आवास के महलों में सबसे अधिक सुन्दर इमारत है। इसका निर्माण ग्यासुद्दीन खिलजी के राज्यकाल (१४६९-१५००) में हुआ। यह दो छोटी-छोटी झीलों—कपूर तालाब और मुंज तालाब के मध्य में स्थित है और पानी के ऊपर जहाज की तरह से झूमता रहता है। इसीलिये इसे जहाजमहल का नाम दिया गया है। इसमें बड़े कक्ष और खुली हुई छत्रियाँ है। रचना विधि में महराबों के साथ तोड़ों पर आधारित छज्जे का बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है (चित्र-५०)। रंगीन टाइलों से अलंकरण किया गया है। महल के अन्दर भी बहते हुए पानी की व्यवस्था थी। सीढ़ियोंदार छोटे-छोटे तालाब बनाए गए थे। पानी की इस कृत्रिम व्यवस्था से वातावरण तो ठण्डा होता ही था इससे महल का सौन्दर्य भी बढ़ जाता था। इस पद्धति का

चरमोत्कर्ष मुग़लों के हाथों आगरा और देहली में हुआ। माण्डू में ही स्थित नीलकण्ठ महल में भी बहते हुए पानी की ऐसी ही सुन्दर व्यवस्था है। वातावरण इतना मनोरम है कि वहां से जाने को जी नहीं चाहता। मुगल सेनापति अबदुल्ला खां फिरोज जंग तो यहां के सौन्दर्य से इतना मुग्ध हुआ कि उसने संन्यास ले लिया और यहीं रहने लगा। उसने यहां इन पंक्तियों को अंकित कराया—

तमाकरदम् तमामे उम्र मशरूफे आवां-गिल
कि इक दमा साहिब कुनह मन्ज़िल

(मैंने अपना सारा जीवन सांसारिक कार्यों में व्यर्थ गंवा दिया। यहां आकर मुझे जीवन का लक्ष्य मिल गया)।

(६) दक्षिण की वास्तु-शैलियां :

मुहम्मद बिन तुग़लक के राज्यकाल में १३४७ में अलाउद्दीन हसन बहमनशाह ने गुलबर्गा में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। बहमनी वंश के शासक निर्माण कार्य में बड़ी रुचि लेते थे और उन्होंने गुलबर्गा में बड़ी-बड़ी इमारतें बनवाईं जिनमें अधिकांश अब नष्ट हो गई हैं। कुछ शेष हैं जिनमें गुलबर्गा की जामी मस्जिद मुख्य है। १३६७ में बनी यह मस्जिद परम्परागत योजना के अनुसार नहीं है। इसमें न तो मध्य में खुला आंगन है न उसके तीन ओर खम्भोंदार दालानों की व्यवस्था है। यह ढकी हुई मस्जिद है जिसमें विशाल नुकीले महरावों का प्रयोग किया गया है (चित्र–५१)। मुख्य कक्ष पर एक विशाल गुम्बद और चारों कोनों पर चार छोटे गुम्बद हैं। इसमें कोई भी भारतीय तत्त्व नहीं है और स्पष्ट ही इसकी प्रेरणा ईरान से आई जिसके साथ यहां के शासकों का सम्बन्ध बराबर बना रहता था।

१४२५ में बीदर को बहमनी साम्राज्य की राजधानी बनाया गया और परिणामस्वरूप वहां बड़े-बड़े महल, मस्जिदें और मकबरे बने। कुछ महलों में बड़ा सुन्दर रंगीन अलंकरण हुआ था। बहते पानी की कृत्रिम व्यवस्था की गई थी। इन इमारतों में भी ईरानी प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इस दृष्टिकोण से बीदर का महमूद गावाँ का मदरसा प्रतिनिधि इमारत है। इसका निर्माण १४७२ में हुआ। गावां एक सुसंस्कृत ईरानी था। उसने इसका निर्माण विशुद्ध ईरानी पद्धति पर ईरानी कारीगरों द्वारा कराया। यहां तक कि अलंकरण के लिये ईरान से ही रंगीन टाइलें मंगाई गईं। मदरसा भारत की भूमि पर एक ईरानी कृति है और देश की वास्तु परम्पराओं से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। परिणामस्वरूप यहां की वास्तुकला के विकास में इसका स्थान नगण्य है। न ही इसकी गिनती सुन्दर इमारतों में की जा सकती है। तोड़े और छज्जे–जिन तत्त्वों से प्रकाश और छाया का सौन्दर्य आता है उनका इसमें सर्वथा अभाव है। ऊर्ध्वरचना में एक भद्दी मीनार के साथ एक भोंडा गुम्बद है जो बड़े बेमेल लगते हैं। विभिन्न अंगों में तालमेल न होने के कारण इमारत पैबन्द लगी रंगीन गुदड़ी सी लगती है। स्पष्ट ही ईरानी पद्धति को यहां की भूमि पर बलपूर्वकथोपने का प्रयोग सफल नहीं हुआ।

बहमनी साम्राज्य के विघटन के पश्चात् उसमें कई स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना हुई। इनमें अहमदनगर के निजामशाही, बीजापुर के आदिलशाही और गोलकुण्डा के कुतुबशाही मुख्य थे। इनका अकबर से लेकर औरंगज़ेब तक लगभग सौ वर्ष मुगलों से बड़ा कड़ा संघर्ष हुआ। १६८७ तक ये तीनों राज्य मुग़ल साम्राज्य में मिला लिए गए।

कुतुबशाहियों ने गोलकुण्डा में १५१२ से १६८७ तक राज्य किया और गोलकुण्डा और हैदराबाद में बड़ी-बड़ी सुन्दर मस्जिदें और मकबरे बनवाए। मस्जिदों में जामी मस्जिद और मक्का मस्जिद और मकबरों में मोहम्मद कुली और अब्दुल्ला कुतुबशाह के मकबरे प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः उनकी सबसे सुन्दर इमारत हैदराबाद की चार मीनार है जिसका निर्माण १५९१ में विजय द्वार की तरह हुआ। यह वर्गाकार है और प्रत्येक भुजा १०० फीट लम्बी है। प्रत्येक मीनार १८६ फीट ऊंची है अर्थात् ताजमहल की मीनारों से ५४ फीट अधिक ऊंची। प्रत्येक मुखपट में ३६ फीट चौड़ा एक विशाल महराब-द्वार दिया गया है (चित्र–५२)। बहुत से अन्य सुन्दर तत्त्वों का सम्मिश्रण हुआ है। ऊर्ध्वरचना पर स्थपति ने विशेष ध्यान दिया है और कुल मिलाकर यह इमारत बड़ी सुन्दर लगती है।

बीजापुर में आदिलशाहियों के अधीन दक्षिण की सबसे अधिक सुन्दर और कलात्मक शैली का विकास हुआ। आदिलशाहियों को इमारतें बनवाने का बड़ा शौक था और डेढ़ सौ वर्ष के अल्पकाल में उन्होंने अकेले बीजापुर नगर में ५० से अधिक मस्जिदें बीसियों मकबरे और महल बनवाए। संख्या में ही अधिक नहीं हैं, ये इमारतें अत्यन्त उत्कृष्ट श्रेणी की रचनाएं भी हैं। इनमें जामी मस्जिद, इब्राहीम रौजा और गोल गुम्बद प्रतिनिधि इमारतें हैं।

बीजापुर की जामी मस्जिद का निर्माण अलीशाह प्रथम के राज्यकाल (१५५८-८०) में हुआ। खुले आंगन के तीन ओर सुन्दर महराबोंदार दालान हैं। पश्चिम की ओर आराधना भवन है। इनमें त्रिज्याकार महराबों का बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है। बाहर तोड़ों पर आधारित छज्जा लगाया गया है। आराधना भवन की छत पर बीचों-बीच में गुम्बद के आधार के चारों ओर महराबदार एक और मन्जिल दी गई है जिसके कोनों से चार लघु-मीनारें उठकर विशाल गुम्बद को चारों ओर से सुशोभित करती हैं। गुम्बद कमल की खुलती हुई पंखुड़ियों के बीच में से ऐसा उठता है जैसे पृथ्वी आकाश को कोई चीज़ भेट में देने जा रही हो। बीजापुर की वास्तुशैली का सबसे विशिष्ट तत्त्व गुम्बद के आधार में खुलती हुई कमल की ये पंखुड़ियां ही हैं। स्पष्ट ही इसकी प्रेरणा भारतीय स्रोतों से ली गई।

इब्राहीम रौजे का निर्माण इब्राहीम आदिलशाह प्रथम (१५८०-१६२७) ने कराया। वास्तव में इसमें उसके मकबरे के अतिरिक्त एक सुन्दर मस्जिद भी है। दोनों ही वर्गाकार रचनाएँ हैं और एक ऊँची चौकी पर स्थित हैं। मकबरे को बड़े आकर्षक ढंग से सँवारा गया है (चित्र-५३)। मुख्य कक्ष के चारों ओर महराबदार बरामदा है जिसके बाहर सुन्दर तोड़ों पर आधारित छज्जा है। चारों कोनों पर चार लघु-मीनारें (Turrets) हैं जिनके अण्डाकार गुम्बद कमल की पंखुड़ियों पर जैसे सहज ही रख दिए गए हैं। प्रधान गुम्बद भी ऐसे ही कमल की खुलती हुई पंखुड़ियों पर रखा गया है। गम्बद लगभग सम्पूर्ण गोल है और कमल की पंखुड़ियों के साथ बड़ा सुन्दर लगता है। स्थपति ने ऊर्ध्वरचना के विन्यास पर सबसे अधिक ध्यान दिया है और यही अंग इस मकबरे के सौन्दर्य का विशिष्ट तत्त्व है। मस्जिद की रचना भी लगभग इससे मिलती-जुलती है। बीजापुर की सबसे अधिक प्रसिद्ध इमारत मोहम्मद आदिलशाह (१६२७-५७) का मकबरा है जिसे गोल गुम्बद कहते हैं। इसकी गिनती भारत की सबसे विशाल और भव्य इमारतों में होती है। यह वर्गाकार है और प्रत्येक भुजा २०० फीट से अधिक लम्बी है। लगभग इतनी ही इसकी ऊँचाई है। चारों कोनों पर चार सम्बद्ध अठपहलू मीनारें हैं। ये सात मञ्जिल की हैं। प्रत्येक में खुले लघु महराब दिए गए हैं। इनके ऊपर वही बीजापुरी गुम्बद हैं जो कमल की पंखुड़ियों पर आधारित हैं (चित्र-५४)। प्रत्येक भुजा में तोड़ों पर आधारित छज्जा, लघु महराब और छत पर लघु छत्रियों का प्रयोग किया गया है। मक़बरे के अन्दर केवल एक बड़ा हाल है जिसमें जाने के लिए दो ओर महरावदार द्वार हैं, दो ओर के महराब बन्द हैं। यह हाल १३५ फीट लम्बा है और गुम्बद तक इसकी ऊँचाई १७८ फीट है। इस प्रकार यह गुम्बद संसार का सबसे बड़ा और ऊँचा गुम्वद है। इसमें कोणात्मक महराबों का अत्यन्त सूझबूझ और चतुरता से प्रयोग किया गया है और उन पर इस विशाल १० फीट मोटे एकहरे गुम्बद को संभाला गया है (चित्र-५५)। वास्तु का यह एक अद्भुत कमाल है जिसका इससे पहले का और कोई उदाहरण नहीं मिलता है। शायद यह भारतीय स्थपति की सृजनात्मक प्रतिभा की अपनी युक्ति थी। इस मकबरे में अलंकरण पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। कलाकार का मुख्य ध्येय इसे विशाल और भव्य बनाना था और परिणामस्वरूप इसका सम्पूर्ण सौन्दर्य वास्तु-कला के तत्त्वों के कारण है। इस दृष्टि से यह एक अत्यन्त उत्कृष्ट कृति है।

११

मुग़ल वास्तु-शैली

बाबर और उसकी चार-बाग व्यवस्था

१५२६ ई० में पानीपत के युद्ध में बाबर ने इब्राहीम लोदी को हरा दिया। इब्राहीम मारा गया और उसके साथ ही लोदी साम्राज्य का अन्त हो गया। लगभग एक वर्ष पश्चात् ही बाबर का मेवाड़ के प्रतापी राणा संग्रामसिंह से खानवा के मैदान में भयंकर युद्ध हुआ। यहां भी तोपों और बन्दूकों और तुलुगमा युद्ध-पद्धति के प्रयोग से उसने शूरवीर राजपूतों को परास्त कर दिया। अफ़गानों से उसका युद्ध बराबर चलता रहा। घाघरा के समीप बाबर ने उन्हें एक बार फिर हराया। दुर्भाग्य से वह बहुत कम जीवित रहा और १५३० ई० में आगरे में उसकी मृत्यु हो गई।

वह मध्य एशिया के फ़रग़ना नामक प्रदेश का रहने वाला था। जब वह केवल १२ वर्ष का था तो उसके पिता उमर शेख मिर्जा की मृत्यु हो गई और वह फ़रग़ना की गद्दी पर बैठा। उस समय फ़रग़ना को तीन ओर से शत्रुओं ने घेर रखा था। इतनी कच्ची आयु में, इतनी विषम परिस्थितियों में उसने होश संभाला। किन्तु वह बड़े जीवट का व्यक्ति था। दृढ़ निश्चय और अदम्य साहस के साथ वह कठिनाइयों से जूझता रहा। उसने तीन बार समरकन्द पर अधिकार किया। किन्तु शैबानी खां के नेतृत्व में उजबैकों ने उसे टिकने नहीं दिया। बड़े-बड़े युद्ध हुए जिनमें अधिकांशतः बाबर हार गया। १५०५ में उसने काबुल पर अधिकार कर लिया। धीरे-धीरे उसने भारत विजय की तैयारियां कीं। अपनी सेना को आग्नेय अस्त्रों से सुसज्जित किया। पहले छुटपुट हमले किए। फिर १५२६ में पूरी तैयारी के साथ पंजाब के मैदानों में उतर पड़ा। यों उसने भारत में मुग़ल वंश की स्थापना की।

बाबर केवल कुशल सेनापति ही नहीं था। वह कला प्रेमी और सुसंस्कृत व्यक्ति भी था। उसे काव्य से बड़ा प्रेम था और स्वयं भी कविता करता था। प्रकृति से उसे बड़ा लगाव था। अपनी आत्मकथा में वह ऐसे बहुत से उल्लेख करता है जब वह युद्ध से हारकर भागा है और किसी झरने के किनारे बैठकर शराब के प्याले के सहारे शेरो-शायरी में डूब गया है।

जब बाबर आगरे में आया यहां भयंकर गर्मी पड़ रही थी। वह पहाड़ी प्रदेश का रहने वाला था और ऐसी हड्डियां पिघला देने वाली गर्मी उसने नहीं देखी थी। अपनी आत्मकथा में उसने इन कठिनाइयों का उल्लेख किया है। विशेषकर यहां की धूल, गर्मी और लू ने उसे बड़ा परेशान किया। यहां यह देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि न तो लोग योजनाबद्ध रूप से बाग़ लगाते हैं और न बहते हुए पानी की कोई कृत्रिम व्यवस्था करते हैं। उसे बाग़ लगाने का बड़ा शौक था और कई बड़े-बड़े बाग़ उसने काबुल में लगाए थे। समरकन्द के विशाल

उद्यानों को उसने स्वयं देखा था। फ़ारसी के कवियों जैसे फिरदौसी, सादी, हाफ़िज़ और खैय्याम की रचनाओं में उसने बागों के रोचक उल्लेखों का अध्ययन किया था। वास्तव में चार-बाग और कृत्रिम जल व्यवस्था की ईरानी पद्धति से वह भलीभांति परिचित था। इसके अनुसार बाग को चार समान भागों में नहरों द्वारा बाँट दिया जाता था (चित्रांकन-१)। ठीक बीचों-बीच में आवास का महल या आमोदालय बनाया जाता था जिससे बाग उसके चारों ओर रहे। नहरों में फ़व्वारे लगाए जाते थे। पत्थर की बीथिकाएँ बनाई जाती थीं जिनके दोनों ओर ऊँचे-ऊँचे वृक्षों की पंक्तियां रोपी जाती थीं। क्यारियों में फूलदार पौधे लगाए जाते थे। पानी को एक तल से दूसरे तल पर विविध विधानों द्वारा गिराया जाता था। कल-कल करते ये कृत्रिम झरने और फ़व्वारे सुन्दर ही नहीं लगते थे, ये वातावरण को ठंडा और मनोरम भी बना देते थे।

बाबर ने इस पद्धति का सूत्रपात भारत में किया। उसने आगरे में कई बाग लगाये जिनमें बाग-ए-गुलअफ्शां अभी शेष रह गया है। इसे अब रामबाग कहते हैं। उसने रहंट द्वारा पानी खींचने की व्यवस्था की। पत्थर की नालियों द्वारा यह पानी बाग में चारों ओर ले जाया गया। स्थान-स्थान पर पत्थर के ही तालाब और झरने बनाए गए। यह व्यवस्था आवास के महल में भी की गई। साथ-साथ पेड़ और पौधे लगाए गए। फिर इसी व्यवस्था द्वारा पानी को दूसरे तल पर उतारा गया। वहां फिर नालियों द्वारा उसे चारों ओर ले जाया गया। फिर तीसरे तल पर यही व्यवस्था की गई।

अर्थात् वास्तु के साथ दो अन्य तत्त्वों-बाग और पानी की कृत्रिम व्यवस्था-को अधिकाधिक सुन्दर रूप में सम्बद्ध कर दिया गया। अब तक अधिकांश इमारतें एकाकी बनाई जाती थीं और बाग न तो उनकी पूर्वभूमि (setting) में होता था न पृष्ठभूमि (Back Ground) में। अब इमारत बाग के मध्य में ऐसे बनाई गई जैसे सोने की अंगूठी में नगीना जड़ दिया गया हो। उसके साथ बहते हुए पानी की व्यवस्था-नालियों, तालाबों, फ़व्वारों और झरनों-ने चार चाँद लगा दिए। इन तीनों तत्त्वों के घुलमिल जाने से एक अभूतपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि हुई। बाबर के वंशजों ने अपने महल और मकबरे इसी चारबाग पद्धति के अनुसार बनाए। स्वतन्त्र रूपसे भी बड़े-बड़े बागों का निर्माण मुग़लकाल में हुआ। इस प्रकार बाबर की इस व्यवस्था ने मध्यकालीन वास्तुकला में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया। उसे एक नई परिभाषा, एक नया रूप और निश्चय ही एक नया सौन्दर्य प्राप्त हुआ। अब इमारत बनाना केवल स्थपति का ही काम नहीं था। उसके साथ बाग-व्यवस्था का विशेषज्ञ और जल-साधनों का इन्जीनियर भी सहयोग देते थे। मुग़ल इमारत अब एकाकी खड़ी दिखाई नहीं देती थी वरन् पत्थर की नालियों और तालाबों से घिरी हुई बाग के मध्य में प्रस्तुत की जाती थी। बाग और बहते हुए पानी की कृत्रिम व्यवस्था धीरे-धीरे मुग़ल वास्तुकला के अभिन्न अंग बन गए। हूमायूं के मकबरे से लेकर ताजमहल तक-मुगल मकबरों के प्रस्तुतीकरण का लगभग सम्पूर्ण सौन्दर्य वास्तुकला के इस रचना-विधान के कारण है।

नए युग का अवतरण

हूमायूँ में अपने पिता जैसी योग्यता नहीं थी। वह आरामतलब और स्वभाव से सीधा व्यक्ति था। इस विषम स्थिति में व्यक्तित्व की जिस धार की आवश्यकता थी वह उसमें नहीं थी। १५३० से १५४० तक वह अफगानों से संघर्ष करता रहा। किन्तु अन्त में शेरशाह ने उसे बिलग्राम के मैदान में हरा दिया और भारत से बाहर खदेड़ दिया। हूमायूँ के काल की एक मस्जिद आगरे में शेष है जिसका निर्माण १५३० में हुआ था। यह पूर्व मुग़ल-काल की पंचमुखी योजना पर बनी है और मुग़ल वास्तुकला की कोई विशेषता इसमें नहीं है। वास्तव में अभी मुगल वास्तुकला जैसी किसी शैली का जन्म ही नहीं हुआ था। इसका प्रारंभ अकबर के राज्य-काल से ही होता है।

१५५५ में हूमायूँ भारत लौट आया और उसने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। किन्तु उसी वर्ष उसकी मृत्यु हो गई। १५५६ में अकबर गद्दी पर बैठा। उस समय उसकी आयु केवल १४ वर्ष की

थी। मुग़लों के अधिकार में उस समय पंजाब के कुछ प्रदेश और दिल्ली और आगरा थे। चारों ओर से अफगान मंडरा रहे थे। अकबर को विरासत में ये विषय परिस्थितियां और यह नन्हां सा साम्राज्य मिला। किन्तु वह बड़ा बुद्धिमान् और प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति था। पढ़ा-लिखा न होने पर भी वह समस्याओं को मूलरूप में समझ लेता था। बाबर के समान ही उसमें लोह इच्छाशक्ति, अथक विश्वास, अदम्य साहस और अपार सूझबूझ थी। उसने स्थिति का गम्भीरता से मूल्यांकन किया। वह यह समझ गया कि अगर भारत में एक विशाल और स्थाई साम्राज्य का निर्माण करना है तो यहां की जनता का सहयोग और सौहार्द्र प्राप्त करना आवश्यक है। सल्तनत काल में विभिन्न वंशों के उत्थान-पतन का मुख्य कारण यही था कि उन सुल्तानों ने कभी भी यहां की हिन्दू जनता का विश्वास प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया और विजेता के रूप में बलपूर्वक इस देश पर सैनिक शासन करते रहे। यहां की संस्कृति के विकास में उन्होंने योगदान नहीं दिया। परिणामस्वरूप यहां की जनता ने कभी इस साम्राज्य में कोई रुचि नहीं ली।

अकबर ने १५६० में राज्य की बागडोर स्वयं संभाल ली। उसने हिन्दुओं के प्रति उदार नीति का प्रारम्भ किया। उसने जज़िया समाप्त कर दिया। अन्य अपमानजनक कर भी जो हिन्दुओं से वसूल किए जाते थे बन्द कर दिए गए। उन्हें पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान की गई। अब वे अपने धर्म का पालन स्वच्छन्द रूप से कर सकते थे। सल्तनत काल से चली आ रही धार्मिक अत्याचार की नीति का अन्त हो गया। भारतीय समाज में हिन्दुओं को समान स्तर दिया जाने लगा। उनके लिये सैनिक और असैनिक सरकारी पद भी खोल दिए गए।

अकबर ने शूरवीर राजपूतों से मैत्री स्थापित करने की नीति अपनाई। उसने अम्बर (जयपुर) जोधपुर, बीकानेर आदि बड़े-बड़े राजपूत राजाओं से सन्धि करली और उन्हें दरबार में बड़े-बड़े मनसब प्रदान किए। यह कहना सही नहीं है कि ये सन्धियां मूल रूप से वैवाहिक थीं। अकबर प्रत्येक राजा से चार बातें चाहता था : वह राजा मुग़ल मनसबदार बन जाए और एक निश्चित वेतन दरबार से ले; वह आवश्यकता के समय अपनी सेना के साथ उपस्थित रहे; वह अपने आपको मुग़ल साम्राज्य का अभिन्न अंग समझे; और अपनी विदेश नीति अकबर को समर्पित करदे। अकबर कभी भी उनके घरेलू मामलों में दखल नहीं देता था। स्मरण रखने की बात यह है उसका राणा प्रताप से संघर्ष व्यक्तिगत रूप से उपस्थित होकर सिजदा करने की शर्त के कारण अधिक था, मूलरूप से किसी सैद्धान्तिक मतभेद के कारण नहीं। यहां यह भी द्रष्टव्य है कि जहां उसने सभी छोटे-छोटे मुसलमान राज्यों को जीतकर मुग़ल साम्राज्य में मिला लिया, उसने राजपूत राज्यों को समाप्त नहीं किया और उन्हें लगभग स्वतन्त्र बने रहने दिया। उसका ध्येय इन योद्धाओं की मैत्री प्राप्त करना था। कालान्तर में इन्हीं राजपूतों की तीखी तलवारों ने मुग़ल साम्राज्य का विस्तार किया और इन्हीं के दृढ़ कन्धों पर यह साम्राज्य टिका रहा।

अकबर ने यहाँ की संस्कृति को दिल्ली सुल्तान की तरह ठुकराया नहीं उसे प्रोत्साहन दिया। उसने भारतीय वेष-भूषा को उपयुक्त परिवर्तन करके अपना लिया। यहां के रीति-रिवाज़ तीज़त्यौहार मुग़ल दरबार में मनाए जाने लगे जैसे रक्षाबन्धन और दशहरा। हिन्दुओं के झरोखा दर्शन और तुलादान मुग़ल दरबार के सांस्कृतिक कार्यक्रम बन गए। अकबर कभी-कभी तिलक लगाता था और सूर्य को नमस्कार करता था। हिन्दू और जैन पंडितों और योगियों का वह बड़ा सम्मान करता था।

उसकी इन उदार नीतियों के फलस्वरूप एक नए युग का अवतरण हुआ। अब तक प्रताड़ित हिन्दुओं ने देखा उनके धार्मिक ग्रन्थों का अब फारसी में अनुवाद किया जा रहा था। उनके राग अब मुग़ल दरबार में गाए जाते थे। अपभ्रंश के चित्रकार अब मुग़ल दरबार में नियुक्त थे। उनके मन्दिरों की पद्धति पर अब भवन निर्माण कार्य हो रहा था। हिन्दू मुसलमान का भेद नहीं था। सारे देश में एक व्यवस्था थी; एक सांस्कृतिक सूत्र में सारे देश को बांधने का प्रयत्न किया जा रहा था।

इस शासन व्यवस्था का संचालन राष्ट्रीय स्तर पर हो रहा था। पहली बार हिन्दुओं ने इस राज्य को अपना राज्य और इस सम्राट को अपना सम्राट माना। इसी नए युग को विभिन्न सांस्कृतिक सिद्धान्तों, परम्पराओं और शैलियों को जन्म देने का श्रेय प्राप्त होता है।

हूमायूँ का मकबरा

मुग़ल वास्तु-शैली की सबसे पहली सुन्दर कृति दिल्ली में स्थित हूमायूँ का मकबरा है (चित्र–५६)। इसका निर्माण १५६४ और १५७० के मध्य हूमायूँ की एक रानी हाजी बेगम ने कराया। चार-बाग पद्धति पर ही इसकी योजना बनाई गई है। सम्पूर्ण बाग को चार समान भागों में बाँट दिया गया है। मुख्य मकबरा बाग के ठीक बीच में स्थित है। इसे चारों प्राचीरों के मध्य में स्थित द्वारों से बीथिकाओं द्वारा जोड़ा गया है। मुख्य-द्वार पश्चिम की ओर है। नियमित रूपसे पानी की नालियां और तालाब बनाए गए हैं। नालियों में सुन्दर झरनों का विधान किया गया है जिनमें कलकल पानी गिरता रहता है। समीप ही फूलों की क्यारियां हैं। इनमें खिले हुए रंग बिरंगे फूल उचक-उचक कर गिरते हुए पानी की शोभा देख रहे हैं। ऐसे सुन्दर रमणीक वातावरण के मध्य में मकबरे का विधान किया गया है। इन प्राकृतिक तत्त्वों के कारण इमारत बड़े सुन्दर और प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत होती है।

मुख्य मकबरा २२ फीट ऊँची महराबदार चौकी (Plinth) के बीचोंबीच में स्थित है। यह वर्गाकार है किन्तु कोनों को इस प्रकार काट दिया गया है जिससे अठपहलू प्रतीत हो। इमारत के प्रत्येक मुख-पट के मध्य में एक विशाल महराब है जिसके ऊपर वर्गाकार छत्रियां और दोनों ओर लघु मीनारें हैं। मुख्य महराब के दोनों ओर उप-महराब बनाए गए हैं। कुछ भागों को आगे बढ़ा दिया गया है, कुछ कोनों को काट दिया गया है। यह विधान बड़े सुरुचिपूर्ण ढ़ंग से हुआ है और बड़ा सुन्दर लगता है। अन्दर मध्य में एक अठपहलू हाल है, चारों कोनों पर चार छोटे अठपहलू कमरे हैं और भुजाओं में चार अन्य कमरे हैं। सब आलिन्दों (Corridors) द्वारा परस्पर सम्बद्ध हैं। सबसे ऊपर एक विशाल दुहरा गुम्बद है जिसके चारों ओर चार छत्रियां हैं। गुम्बद बल्बाकार है। उस पर पद्मकोश या कलश नहीं हैं। छत्रियां गुम्बद से कुछ अधिक हट गई हैं। अगर वे कुछ और समीप होतीं तो ऊर्ध्व रेखा कहीं अधिक सुन्दर लगती। रचना पत्थर की है जिसमें श्वेत संगमरमर का भी प्रयोग किया गया है।

चार-बाग पद्धति का सूत्रपात तो बाबर ने किया किन्तु इमारत की चतुर्मुखो वर्गाकार योजना से भारतीय कारीगर परिचित था। हमारे यहां सर्वतो भद्र मन्दिर इसी शैली पर बनते थे। इसमें केन्द्र में गर्भ-गृह और चारों ओर चार मण्डप होते थे। गर्भ-गृह के ऊपर मुख्य शिखर और मण्डपों के ऊपर चार उप-शिखर होते थे और ऊर्ध्व रेखा पर इस प्रकार पंचरत्न विधान बनता था। हूमायूँ के मकबरे में मूलरूप से यही योजना है और अनुमान है कि इसकी प्रेरणा भारतीय वास्तु-सिद्धान्तों से ली गई।

हूमायूँ का मकबरा मुग़ल वास्तुकला की उत्कृष्ट कृति है। इसमें विभिन्न प्रेरणाओं का सुन्दर समा-मेलन हुआ है। गुम्बद के साथ छत्रियों का प्रयोग यहां आकर परिपक्व अवस्था को पहुँचा और आगे चलकर ताजमहल में उसका चरम सौन्दर्य प्रकट हुआ। इसमें महराब के साथ शीर्ष पर भी छत्रियों का सुन्दर प्रयोग किया गया। लाल पत्थर के साथ श्वेत संगमरमर का उपयोग बड़ी कुशलता से हुआ है। इमारत के विभिन्न भागों में तालमेल बनाए रखने का प्रयत्न किया गया है। फिर भी मकबरे को आवश्यक उठान (Elevation) नहीं दिया जा सका है। इस दोष को स्थपति ने अन्य मकबरों में ठीक किया है। हूमायूँ के मकबरे का इस दृष्टि से मुग़ल मकबरों के विकास में महत्वपूर्ण स्थान है। ताज-महल ने भी रचनाविधि की मूल प्रेरणा इसी मकबरे से ली।

मुहम्मद गौस का मकबरा

लगभग उसके समकालीन ही ग्वालियर में प्रसिद्ध सूफी सन्त मुहम्मद गौस के मकबरे का निर्माण हुआ। इसकी रचना-विधि कुछ भिन्न है।

मध्य में एक वर्गाकार हाल है जिसके चारों ओर बरामदा है। ऊपर छज्जा दिया गया है। छज्जे के तोड़े बड़े कलात्मक हैं। बरामदे को सुन्दर डिजाईनों में काटी हुई पत्थर की जालियों द्वारा मुख्य द्वार को छोड़कर चारों ओर से बन्द कर दिया गया है। ये जालियां भी बड़ी सुन्दर लगती हैं। छज्जे के तोड़े और जालियों को देखकर अनुमान होता है कि इसकी रचना में गुजरात के कारीगरों ने भाग लिया होगा। ये दोनों ही तत्त्व स्पष्ट ही गुजरात की कला से प्रेरित हैं। हाल के ऊपर कोण-महराबों पर आधारित एक विशाल गुम्बद है जिसके चारों कोनों पर चार छत्रियां हैं। (चित्र-५७)

इस मकबरे में एक और विशिष्ट तत्व का सूत्रपात हुआ। इसके चारों कोनों पर और प्रत्येक भुजा के मध्य में अट्टालिकाएं (Towers) सम्बद्ध की गई। कोनों की अट्टालिकाएं षट्पहलू और तिमंजिली हैं जिनमें सबसे ऊपर छत्रियां हैं। भुजाओं के मध्य में इनकी रचना वर्गाकार है। इनके ऊपर की छत्री भी वर्गाकार है। ऊर्ध्व रचना में छत्रियां देने की योजना के अनुसार ही इनका विधान किया गया है। गुम्बद को चारों ओर से विभिन्न तलों में विभिन्न प्रकार के छत्रियों द्वारा ऐसे घेर दिया गया है जैसे कमल के फूल के चारों ओर पत्ते गिर जाते हैं। इससे इस इमारत का सौन्दर्य निखर उठा है। छत्रियां लिये हुए सम्बद्ध अट्टालिकाओं का प्रयोग बाद में बढ़े व्यापक स्तर पर आगरे में अकबर के मकबरे में किया गया और निश्चय ही वहां इस तत्व की प्रेरणा मुहम्मद गोस के मकबरे से ली गई। इस दृष्टि से इस इमारत का मुग़ल वास्तुकला के विकास में बड़ा महत्त्व है।

अकबरी शैली की इमारतें

अकबर ने १५५८ में आगरे को राजधानी बनाया। १५७१ में वह फतेहपुर सीकरी जाकर रहने लगा। इन दोनों ही नगरों में उसने बड़ी-बड़ी इमारतें बनवाईं। उसने गुजरात, राजस्थान और अन्य प्रान्तों से देशी कारीगर बुलवाये और उन्हें निर्माण-कार्य में लगा दिया। रेतीला लाल पत्थर यहां बहुतायत से मिलता है और इसी पत्थर से इन इमारतों का निर्माण हुआ। अकबर किसी धार्मिक अंकुश का कायल नहीं था और उसने इन कारीगरों को अपने ढंग से कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की। इन कारीगरों में गुज़रात के कारीगर प्रमुख थे। इनके पूर्वज पहले लकड़ी की इमारतें बनाते थे। लकड़ी के ही खम्भे, सर्पाकार तोड़े, तोरण, प्रसादिकाएं आदि तत्व बनते थे। धीरे-धीरे उन्होंने पत्थर में काम करना प्रारम्भ किया और यही तत्व पत्थर में बनाए जाने लगे। मूल कमनीयता बनी रही। प्राचीनकाल में ये लोग हिन्दू और जैनों के मन्दिर बनाते थे, अहमदशाही शासकों के अधीन उन्होंने लगभग इन्हीं तत्वों से मस्जिदों और मकबरों का निर्माण किया। उन्हीं के साथ ये तत्व आगरे और फतेहपुर सीकरी आए। अकबर की इमारतों में इन तत्वों का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है और इस प्रकार इन इमारतों की अपनी एक विशेष शैली बन गई जिसमें महराब और गुम्बद तो हैं किन्तु जिसमें इनसे कहीं अधिक व्यापक प्रयोग खम्भों, तोड़ों, छज्जों, प्रसादिकाओं और छत्रियों का हुआ है। रचना अधिकांशतः क्षैतिज है। पत्थर में कटाई के काम द्वारा अलंकरण किया गया है। सुन्दर जालियों का प्रयोग हुआ है। इस्लाम में जीवधारियों की अनुकृतियां बनाना वर्जित होते हुए भी इस शैली के अन्तर्गत इनका व्यापक चित्रण हुआ है। हिन्दुओं के कमल, चक्र, स्वस्तिक, पूर्ण-घट आदि रूपकों को भी मुक्त-हस्त प्रयोग किया गया है।

अकबर ने १५६५ में आगरे के किले का पुनर्निर्माण आरम्भ कराया। पहले यह दुर्ग ईंटों का था। अब इसे लाल पत्थर का बनाया गया। अत्यन्त ऊँची, दृढ़ और प्रशस्त प्राकारें बनाई गईं जिनमें बन्दूकों और तोपों के युद्ध के अनुसार कंगूरों, ढलवां छिद्रों और झिरियों का विधान किया गया। सैनिक दृष्टि से इस प्रकार इस दुर्ग को लगभग अभेद्य बना दिया गया। अबुलफज़ल के अनुसार अकबर ने इस किले में लगभग ५०० से ऊपर इमारतें बनवाईं। इनमें से अब केवल देहली और अमरसिंह द्वार और अकबरी और जहांगीरी महल आदि ही शेष रह गये हैं।

आगरे के किले में मूलरूप से चार द्वार थे।

इनमें दो बन्द कर दिए गए और दो अब शेष हैं। दिल्ली द्वार का निर्माण १५६६ में पूर्ण हुआ और अनुमान है कि अमरसिंह द्वार[1] जिसे मूलरूप से अकबर-दरवाज़ा कहते थे इसके समकालीन ही बना (चित्र-५८)। दोनों का रचना विधान एकसा है। खाई के ऊपर एक उठने वाला पुल है जिससे कभी भी किले का मुख्यभूमि से सम्बन्ध-विच्छेद किया जा सकता था। अन्दर अत्यन्त चढ़ावदार मार्ग बनाया गया है जो स्थान-स्थान पर सीधा मुड़ जाता है। चढ़ाव और ऐसे तीखे मोड़ों के कारण हाथी और तोपों को आगे बढ़ने में बड़ी कठिनाई हो सकती थी। ये मोड़ बड़े खतरनाक थे क्योंकि यहां आक्रमक सेना घूमने के लिये रुकती थी और ऊपर से बन्दूकों से उसे सहज ही निशाना बनाया जा सकता था (चित्रांकन-२)। इस योजना का इस प्रकार सैनिक दृष्टिकोण से बड़ा महत्त्व है। ये गढ़ मैदानी किलों में सबसे अधिक दृढ़ माना जाता है और सहज ही इस पर अधिकार करना सम्भव नहीं है। अकबर के राज्यकाल में विद्रोही सलीम ने और उसके राज्यकाल में उसके पुत्र शाहजहाँ ने इस किले को जीतने का प्रयत्न किया किन्तु वे सफल नहीं हो सके। १६५८ में औरंगजेब भी इस किले की पानी की व्यवस्था को बन्द करके सम्राट् द्वारा समर्पण किये जाने पर ही इस पर अधिकार कर सका था।

दिल्ली द्वार केवल सैनिक दृष्टिकोण से ही महत्त्वपूर्ण नहीं है उसे बड़े सुन्दर ढंग से अलंकृत भी किया गया है। द्वार के दोनों ओर छत्रियोंदार विशाल अट्टालिकाएं हैं और ऊपर कई मंजिल का महल (चित्र-५९) है। पत्थर की कटाई के काम के अतिरिक्त श्वेत संगमरमर में जड़ाऊ काम, रंगीन चित्रकारी चूने का अलंकरण और रंगीन टाइल्स का काम भी किया गया है। इसके दोनों ओर दो विशाल हाथी बने थे जिन पर जनश्रुति के अनुसार चित्तौड़ के वीर रक्षक जयमल और फत्ता की प्रतिमाएं विराजमान थीं। कालान्तर में इन्हें तोड़ दिया गया। इस द्वार को इसलिए हाथिया-पौर या हाथी-पोल भी कहते हैं।

जहांगीरी महल अकबर के काल की एक अत्यन्त उत्कृष्ट कृति है। इसका यह नाम १९ वीं शताब्दी में पत्थर के उस हौज के कारण पड़ गया जिसे जहांगीर ने १६११ में बनवाया था और जो इस महल के सामने गड़ा पाया गया और अब भी इसके मुख्य द्वार के सामने रखा है। वास्तव में इस महल को अकबर ने ही अपने रनिवास के लिए बनवाया था। मुखपट की योजना बढ़ी आलंकारिक है। कृत्रिम महाराबों के ऊपर तोड़ों पर आधारित छज्जा और खुले हुए दर बड़े अच्छे लगते हैं। दोनों ओर दो अट्टालिकाएं और उन पर बड़ी आकर्षक छत्रियां हैं (चित्र-६०)। अन्दर एक विशाल आंगन है जिसके चारों ओर कमरों, हाल बीधिकाओं का आयोजन किया गया है। उत्तरी हाल में मकर की आकृति के तोड़ों की छत्त का बोझ संभालने के लिए काम में लाया गया (चित्र-६१) है। यह बड़ी सुन्दर विधि है। अन्य कमरों में समतल छतों की विविध विधियों का प्रयोग हुआ है। आंगन के चारों ओर अत्यन्त कलात्मक तोड़ों पर छज्जा आधारित किया गया है। ऊपर की मंजिल में महराब की आकृति के झरोखों की शृंखला दी गयी है। यहां भी बड़े आकर्षक तोड़ों का प्रयोग हुआ है (चित्र-६२)। शीर्ष पर छत्रियां हैं। सबसे ऊपर की मंजिल में कार्तिकेय का विशाल मन्दिर था जिसके मयूराकृति के तोड़े अब भी शेष रह गये हैं (चित्र-६३)। इस विशाल महल की सम्पूर्ण रचना लाल पत्थर की है और उसमें खम्भे, तोड़े, छज्जे और छत्रियों का व्यापक प्रयोग किया गया है। हंस, हाथी, तोते, मोर और मकर की अनुकृतियां हैं। कमल और श्रीवत्स के रूपक हैं। स्पष्ट ही यह महल हिन्दू मन्दिर-सा लगता है। यह अकबर की वास्तु शैली का सही अर्थों में परिचायक है।

---

१ इसका यह नाम १६४४ में हुई अमरसिंह राठौर की घटना के कारण पड़ गया। अमरसिंह मारवाड़ के राजा जसवन्तसिंह के बड़े भाई थे और दरबार में मनसबदार थे। किसी बात पर तकरार होने पर उन्होंने मीरबख्शी सलामत खां का भरे दरबार में वध कर दिया। घमासान लड़ाई हुई जिसमें अमरसिंह और उनके साथी मारे गये। यह कहना सही नहीं है कि वे घोड़े पर बैठकर खाई के पार कूद कर भाग गये। इस द्वार के समीप पहले जो पत्थर का घोड़ा बना हुआ था वह अंग्रेजों द्वारा बनवाया गया था।

अकबर ने १५७१ में फतेहपुर सीकरी जाकर रहना प्रारम्भ किया। वहीं १५६६ में साम्राज्य के उत्तराधिकारी शहज़ादा सलीम का जन्म हुआ था और यह स्थान बड़ा शुभ समझा जाता था। किन्तु अकबर के फतेहपुर सीकरी को बसाने का केवल यही कारण नहीं था। फतेहपुर सीकरी की स्थिति बड़ी महत्त्वपूर्ण है। यह राजस्थान का द्वार कहलाता है। १५७१ में गुजरात के सम्पन्न प्रान्त को जीत लिया गया था। इससे राजस्थान का महत्त्व बढ़ गया। वैसे भी अकबर राजपूतों के प्रति मैत्रीपूर्ण नीति का पालन करता था। राजस्थान उसकी कूटनीति की आधारशिला था। राजस्थान से निरन्तर सम्पर्क बनाए रखना इसलिए आवश्यक था। १५७१ से १५८४ तक अकबर बराबर फतेहपुर सीकरी में रहा। १५८४ में वह लाहौर चला गया। यह कहना सही नहीं है कि पानी की किसी कमी के कारण फतेहपुर सीकरी को छोड़ दिया गया। पानी की दो बड़ी व्यवस्थाएं वहां अब तक शेष हैं जिनसे रहंट द्वारा पानी ऊपर चढ़ाया जाता था और नालियों द्वारा तालाबों में पहुँचाया जाता था। आवास के महलों में पानी की समुचित व्यवस्था थी। इनसे हम्मामों को भी पानी पहुँचाया जाता था। स्मरण रखने की बात है कि भारत में जितने बड़े-बड़े और सुन्दर हम्माम[1] फतेहपुर सीकरी में हैं उतने कहीं नहीं हैं। इन चालीस हम्मामों में से लगभग एक दर्जन हम्माम अभी ज्यों के त्यों शेष रह गये हैं। ये भी यही इंगित करते हैं कि फतेहपुर सीकरी में पानी की कोई कमी नहीं थी। वास्तव में अकबर के यहां से जाने का कारण उत्तरी पश्चिमी सीमान्त पर खुरासान के शासक अब्दुल्ला ख़ां उज्बेक का संकट था। वह ललचायी आंखों से काबुल की ओर देख रहा था और उस पर निगाह रखना आवश्यक था। अकबर अपनी सबसे सशक्त सेना और मानसिंह जैसे योग्य सेनापतियों के साथ पंजाब पहुँच गया और ११ वर्ष लगभग वहीं रहा। १५६५ में अब्दुल्लाखां की मृत्यु हो गयी और अकबर निश्चित होकर आगरे लौट आया।

फतेहपुर सीकरी में अकबर के जाकर रहने के फलस्वरूप बड़ी-बड़ी इमारतों का निर्माण हुआ। इनमें जामी मस्जिद, सलीम चिश्ती का मकबरा और कुछ महल जैसे तथाकथित जोधबाई और बीरबल के महल, मरियम और सुल्ताना के महल, ख्वाबगाह और पंचमहल, और तथाकथित दीवाने-खास और दीवानेआम मुख्य हैं। जामी मस्जिम का निर्माण १५७१ में हुआ। यह भारत की सर्वश्रेष्ठ मस्जिदों में गिनी जाती है। मध्य में एक विशाल आंगन है जिसके उत्तर, पूर्व और दक्षिण की ओर खम्मोंदार चौड़े दालान हैं (चित्रांकन–३)। उनके मध्य में एक-एक विशाल द्वार था। पूर्व का बादशाही दरवाजा ज्यों का त्यों है। उत्तर के द्वार को बन्द करके कब्रिस्तान में मिला दिया गया है। दक्षिण के मूल द्वार को तोड़कर दक्षिणी भारत के कुछ प्रदेश (अहमदनगर असीरगढ़ आदि) को जीतने के उपलक्ष में १६०१ में बुलन्द दरवाजा का निर्माण हुआ। १७६ फीट ऊँचा यह दरवाज़ा संसार के सर्वोच्च द्वारों में गिना जाता है। लाल और भूरे पत्थर में बड़े सुरुचिपूर्ण ढ़ंग से इसका निर्माण हुआ है (चित्र–६४)। चौड़ी सीढ़ियों के अन्त में विशाल महराब है जिसके ऊपर छत्रियों का बड़ा सुन्दर संयोजन हुआ है। पत्थर में कटाई के अतिरिक्त संगमरमर द्वारा जड़ाऊ काम भी किया गया है। कुछ भाग आगे बढ़ाकर प्रकाश में लाये गये हैं, कुछ में दर बनाये गए हैं और इस प्रकार छाया और प्रकाश के सिद्धान्त के द्वारा कृति को प्रभावशाली ढ़ंग से प्रस्तुत किया गया है। यह दरवाजा मस्जिद का एक गौण अंग होते हुए भी अपने आप में एक विशाल और भव्य इमारत है। यह उस युग की शाक-शौकत और नवीन वास्तु विधानों की रचना करने की क्षमता का परिचय कराता है।

आंगन के पश्चिम की ओर आराधना-भवन है। इसके मुखपट के मध्य में एक विशाल महराब है और दोनों ओर खम्भों पर आधारित महराबों की शृंखला है। इनके ऊपर तोड़ों पर आधारित छज्जा और सबसे ऊपर वर्गाकार छत्रियां हैं।

---

१. मुग़ल हम्माम केवल नहाने का स्थान नहीं था। वह गर्मी के मौसम में प्रयोग में लाने के लिये वातानुकूलित आवास का महल था। उसमें तालाब, फ़ुहारे, नालियाँ आदि बहते हुए पानी की समुचित व्यवस्था रहती थी।

(चित्र-६५) आंगन के तीनों ओर स्थित दालानों के ऊपर भी यही व्यवस्था है। ऊर्ध्व रचना में छत्रियों का यह क्रमिक विन्यास बड़ा सुन्दर लगता है। आराधना-भवन का मुख्य कक्ष वर्गाकार है और कोण महराबों द्वारा इसके ऊपर एक विशाल गुम्बद बनाया गया है। इस पर बड़े सुन्दर पद्मकोश आमलक और कलश का प्रयोग हुआ है।

मुख्य कक्ष (Nave) के दोनों ओर के स्कन्धों की योजना बड़ी सुन्दर है। प्रत्येक स्कन्ध को तीन भागों में बाँट दिया गया है। मध्य में एक वर्गाकार कक्ष है जिसकी कोनों में बाहर की ओर निकली हुई क्षैतिज शिलाएं देकर अठपहलू बनाया गया है और फिर उस पर धारियोंदार गोल छत्त बनाई गई है। इस कक्ष के दोनों ओर खम्भोंदार दालान हैं। स्पष्ट ही मस्जिद में २८ फीट ऊँचे इन खम्भों के प्रयोग की प्रेरणा गुजरात की मस्जिदों से आई। पश्चिम की दीवार में क्रम से महराबों की शृंखला है। रचना लाल पत्थर की है। कहीं-कहीं रंगीन पत्थरों से जड़ाऊ काम किया गया है। परम्परागत पत्थर की कटाई का काम तो है ही इस मस्जिद में में बड़ा सुन्दर रंगीन चित्रकारी का काम भी किया गया है। इस मस्जिद को सजाने और सुन्दर से सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करने में कोई कमी नहीं रखी गई है। साथ-साथ इसमें दोनों विधियों को बड़े प्रशंसनीय ढंग से समन्वित किया गया है। खम्भों के साथ महराबों का उपयोग हुआ है जिनमें पूर्व-मुग़लकाल की बर्छी के फलों की माला लगाई गई है। क्षैतिज तत्त्वों के साथ गुम्बद बनाया गया है। मुस्लिम और हिन्दू दोनों तत्त्व घुलमिल गये हैं और सम्पूर्ण रचना-विन्यास स्वरूप है।

सलीम चिश्ती के मकबरे का निर्माण १५८१ के लगभग हुआ। मूल रूप से यह लाल पत्थर का था, बाद में ज्यों का त्यों संगमरमर में बना दिया गया। यह वर्गाकार है किन्तु दक्षिण में मुख्य द्वार से सीढ़ियोंदार एक मुख मण्डप सम्बद्ध कर दिया गया है। यह हिन्दू मन्दिरों की योजना से प्रेरित है। वर्गाकार मुख्य कक्ष में सन्त की कब्र है। इसके चारों ओर श्वेत संगमरमर का जालियोंदार चौड़ा बरामदा है। मुख्य कक्ष के ऊपर गुम्बद है। बरामदे की छतें वर्गों में बाँटकर कोनों पर शिलाएें रख रखकर हिन्दू पद्धति पर बनाई गयी हैं। रेखाकृत डिजाइनों में बड़ी सुन्दर जालियों का प्रयोग हुआ है। किन्तु इस मकबरे की विशेषता इसके बाहर चारों ओर छज्जे को संभालने के लिये सर्पाकार तोड़ों (Struts) का प्रयोग है। इन तोड़ों की कटाई बड़ी आकर्षक है। लगता है श्वेत संगमरमर के नहीं बने हैं हाथी दांत के हैं। मुख मण्डप के कलात्मक खम्भों के साथ तो ये तोड़े और भी अधिक अच्छे लगते हैं (चित्र–६६) । वास्तव में इनका प्रयोग छज्जे का बोझ संभालने के लिये कम और इमारत को एक अद्भुत सौन्दर्य देने के लिए अधिक किया गया है। गुजरात में इन तोड़ों का बड़ा प्रचलन था और स्पष्ट ही यह तत्त्व भी फतेहपुर सीकरी में गुजरात के कारीगरों के साथ आया। इससे पहले इनका प्रयोग समीप ही स्थित संगतराशों की मस्जिद में किया गया था। इस प्रकार इस छोटे से किन्तु सुन्दर मकबरे के तीनों विशिष्ट तत्त्व-महीन कलात्मक जालियाँ(चित्र-६७) मुख-मण्डप और सर्पाकार तोड़ों की शृंखला-गुजरात की कला से प्रेरित हैं। यह प्रशंसा की बात है कि अकबर ने निस्संकोच इन तत्त्वों को स्वीकार किया और इन्हें इस मकबरे में प्रयोग करने की छूट दे दी।

अकबर के बनवाए हुए महलों में जोधबाई का महल सबसे बड़ा है (चित्र–६८) । यह अकबर का रनिवास था और इसे जोधबाई का महल कहना उचित नहीं है। स्मरण रखने की बात है कि जोधबाई नामक केवल एक ही स्त्री मुग़ल इतिहास में हुई है। वह जहांगीर की ब्याही थी। उसका नाम बानमती था। जोधपुर की राजकुमारी होने के कारण उसे जोधाबाई कहते थे। कालान्तर में उसने शहजादा खुर्रम (शाहजहां) को जन्म दिया जो १६२८ में गद्दी पर बैठा। अकबर की उस रानी का नाम जो सलीम की मां थी जोधबाई या जोधाबाई नहीं था। मुग़ल इतिहासकारों ने मरियम-उज-जमानी के नाम से उसका उल्लेख किया है। उसके राजपूत नाम का पता नहीं चलता और उसका अम्बर की राजकुमारी होना भी सन्देहास्पद लगता है।

मुग़ल इमारतों के नामों के विषय में बड़ी भ्रांति है। ये नाम अधिकांश: गाइड लोगों द्वारा गढ़े हुए हैं और उनके इतिहास पर प्रकाश नहीं डालते। बात वास्तव में यह है कि तत्कालीन इतिहासकारों ने जहां दरबार से सम्बद्ध बहुत-सी बातों का विस्तृत वर्णन किया है, इमारतों के विषय में वे लगभग मौन हैं। विदेशी यात्री जो १६ वीं और १७ वीं शताब्दी में भारत आये वे भी इस विषय में अधिक सहायक नहीं होते हैं। १९ वीं शताब्दी में इन इमारतों के विधिवत् रख-रखाव का कार्य प्रारम्भ हुआ और तभी उनके इतिहास के निर्माण की आवश्यकता अनुभव हुई। उस समय जैसा जिसे सूझा लिख दिया और यों बहुत-सी अनैतिहासिक बातें इन इमारतों के इतिहास के साथ जुड़ गई। वे कहानियाँ अब तक प्रचलन में चली आ रही हैं। इतिहास का पुर्ननिर्माण तो किया जा सकता है किन्तु इमारतों को अब नये नाम देना सम्भव नहीं है। स्वयं 'मुग़ल' शब्द भी इतिहास की दृष्टि से सही नहीं है क्योंकि बाबर मां की ओर से चगेज़ खां का वंशज था और पिता की ओर से तैमूरलंग का और भारत में जिस वंश की स्थापना उसने की उसे चग़ताई वंश कहना चाहिए। किन्तु मुग़ल शब्द इतना अधिक प्रचलित है कि उसे बदल देना असम्भव है।

जोधबाई के महल में पूर्व की ओर एक सुन्दर द्वार और पोली है, शेष सब तरफ से ऊँची ऊँची प्राचीरों द्वारा वह बन्द है। बाहरी दीवार में दूसरी मंजिल में स्थान-स्थान पर प्रसादिकाऐं बनाई गयी हैं जो झरोखों-सी सुन्दर लगती हैं। पौली भी आँगन में सीधी नहीं खुलती है वरन् मुड़कर जाती है जिससे बाहर से आंगन में नहीं देखा जा सकता है। यह विन्यास मध्यकाल में प्रचलित पर्दे की प्रथा के अनुसार किया गया था। अन्दर महल को हवादार बनाए रखने के लिए बीचों-बीच में एक विशाल आँगन है जिसके चारों ओर आवास के भवनों की व्यवस्था है। चारों भुजाओं के मध्य में बने भवन विशेषरूप से सजाये गए हैं। ये दुमंजिल हैं। नीचे जैन मन्दिरों के कोणात्मक खम्भों और दीवार में तोरणों का प्रयोग किया गया है। जालियोंदार प्रसादिकाऐं दी गयी हैं। ऊपर छत्रियां बनाई गयी हैं। इनमें भी पश्चिम की ओर स्थित भवन कदाचित् मन्दिर की तरह प्रयुक्त होता था। अत्यन्त कलात्मक तोरणों से सज्जित आलय शायद मूर्तियों रखने के काम आते होंगे। मन्दिरों जैसे झुके आसन भी बड़े सुन्दर लगते हैं। सम्पूर्ण रचना पत्थर की है। इनमें कमल चक्र और श्रीवत्स तो हैं ही चित्र-वल्लरी (Frieze) पर हंसों की पंक्तियाँ भी अंकित की गयी हैं। कोनों पर ऊपर की मञ्जिल में गुम्बददार कक्ष बनाये गए हैं। उत्तर और दक्षिण के भवनों की छतें ढलवां और खपरैल के डिजाइन की हैं और उन पर रंगीन टाइल्स का काम किया गया है। दक्षिण की ओर स्नानागार हम्माम और दासियों के रहने की व्यवस्था है।

इसके समीप ही उत्तर पश्चिम में बीरबल का महल स्थित है (चित्र–६९) । यह नाम भी अनैतिहासिक है। इसे न तो बीरबल ने बनवाया और न बीरबल वहां रहता ही था। यह सम्भव नहीं है कि रनिवास के समीप बीरबल को रहने की आज्ञा दे दी गयी हो। दोनों महलों के झरोखे इतने निकट हैं कि कंकड़ियां फैंकी जा सकती हैं। वास्तव में इसे अकबर ने स्वयं अपने आवास के लिये बनवाया था और फतेहपुर सीकरी के महलों में यह सबसे अधिक अलंकृत महल है। नीचे दो तरफ दो पौलियां और चार कमरे हैं। चारों तरफ एक विशाल छज्जा है जिसे अत्यन्त कलात्मक तोड़ों पर आधारित किया गया है। इन तोड़ों की कटाई दर्शनीय है और यह सिद्ध कर देती है कि भारतीय कारीगर पत्थर को मोम की तरफ से कांट-छांट सकता था। दीवारों पर भी सुन्दर डिजाइन काटे गये हैं। इनमें शैली करित (Stylized) फूल पत्तियों के डिजाइन और रेखाकृत डिजाइन मुख्य हैं। हाथी, हंस, तोते, और मोरों का प्रयोग किया गया है। हिन्दू रूपक बिना किसी हिचकिचाहट के प्रयुक्त हुए हैं। छत्तों तक पर अलंकरण किया गया है। फिर भी यह असुन्दर नहीं लगता, न आखें थकती हैं। विविध डिजाइनों के मेल के कारण इस अलंकरण में एकाकीपन नहीं है। ऊपर दुहैरे गुम्बदों का प्रयोग किया गया है। इन पर पद्मकोश

और कलश हैं। इन गुम्बदों और रेखाकृत डिजाइनों के अतिरिक्त इस इमारत की सारी साज-सज्जा विशुद्ध हिन्दू है।

जोधाबाई के महल के पड़ोस में ही मरियम का दुमंजिला महल स्थित है। इसे रंगीन महल भी कहते हैं और इसका यही नाम सार्थक है। इसकी दीवारों पर बड़ी सुन्दर चित्रकारी की गयी थी जिनमें युद्ध के दृश्य शिकार, खेल, हाथियों के युद्ध, जुलूस आदि चित्रित थे। कुछ अब भी शेष रह गये हैं। परियों के चित्र भी बनाये गये थे। और तो और हिन्दू देवी-देवताओं की अनुकृतियां भी अंकित थी। वास्तव में यह अकबर का चित्र-मन्दिर सा लगता है।

पचमहल इसके उत्तर पूर्व में स्थित है। खम्भों द्वारा निर्मित यह पांच मंजिल की खुली इमारत सभाओं और उत्सवों के काम आती होगी। इसमें विविध प्रकार के खम्भों का प्रयोग हुआ है। सम्पूर्ण रचना पत्थर की है। इसके सामने ही सुल्ताना का महल है। महल क्या है एक छोटा-सा वर्गाकार कक्ष है जो संग्रहालय या पुस्तकालय की तरह काम आता होगा जैसाकि दीवारों में चारों और बने ताकोंदार आलयों से प्रकट होता है। यह कक्ष भी विविध डिजाइनों में अलंकृत किया गया है। बरामदों पर ढलवां छत दी गयी है जो किसी झोंपड़ी पर बनी खपरेल का स्मरण कराती है। इसके समीप ही चार चमन्द तालाब हैं जिसके मध्य में एक चबूतरा है। इसे पुलों द्वारा चारों दिशाओं से जोड़ा गया है। ख्वाबगाह इसके ठीक ऊपर स्थित है। नीचे का भाग रहने के काम आता रहा होगा। किन्तु इसके ऊपर एक और अलंकृत कक्ष है। इसमें भी जैसे चित्रित पाण्डुलिपियों में दृश्य बनाए जाते थे वैसे दृश्य चित्रित थे। अब बहुत कुछ मिट गए हैं। महल की प्रशंसा में लिखे गये फारसी के कुछ पद अभी शेष हैं। यहां भी ताकोंदार आलय हैं और अनुमान होता है कि यह कक्ष भी अजूबा वस्तुओं को संग्रह करने या पुस्तकालय की तरह काम में लिया जाता रहा होगा। इसके बाहर भी वैसा ही ढलवां छतदार बरामदा है। सब तरफ मूल-रूप से बड़ी सुन्दर चित्रकारी की गयी थी जो अब लुप्तप्रायः हो गई है।

इसी प्रांगण में तथाकथित दीवाने-खास स्थित है। लाल पत्थर की यह वर्गाकार इमारत बड़े सुन्दर ढंग से बनाई गई है। बाहर प्रत्येक मुखपट के मध्य में तोड़ों और उदम्बर द्वारा एक द्वार बनाया गया है जिसके दोनों ओर जालियां हैं। इनके ऊपर चारों ओर सुन्दर आकृति के तोड़ों पर जालियोंदार गौख दी गयी है। बाहर से यों यह दूसरी मंजिल सी प्रतीत होती है। इसमें प्रत्येक भुजा में तीन दर हैं। इसके ऊपर का छज्जा विशेष रूप से झुका हुआ और कोणात्मक है। सबसे ऊपर चारों कोनों पर चार सुन्दर छत्रियां हैं (चित्र–७०)। बीच के चबूतरे पर भी अगर एक गुम्बद होता तो बड़ा सुन्दर लगता।

बाहर से दुमंजिली लगने वाली इस इमारत के अन्दर केवल एक बड़ा हाल है जो इमारत की छत तक काफी ऊंचा है। इसके ठीक बीचों-बीच में एक खम्भा है जो आधार पर वर्गाकार है फिर अठपहलू है और शिरस तक पहुँचते-पहुँचते १६ पहलू हो गया है। यहां से इसमें से ३६ गुजराती शैली के तोड़े निकलते हैं और ऊपर चढ़कर एक गोलाकार मंच को संभाल लेते हैं (चित्र-७१)। यह मंच हाल की लगभग आधी ऊँचाई पर बनाया गया है। इसको चारों कोनों से चार संकरे पुलों द्वारा जोड़ दिया गया है। एक गौख यहां अन्दर भी चारों ओर इससे सम्बद्ध बनाई गयी है। मंच चारों पुल और गौख सभी में जालियोंदार रोक लगी है। दो तरफ दो सीढ़ियां हैं जिनसे इस मंजिल में आया जा सकता है।

हाल के मध्य में एक खम्भा और उसके ऊपर गोल मंच–ये तत्त्व संसार में और कहीं किसी मुस्लिम इमारत में नहीं मिलते हैं। यह अनोखी रचना है। अकबर ने इसे क्यों बनवाया ? किंवदन्ती के अनुसार यह अकबर का दीवाने-खास है; अकबर बीच में बैठ जाता था और चारों ओर उसके मंत्री बैठ जाते थे। एक मत यह भी है कि यह अकबर का बनवाया हुआ इबादतखाना है। किन्तु ये दोनों ही बातें निरी गप्प हैं। इस छोटे से मंच पर इबादत-खाना होना असम्भव है। अबुलफज़ल बदायूंनी और निजामुद्दीन-तीनों तत्कालीन इतिहासकारों ने इबादतखाने का विस्तृत वर्णन किया है। वह चार

बड़े भागों में बंटा हुआ था जहां सैकड़ों व्यक्तियों के बैठने की व्यवस्था थी। इन संकरे पुलों पर मुश्किल से २० व्यक्ति बैठ सकते हैं। दीवाने खास की बात भी काल्पनिक है। अकबर के अंगरक्षक और दस-बीस निजी सेवक रनिवास के अतिरिक्त सदैव उसके साथ रहते थे और इस नन्हें से मंच पर वे सब नहीं आ सकते थे। यह भी समझ में नहीं आता कि इन संकरे पुलों और गोखों में मन्त्री कैसे बैठते होंगे। गद्दे बिछ जाने के बाद तो जगह और भी कम रह जाती होगी। अकबर को घूमने वाली कुर्सी की तरह चारों ओर घूमना पड़ता होगा। दीवाने खास नहीं हुआ—बच्चों का खेल हो गया।

वास्तव में इसे बनवाने का ध्येय इसे किसी काम में लाना (Functional) नहीं था। यह प्रतीकात्मक कृति है। अकबर ने बहुत से युग-प्रवर्तक प्रयोग फतेहपुर सीकरी में किये। १५७९ में उसने मजहर की घोषणा की जिसके अन्तर्गत सारे विवादास्पद धार्मिक विषयों पर सम्राट् का निर्णय अन्तिम माना जाने लगा। यहां उसने इबादतखाने का सूत्रपात किया और भिन्न-भिन्न धर्मों के पण्डितों को धार्मिक विचार-विमर्श के लिये आमंत्रित किया। उसने दीन-इलाही नामक नयी धार्मिक व्यवस्था चलाई। अकबर राजनीतिक कारणों से ही उदार नहीं था, स्वभाव से भी बड़ा जिज्ञासु और धार्मिक-सहिष्णुता के सिद्धान्त का समर्थक था। उसने जैन साधुओं को फतेहपुर सीकरी बुलाया और उनका बड़ा सम्मान किया। इनके सम्पर्क का सम्राट् के व्यक्तित्व पर बड़ा प्रभाव पड़ा। कुछ प्रमाणों के अनुसार उनसे उसने सूर्यसहस्त्रनाम का जाप सीखा। उसका प्रिय मित्र बीरबल सूर्य का उपासक था। उससे भी उसे सूर्योपासना की प्रेरणा मिली। कहते हैं सम्राट् प्रातः उठकर सूर्य को नमस्कार करता था। आगरे के किलें और फतेहपुर सीकरी में ख्वाबगाह में बने उसके झरोखे पूर्व की ओर खुलते हैं जिससे उगते हुए सूर्य के दर्शन हो सकें। पंचमहल का मुख भी पूर्व की ओर है और बहुत सम्भव है कि यह भी सूर्य सिद्धांत की किसी क्रिया से सम्बन्धित हो। समीप ही बने अकबर के दीवानेआम का मुख भी पूर्व की ओर है। उससे पहले के और बाद के सभी मुसलमान शासक जहां मक्का को अपना साक्षी बनाते थे और पश्चिम की ओर मुँह करके दीवाने आम में बैठते थे, अकबर सूर्य को साक्षी करके राज्य संचालन करता था।

भारतीय विचारधारा के अनुसार सूर्य सृष्टि का केवल माध्यम ही नहीं है, उसी के द्वारा पुरुष नित्यप्रति सृष्टि में विचरण करता है। सृष्टि आकाश और पृथ्वी का 'विशकम्मन' है और यह अक्ष ही उसे स्थिर रखता है। इस अक्ष पर प्रतिदिन सात घोड़ों वाला सूर्य आकर ठहरता है। हमारे यहाँ बड़े प्राचीन काल से इसी प्रतीक के अनुसार एक खम्भे के प्रासाद बनाये जाते थे। यह खम्भा सृष्टि के अक्ष का सूचक था। बुद्ध साहित्य में 'एक थम्बक-प्रासाद' का उल्लेख मिलता है। विजय सैन के देव-पारा के अभिलेख में प्रद्युम्न के एक मन्दिर के सन्दर्भ में ऐसे ही मेरु का उल्लेख है— आलम्ब स्तम्भम् एकम् त्रिभुवन भवनस्य। ऐसा लगता है कि अकबर ने इसी प्रतीक को इस इमारत में साकार किया है। चारों दिशाओं में छाये हुए चार पुल उसकी चक्रवर्ती महत्वाकांक्षा के सूचक हैं। निश्चय ही गुजरात में ऐसे एक-एक खम्भों का प्रयोग भवन-निर्माण में होता था अर्थात् किसी प्रासाद का सम्पूर्ण बोझ मध्य में स्थित एक दृढ़ स्तम्भ पर आधारित किया जाता था (चित्रांकन-४)। गुजरात में बड़े-
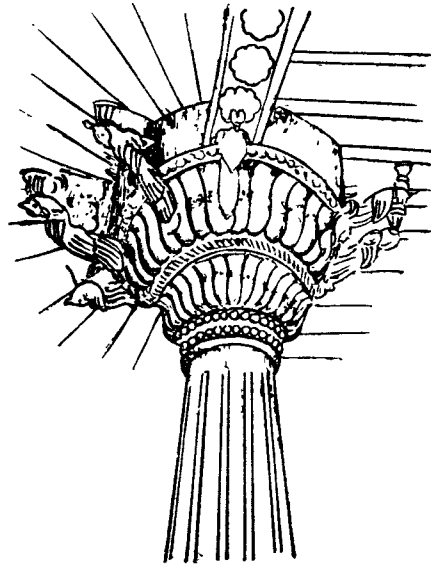
४. गुजरात में प्रयुक्त लकड़ी का केन्द्रीय खम्भा

बड़े शहरों में चिड़ियों को दाना-पानी देने के लिये सड़कों पर भी गोल मंचदार ऐसे खम्भे बनाये जाते थे जिन्हें 'परवाड़ी' कहते थे। इनकी रचना ज्यों की त्यों ऐसी ही होती थी। वे कारीगर इस रचना से भलीभांति परिचित थे और इस प्रतीक को साकार रूप देने में कोई कठिनाई नहीं थी। यह इमारत इस प्रकार एक प्रतीकात्मक कृति है और किसी उपयोगिता के साथ इसे नहीं जोड़ा जा सकता है। यह अकबर की उस उदार नीति का सूचक है जिसके अन्तर्गत वह भारत पर भारतीय मान्यताओं और भारतीय सिद्धान्तों के अनुसार राज्य करना चाहता है।

जहांगीरकालीन इमारतें

१६०५ में सलीम जहांगीर के नाम से मुग़ल साम्राज्य की गद्दी पर बैठा। १६११ में मिर्जा ग्यास बेग की सुन्दर पुत्री मेहरुन्निसा से उसका विवाह हुआ। यही स्त्री बाद में नूरजहां के नाम से विख्यात हुई। धीरे-धीरे जहांगीर को उसने अपने नियन्त्रण में कर लिया और पर्दे के पीछे बैठकर राज्य चलाने लगी। जहांगीर को स्वयं शराब, बागबानी और चित्रकारी में बड़ी रुचि थी। इमारतें बनवाने का शौक उसे उतना नहीं था। उसके पिता ने अपने लिये जो मकबरा बनवाना प्रारंभ किया था वह उसने पूरा कराया और कुछ बाग लगाये। नूरजहां ने अपने माता-पिता के लिये भी आगरे में एक बड़ा सुन्दर मकबरा बनवाया। ये दोनों मकबरे इस काल के ही नहीं, मुग़ल वास्तुकला की भी श्रेष्ठ कृतियां हैं।

आगरे के समीप ही सिकन्दरा नामक स्थान पर अकबर ने १६०५ में अपने लिये मकबरा बनवाना प्रारंभ किया। उसकी केवल चौकी ही बन पाई थी कि अकबर की मृत्यु हो गयी। जहांगीर ने उसे १६१२ में पूरा कराया। चार बाग पद्धति पर ही इसका विन्यास हुआ अर्थात् सम्पूर्ण बाग को चार समान भागों में बांट दिया गया। ठीक केन्द्र में मकबरा बनाया गया। चारों भुजाओं के मध्य में विशाल द्वार बनाये गये। दक्षिण की ओर का द्वार मुख्य द्वार है, शेष तीनों आलंकारिक हैं। मुख्य मकबरे से इन्हें पत्थर की चौड़ी-चौड़ी बीधिकाओं द्वारा जोड़ दिया गया। इन पर नालियों, तालाबों और झरनों की व्यवस्था की गई। इस प्रकार इमारत को एक अत्यन्त सुन्दर स्थिति में प्रस्तुत किया गया है (चित्रांकन–५)।
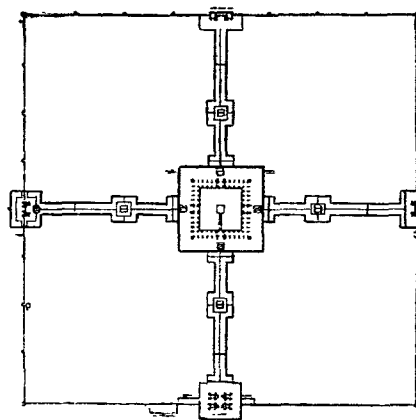
५. अकबर के मकबरे की योजना

मुख्य द्वार स्वयं में एक भव्य इमारत है (चित्र–७२)। अन्दर एक विशाल हाल है। प्रत्येक मुखपट के मध्य में एक महराब है जिसके दोनों ओर छोटे महराबदार आलय हैं। प्रत्येक महराब पर संगमरमर में सुरुचिपूर्ण ढंग से काटे हुए फारसी के अभिलेख हैं। आलयों में उत्कर्तित (Incised) चित्रकारी की गयी है। बाहर की ओर सब तरफ़ विभिन्न रंग के पत्थरों से बड़ा सुन्दर जड़ाऊ काम (Mosaic) किया गया है (चित्र–७३)। रेखाकृत और अरबीसम डिजाइनों का प्रयोग हुआ है। वैसे इमारत लाल पत्थर की है। ऊपर शीर्ष पर लाल पत्थर की ही छत्रियां बनाई गई हैं। छत्रियों के साथ इमारत के चारों कोनों पर संगमरमर की चार सुन्दर मीनारें बनाई गई हैं। ये गर्जराकार हैं। पहली मंजिल में कुतुबमीनार जैसी धारियां हैं। इसके ऊपर गोख है किन्तु तोड़ों की अपेक्षा उसको निच्यावाश्म पर आधारित किया गया है। दूसरी और तीसरी मंजिल की गौखों में तोड़ों का प्रयोग किया गया है। सबसे ऊपर एक अत्यन्त सुन्दर छत्री है जो बड़े प्रभावशाली ढंग से इस मीनार को मुकुट पहनाती है। चारों मीनारें मिलकर इस द्वार की शोभा में चार चाँद लगा देती हैं। उत्तरी भारत में इतने अधिक विकसित रूप में मीनारों का यह

प्रयोग पहली बार किया गया और निश्चय ही यह इस इमारत का एक विशिष्ट तत्त्व है। द्रष्टव्य यह है कि मीनार जैसे वास्तु तत्त्वों का सुन्दर प्रयोग तो इसमें हुआ ही है, अत्यन्त उत्कृष्ट श्रेणी का अलंकरण भी इसमें किया गया है। पत्थर की कटाई, रंगीन चित्रकारी, चूने की कला, विभिन्न रंग के पत्थरों का जड़ाऊ काम आदि सभी प्रचलित विधियों का उपयोग हुआ है। आश्चर्य यह है कि यह सब केवल एक द्वार में किया गया है जो इमारत का एक गौण भाग है।

उत्तरी द्वार तोड़-फोड़ दिया गया है और अब खंडहर पड़ा है। पूर्वी और पश्चिमी द्वार भी सात-सात मंजिल की विशाल इमारतें हैं (चित्र–७४)। कमरों, दालानों और सीढ़ियों का क्रम से संयोजन हुआ है। विविध विधियों द्वारा अलंकरण किया गया है। पश्चिमी द्वार के पीछे के आलयों में भी उत्कर्तित चित्रकारी हुई है। इसमें सफेदा और हिरमिच केवल दो रंगों का प्रयोग हुआ है। यह लोक-शैली की प्रचलित पद्धति थी जिसका उदारता-पूर्वक इस मकबरे में उपयोग किया गया है। यहां ऐसे तीन शिलापट्ट (Dados) भी मिले हैं जिन पर हाशियों में फूलदार जड़ाऊ काम (Inlay) किया गया है। १६०५ और १६१२ के मध्य बने इस मकबरे में इन शिलापट्टों के मिलने से यह सिद्ध हो गया है कि इस कला का सूत्रपात किसी फ्रांसीसी या इटली निवासी ने शाहजहां के राज्यकाल में नहीं किया वरन् यह देश में ही जन्मी और विकसित हुई कला है।

मुख्य मकबरे का डिजाइन बड़ा अनोखा और रोचक है (चित्र–७५)। ३० फीट ऊँची वर्गाकार चौकी है जो स्वयं में एक बृहत् मंजिल सी लगती हैं। इसमें विशाल, भारी और दृढ़ महराबोंदार चारों ओर खुले हुए कक्ष हैं। प्रत्येक भुजा के मध्य में एक अलंकृत ईवान है जिसके शीर्ष पर निर्यूहों के मध्य में संगमरमर की एक अत्यन्त कमनीय आठ खम्भों की आयताकार छत्री है। दक्षिण की ओर के ईवान के अन्दर अन्तराल मण्डप (Vestibule) है जिसकी दीवारों और छत पर रंगीन चित्रकारी (चित्र–७६) और रंगीन चूने का कलात्मक काम किया गया है। इस अलंकरण में सुनहरी रंग की बहुतायत है। सम्पूर्ण कक्ष प्रभावशाली ढंग से दमदमाता है और यह विश्वास नहीं होता कि यह मृत्यु के किसी स्मारक का पूर्व कक्ष है।

इसमें से एक ढलवां आलिन्द मुख्य कक्ष तक जाता है। १७५ फीट लम्बा यह आलिन्द मिश्र के पिरामिडों में बने गुप्त मार्गों जैसा है और गुफा-सा लगता है। ४० फीट वर्ग और ६० फीट ऊँचा मुख्य कक्ष इस समय सादा है किन्तु मूलरूप से वह भी अन्तराल मण्डप जैसा ही अलंकृत था। इसके ठीक मध्य में अकबर की एकांकी कब्र है। इसके रोशन-दान तीसरी मन्जिल पर खुलते हैं।

इस चौकी के चारों कोनों पर सम्बद्ध अट्टा-लिकाएँ हैं जिनके ऊपर विशाल छत्रियां हैं। मुख्य इमारत इस चौकी के बीचों-बीच में स्थित है। इसकी तीन मन्जिलें लाल पत्थर की हैं। सबसे ऊपर की मंजिल श्वेत संगमरमर की है। प्रत्येक भुजा में खम्भोंदार महराबों की शृंखला है। किन्तु इस इमारत का विशिष्ट तत्त्व दुमन्जिली वर्गाकार छत्रियां हैं जो इन तीनों मंजिलों के साथ बड़े सुरुचि-पूर्ण ढंग से सम्बद्ध की गई हैं। कुछ छत्रियां गुम्बद-दार हैं कुछ की छत ढलवां चौकोर हैं। कुछ पर रंगीन टाइलों का चमकदार अलंकरण हुआ है। सब पर पद्मकोश और कलश लगे हैं। खम्भों पर आधारित ये छत्रियां बड़े मनोरम ढंग से इमारत को चारों ओर से घेरे हुए हैं (चित्र–७७)।

चौथी मंजिल में एक गुप्त कक्ष है जिसके मध्य में एक गुप्त कब्र और बनी है। सबसे ऊपर की मंजिल की रचना संगमरमर की है। इसके मध्य में एक खुला आंगन है जिसके बीच में एक ढलवां चबूतरा है। इस पर संगमरमर की एक बड़ी सुन्दर कब्र है और संगमरमर का ही एक दीपाधार है। चारों ओर महराबदार दालान है जिन्हें वर्गाकार उपभागों में बांट दिया गया है। सलीम चिश्ती के मकबरे की तरह इनकी छतें भी कोनों पर त्रिकोणा-त्मक शिलाऐं रखकर समतल ढंग से बनाई गई हैं। बाहर की ओर उसी प्रकार जालियों का प्रयोग हुआ है। विविध प्रकार की इन सभी जालियों के डिजाइन रेखाकृत हैं। ये जालियां इस मंजिल की ही

शोभा नहीं बढ़ाती, नीचे की छत्रियों के साथ भी बड़ी सुन्दर लगती हैं। चारों कोनों पर चार तन्वंगी छत्रियां हैं।

आंगन की ओर चित्रवल्लरी पर फारसी के ३६ दोपदे संगमरमर में खुदे हुए हैं। इनमें २३ में अकबर की प्रशंसा की गई है। शेष दार्शनिक विचारों को लिपिबद्ध करते हैं। इस्लाम के निर्णय के दिन या हज़रत मुहम्मद का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। इसके विपरीत हिन्दुओं के नित्यात्मा सिद्धान्त का प्रसंग है। ये अभिलेख अकबर की धार्मिक भावना के सूचक हैं और यह सिद्ध करते हैं कि अपने मकबरे के प्रत्येक तत्त्व को अकबर ने स्वयं निर्णीत किया था और जहांगीर ने उन तत्त्वों में अधिक परिवर्तन नहीं किया।

अकबर के मकबरे में एक बड़ी कमी रह गई है। इसके ऊपर गुम्बद नहीं है जिससे इसके उठाव को पूर्णता प्राप्त होती। इमारत का मुकुट जहां होता है वहां स्थान खाली है। वास्तव में चबूतरे के ऊपर एक गुम्बद बनाने की योजना थी और प्रत्यक्ष-दर्शी विलियम फिन्च नामक विदेशी यात्री ने इस विषय का उल्लेख किया है। इस चबूतरे के नीचे अत्यन्त चौड़ी प्रशस्त दीवारें हैं और उनसे भी यही सिद्ध होता है कि इसके ऊपर भारी बोझ आने की योजना थी जिसके लिये दृढ़ आधार बनाने की आवश्यकता अनुभव हुई। किसी कारणवश यह गुम्बद नहीं बनाया जा सका। किन्तु गुम्बद बन जाने पर यह कितना अधिक सुन्दर लगता, इसका अनुमान काल्पनिक चित्र संख्या–७८ को देखकर लगाया जा सकता है।

इस मकबरे के अनोखे डिजाइन की प्रेरणा कहां से मिली ? यह किसी बुद्ध–बिहार की अनुकृति नहीं है न यह महाबल्लीपुरम् के रथ से प्रेरित है जैसा फरगुसन का विचार था। वास्तव में यह अकबर की ही शैली के विभिन्न तत्वों के संयोजन से तैयार की गई योजना है। इसमें खम्भोंदार महराबों की शृंखला के साथ खम्भोंदार छत्रियों का क्रमबद्ध प्रयोग हुआ है। फतेहपुर सीकरी की इमारतों और मुहम्मद गौस के मकबरे में ये तत्त्व विकसित रूप में प्रयुक्त हो चुके थे। दो कमियों के कारण यह डिजाइन निखर कर सामने नहीं आ सका है। एक तो इस विशाल इमारत के शीर्ष पर गुम्बद नहीं बन सका। दूसरे इसकी चौकी आवश्यकता से अधिक ऊँची बन गई, इतनी ऊँची कि यह अपने आप में एक मंजिल-सी लगती है जिससे समानुपात बिगड़ गये। मुख्य मकबरे से इसका तालमेल नहीं रहा। फिर भी यह मकबरा मुग़ल स्थापत्य की एक अत्यन्त उत्कृष्ट कृति है। इसके सौन्दर्य का सबसे प्रमुख तत्त्व यही है कि यह अकबर के व्यक्तित्व जैसा ही दृढ़ और प्रशस्त, गम्भीर और विचारवान् सा लगता है। शान्तिपूर्ण खड़ा हुआ यह दार्शनिक-सा प्रतीत होता है। न तो इसमें ऐत्मात्दुद्दौला के मकबरे जैसी तड़क भड़क प्रदर्शित करने की आकांक्षा है न ताजमहल जैसा स्त्रीत्व ! अकबर के स्थपति ने उसके मकबरे को सही अर्थों में उसका व्यक्तित्व का स्मारक बनाया है।

ऐत्मात्दुद्दौले के मकबरे का निर्माण १६२२ के पश्चात् नूरजहां ने कराया। यह यमुना के बायें किनारे पर स्थित है। यह नूरजहां के माता-पिता अस्मत बेगम और मिर्जा ग्यासबेग का मकबरा है। परम्परागत चार बाग योजना के यह ठीक बीचों-बीच में बनाया गया है। बहते हुए पानी की व्यवस्था के लिये तालाब, फुहारे, झरने और चौड़ी-चौड़ी नालियां बनाई गई हैं। इस इमारत में ये नालियां बहुत छिछली हैं और मुख्य मकबरे के चारों ओर ही नहीं, बाग के प्रत्येक उपभाग के साथ भी सम्बद्ध की गई हैं। मुख्य द्वार पूर्व की ओर है। उत्तर और दक्षिण की ओर आलंकारिक द्वार हैं। पश्चिम की ओर अर्थात् यमुना के ऊपर एक विशाल बारहदरी है। ये सभी लाल पत्थर की कृतियां हैं जिनमें जड़ाऊ काम के लिये श्वेत संगमरमर का व्यापक प्रयोग हुआ है।

मुख्य मकबरा श्वेत संगमरमर का बना है। यह वर्गाकार है। चारों कोनों पर तिमंजिली अट्टालिकाएं सम्बद्ध की गई हैं (चित्र–७९)। ये मूलरूप से अठपहलू हैं किन्तु छत पर जाकर गोल हो गयी हैं। इनके ऊपर गोल छत्रियां हैं। मकबरे की प्रत्येक भुजा में तीन महराब हैं। केवल मध्य के महराब में प्रवेश द्वार है, शेष दो जालियों से बन्द

कर दिये गये हैं। महराबों पर अत्यन्त बारीक कटाई का काम किया गया है जो हाथी-दांत की कला सा प्रतीत होता है। इनके ऊपर चारों ओर तोड़ों पर आधारित छज्जा है। अन्दर इमारत के मध्य में एक वर्गाकार हाल है जिसमें अस्मत बेगम और मिर्जा ग्यास की कब्रें हैं। अस्मत बेगम की कब्र हाल के ठीक बीचों-बीच में है, मिर्जा ग्यास की उसके दायीं ओर है। चारों कोनों पर चार छोटे वर्गाकार कमरे और भुजाओं पर आयताकार कमरे हैं। इन सब में बड़ी सुन्दर चित्रकारी और चूने का अलंकरण किया गया है। कुछ डिज़ाइन और हाशिये पाण्डुलिपियों से लिये गये हैं। स्मरणीय है कि जहांगीर के युग में मुग़ल चित्रकला अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची। लघु चित्रों (Miniatures) का स्पष्ट प्रभाव हमें इस इमारत के अलंकरण में मिलता है। दूसरी मंजिल में एक वर्गाकार मण्डप है जिसके ऊपर गुम्बद नहीं है बल्कि ढलवां चौकोर छत है जिस पर पद्मकोश और कलश हैं। इसमें जालियों का प्रयोग किया गया है। अन्दर अस्मत बेगम और मिर्जा ग्यास की नकली कब्रें हैं।

इस मकबरे में बाहर की तरफ की दीवारों और अट्टालिकाओं पर दोनों मंजिलों में बड़ा सुन्दर जड़ाऊ काम किया गया है। शैली करित फूल पत्तियों के और रेखाकृत डिजाइन अधिक हैं। ईरानी फूलों और वृक्षों और शराब पीने के जाम और सागर का भी खुलकर प्रयोग हुआ है। इंच-इंच पर श्वेत संगमरमर में जड़ाऊ काम का यह अलंकरण बड़ा सुरुचिपूर्ण है (चित्र-८०)। लगता है स्थपति से अधिक इस इमारत में अलंकरण के कलाकार का योगदान है।

मुग़ल वास्तुकला के विकास में इस मकबरे का विशेष महत्व है। अबतक इमारतें लाल पत्थर की बनाई जाती थीं और उनमें पत्थर की कटाई का अलंकरण होता था। कुछ इमारतों में यद्यपि संगमरमर का प्रयोग हुआ था जैसे अकबर के मकबरे की सबसे ऊपर की मंजिल संगमरमर की बनी थी। किन्तु सम्पूर्ण इमारत इस मकबरे में संगमरमर की बनाई गई। इसके अनुसार अलंकरण के मानदण्ड भी बदल गये। संगमरमर में कटाई उतनी सुन्दर नहीं लगती जितनी रंगीन पत्थरों की जड़ाई लगती है। परिणामस्वरूप यहां जड़ाऊ कला के द्वारा अलंकरण किया गया है। यह सत्य है कि यह बहुत घना हो गया है और घिचपिच सी लगती है। श्वेत संगमरमर में अलंकरण के साथ खाली स्थानों का होना बड़ा आवश्यक है जिससे अलंकृत भाग को महत्व प्राप्त हो। यह बात मुग़ल कलाकार इस मकबरे में सीखा और आगे चलकर उसने इस अनुभव का लाभ उठाया। ताजमहल और मोती मस्जिद में तो अलंकरण केवल नाम मात्र के लिये ही हुआ है। इससे वास्तु सम्बन्धी तत्वों को प्रधानता मिली और अलंकरण का मध्यकाल में जो बोल-बाला होने लगा था वह कम हो गया। इमारत की योजना से सौन्दर्य लाने का सिद्धान्त अग्रगामी हो गया।

जहांगीर के राज्यकाल में और भी बहुत-सी इमारतें बनवाई गई। जहांगीर ने अपनी मां का मकबरा भी सिकन्दरे में ही बनवाया। कांच महल नामक एक सुन्दर महल का भी निर्माण हुआ। वह अपनी आत्मकथा में एक और महल का उल्लेख करता है जो उसने किले में बनवाया था। यह अब शेष नहीं है। इन दो मकबरों के अतिरिक्त जहांगीर के कुछ बाग भी विख्यात हैं। काश्मीर में श्रीनगर में उसने १६१९ में शालीमार बाग बनवाया जो संसार के सुन्दरतम बागों में गिना जाता है। यह विभिन्न तलों में बनाया गया है। फ़ुहारोंदार एक बड़ी नहर इसके मध्य में बहती है। पत्थर की वीथिकाओं और सीढ़ियों के बीच में बहती हुई और झरने के रूप में गिरती हुई यह नहर बड़ा सुन्दर वातावरण उपस्थित करती है। स्थान-स्थान पर तालाबों और मण्डपों की व्यवस्था है। डल झील पर आसफ खां ने ऐसा ही एक सुन्दर बाग़ निशात-बाग का निर्माण कराया। मध्यकाल के बागों में ये दोनों सर्वोत्कृष्ट उद्यान हैं जिनमें केवल पेड़ पौधे ही नहीं हैं, मनोरम वास्तु विधानों के साथ बहते हुए पानी की सुन्दर व्यवस्था भी की गई है। जहांगीर ने लाहौर में रावी के किनारे दिलकुशा बाग़ बनवाया। वह आगरे की गर्मी सहन नहीं कर पाता था और लाहौर या काश्मीर में रहता था। दिलकुशा बाग पर उसने विशेष ध्यान दिया क्योंकि

यहीं उसने अपना मकबरा बनाने का निश्चय किया था। बाग़ को चार बड़े भागों में और प्रत्येक भाग को फिर चार उप-भागों में नहरों द्वारा बांटा गया है। केन्द्र में मकबरे की योजना है। १६२७ में उसकी मृत्यु के पश्चात् नूरजहां ने यह मकबरा बनवाया। यह एक मंजिला है। कोनों पर पांच मंजिल की मीनारें सम्बद्ध हैं। डिजाइनों में फूल-पत्तियों की बहुतायत है। जहांगीर को प्रकृति से बड़ा प्रेम था और वह चित्रकला में और अपनी इमारतों में ये प्राकृतिक रूपक ही प्रदर्शित करना चाहता था।

शाहजहां का स्वर्णयुग

१६२८ में शाहजहां गद्दी पर बैठा। उसकी इमारतें बनवाने में बड़ी रूचि थी और अपने ३० वर्ष के शासन काल में (१६२८–१६५८) उसने बड़े-बड़े महल, मस्जिदें और मकबरे बनवाये। इनमें मोती मस्जिद और ताजमहल जैसी विश्व-विख्यात इमारतें हैं। ये सभी इमारतें या तो संग-मरमर की बनबाई गयीं या इन पर श्वेत चूने का प्लास्टर किया गया जिससे यह संगमरमर की सी लगें। ऐसा ही उपयुक्त अलंकरण हुआ। शाहजहां वास्तु में सौन्दर्य तत्त्व को बहुत अधिक महत्त्व देता था और उसके काल में मुग़ल वास्तुकला में सौन्दर्य सम्बन्धी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। सादे महराब की अपेक्षा दांतेदार और विशेषकर ९ दांतों का महराब बनने लगा। यह अलंकृत खम्भों पर आधारित किया जाता था। तोड़े और छज्जे प्रयुक्त होते रहे। ऊर्ध्व रचना में छत्रियों का उपयोग बढ़ गया। गुम्बद अब अधिकांशतः ऊँचा उठा हुआ, बल्वाकार और दुहेरा बनाया जाने लगा। उस पर बड़े विशाल पद्मकोश और कलश सुशोभित होने लगे। इमारत के उठान और विभिन्न भागों में तालमेल बनाए रखने के सिद्धान्तों को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। अलंकरण की परिभाषा में अब अधिकांशतः रंगीन कीमती पत्थरों का जड़ाऊ काम रह गया जिसका प्रयोग भी बहुत कम, केवल चुंनीदा-चुंनीदा स्थानों पर होता था। यों शाहजहां के काल में मुग़ल वास्तुकला अपनी परिपक्व अवस्था पर पहुँची और कुछ अत्यन्त सुन्दर इमारतों का निर्माण हुआ। यह निस्संदेह वास्तु का स्वर्णयुग था और विकास की वह चरम स्थिति थी जिसके पश्चात् केवल पतन की ही सम्भावना रह जाती है।

इस काल की इमारतों को अध्ययन की दृष्टि से तीन सुलभ भागों में बांटा जा सकता है :—

(१) प्रशासकीय और आवास के महल।

(२) मस्जिदें, और

(३) ताजमहल जो अपने वर्ग की संसार में अकेली इमारत है।

आगरे के किले में शाहजहां ने अकबर की बनवाई लाल पत्थर की बहुत-सी इमारतों को तुड़वा दिया और उनके स्थान पर श्वेत संगमरमर के महल बनवाये। खासमहल (चित्र-८१) आवास के लिए बना। यह अंगूरी बाग नामक एक बाग के सामने एक ऊँची चौकी पर स्थित है। सामने एक बड़े हौज में फ़ुहारों की व्यवस्था है। अन्दर के कक्ष में संगमरमर पर सुनहरी चित्रकारी की गई। बाहर दालान में कटाई का अलंकरण भी है। इस प्रांगण के उत्तरी पूर्वी कोने पर शीश-महल स्थित है। यह नहाने का कमरा नहीं है जैसी भ्रांति प्रचलित है। यह गर्मी के मौसम में रहने के काम आता था। इसमें पानी के झरने, फुहारे और एक नहर की व्यवस्था है। अन्दर की दीवारों पर शीशे का जड़ाऊ काम किया गया है जो किसी भी कृत्रिम प्रकाश में दमदमाता है। इस शीशे की कला की प्रेरणा 'बैयजन्टाइन' से आयी जहां इसका भीतरी अलंकरणों में व्यापक प्रयोग होता था। तत्कालीन इतिहासकार अब्दुल हमीद लाहोरी ने इस सम्बन्ध में हलब (अर्थात् अलीपो) नगर का उल्लेख भी किया है। भारत में मध्यकालीन शीश-महलों में यह शीश-महल सर्वोत्कृष्ट कृति है।

मुसम्मन बुर्ज भी खासमहल की तरह ठीक नदी के सामने प्राकार के ऊपर स्थित है। यह भी सम्पूर्ण श्वेत संगमरमर की इमारत है। आंगन और दालानों में पानी की व्यवस्था है। मुख्य दालान में तो फर्श के मध्य में पानी का एक कलात्मक विधान किया गया है जिसमें फ़ुहारा लगा है। मुख्य इमारत अठपहलू है और एक अट्टालिका पर बने होने के कारण ही इसे मुसम्मन बुर्ज कहते हैं। इसमें रंगीन

चित्रकारी भी की गयी है। किन्तु विशेष अलंकरण उत्कीर्ण शिलापट्टों का है जिनके हाशिये जड़े हुए हैं। यह महल आवास के लिये वना होने पर भी बड़े सुरुचिपूर्ण ढंग से अलंकृत है। यहीं शाहजहां ने अपने बन्दीजीवन के आठ वर्ष (१६५८–६६) काटे और फिर अन्त में यहीं उसकी मृत्यु हुई।

शीश-महल के ठीक ऊपर दीवाने-खास स्थित है। यह प्रशासकीय इमारत है जहां विशेषरूप से दरबार का आयोजन होता था और केवल विशिष्ट व्यक्तियों, मंत्रियों और मनसबदारों को ही आमंत्रित किया जाता था। यहां महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार विमर्श होता था। यहीं औरंगजेब ने शिवाजी से पहली बार भेंट की थी। इसमें अन्दर एक विशाल हॉल है जिसमें अत्यन्त कलात्मक शिलापट्ट लगे हैं। बाहर चौड़ा दालान है जिसमें तीन तरफ दुहरे खम्भों का प्रयोग किया गया है। इन पर ६ दांतों वाले बड़े सुन्दर महराब बने हैं। इस इमारत का सम्पूर्ण सौन्दर्य इन दुहेरे खम्भों और इन महरावों के कारण है (चित्र–८२)। इन इमारतों में अधिकांशत: समतल छतों का प्रयोग हुआ है।

जिस प्रांगण के दक्षिणी पूर्वी कोने पर दीवाने-खास स्थित है उसे मच्छी भवन कहते हैं। मूलरूप से यहां तालाबों और झरनों की व्यवस्था थी जो अब शेष नहीं है। इसके उत्तरी पूर्वी कोने पर अर्थात् दीवानेखास के सामने हम्मामेशाही स्थित है। इसके उत्तरी पश्चिमी कोने पर नगीना मस्जिद स्थित है। यह छोटी-सी मस्जिद बड़े सुन्दर ढंग से बनाई गई है (चित्र–८३)। सम्पूर्ण संगमरमर की इस मस्जिद के मुखपट में तीन महराब हैं। महराबों के ऊपर छज्जा है जो बीच में से मुड़ा हुआ है और ऐसे ही इनके ऊपर शीर्ष भी मुड़ गया है। यह बंगाल की वास्तुशैली का विशिष्ट तत्त्व है और मूलरूप से बांस और फूँस की झोपड़ियों की रचना-विधि से प्रेरित है। परिणामस्वरूप बीच का गुम्बद पार्श्व के गुम्बदों से कुछ ऊँचा उठ गया है। इससे मध्य भाग को कुछ विशेष उठान मिल गया है जो सम्पूर्ण रचना विन्यास में बड़ा सुन्दर लगता है। इस मस्जिद के गुम्बद भी बड़े विशाल हैं और उन पर उनके अनुकूल ही प्रभावशाली पद्मकोशों का प्रयोग हुआ है। ऊर्ध्व रचना पर स्थपति ने निश्चय ही उस भाग से अधिक ध्यान दिया है जो नमाज पढ़ने के लिये काम में लाने को बनाया गया था। उपयोगिता से अधिक सौन्दर्य का ध्यान रखा गया है।

दीवानेआम तीन तरफ से खुला हुआ एक विशाल हॉल है (चित्र–८४)। जिसकी पूर्वी दीवार में एक ऊँचा सिंहासनालय है जिसमें सम्राट् बैठते थे। इसमें भी दुहेरे खम्भों और दांतेदार विशाल महराबों का प्रयोग हुआ है जो शाहजहां की वास्तु-शैली के विशिष्ट तत्त्व बन गए थे। ऊपर तोड़ों पर आधारित छज्जा है। एक सीधी रेखा में देखने पर खम्भोंदार महराबों की यह क्रमबद्ध शृंखला बड़ी सुन्दर लगती है। इस इमारत की रचना लाल पत्थर से हुई है किन्तु ऊपर से श्वेत चूने का प्लास्टर कर दिया गया है और उस पर सुनहरी काम किया गया है। मूलरूप से यह सब संगमरमर जैसाही सुन्दर लगता होगा।

इससे कुछ आगे उत्तर की ओर मोती-मस्जिद स्थित है। यह मुग़लों की मस्ज़िदों में ही नहीं संसार की सर्वोत्कृष्ट मस्जिदों में गिनी जाती है। बाहर से इसमें लाल पत्थर की रचना है किन्तु सम्पूर्ण-भीतरी भाग और ऊर्ध्व रचना संगमरमर की है। इसके मध्य में खुला हुआ आंगन है जिसके तीन ओर खम्भों और महराबदार दालान है जिनके ऊपर सुन्दर छज्जा है। मुख्यद्वार पूर्व की ओर है। दो उपद्वार उत्तरी और दक्षिणी भुजा के मध्य में भी बनाये गये हैं जिनमें दोनों ओर सीढ़ियों का विधान है (चित्रांकन–६)। आराधना-भवन का विन्यास बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है। मुखपट में चौड़े खम्भों पर सात, परम्परागत ६-दांतोंदार महराब हैं (चित्र–८५)। खम्भों के द्वारा सम्पूर्ण हॉल को वर्गाकार उपभागों में बांट दिया गया है। मध्य के तीन भागों की छतें गोल हैं और उनके ऊपर गुम्बद बने हैं, शेष सभी की छतें समतल हैं। इसमें स्थपति ने विशेष ध्यान ऊर्ध्व रचना पर दिया है। प्रत्येक महराब के ऊपर एक कमनीय वर्गाकार छत्री है। तीनों गुम्बद दुहेरे और बल्वाकार हैं और बड़े प्रभावशाली ढंग से आराधना भवन को आच्छादित करते हैं। चारों कोनों पर चार छत्रियां और बनाई

गई हैं और ऐसी ही आठ खम्भोंदार दो छत्रियां मस्जिद की पूर्वी भुजा के कोनों पर स्थित हैं। सब मिलाकर यह विन्यास बड़ा सुन्दर लगता है। अंगों में अत्यन्त आकर्षक तालमेल है और सम्पूर्ण रचना एकरूप है। स्मरणीय है कि इस मस्जिद में कोई अलंकरण नहीं किया गया है, अर्थात् इसमें ताजमहल का जड़ाऊ काम भी नहीं है। इसका सम्पूर्ण सौन्दर्य वास्तु-तत्त्वों के कारण है। यह मस्जिद पाश्चात्य विद्वानों की इस भ्रान्ति को कि पूर्व में वास्तुशैलियों में अलंकरण की प्रधानता रहती है, दूर कर देती है। इस मस्जिद का निर्माण १६४८ में प्रारम्भ हुआ और ऐसा प्रतीत होता है कि ताजमहल के कलाकारों का वहां काम समाप्त होते ही उन्हें यहां भेज दिया गया। वास्तु के विकास की दृष्टि से यह ताजमहल से भी एक कदम आगे है। यह १६५४ में बनकर पूर्ण हुई। स्मरणीय है कि यह जामी-मस्जिद नहीं है। इसे बनवाने का ध्येय उपयोगिता कम था। वास्तव में शाहजहां एक अद्वितीय मकबरा बनवाने के पश्चात् एक अद्वितीय मस्जिद बनवाना चाहता था जो उसके राज्यकाल की सम्पन्नता और कलात्मक उपलब्धियों का ताजमहल की तरह से स्मारक हो। इस युग के सांस्कृतिक विकास की यह चरमावस्था थी।

शाहजहां ने दिल्ली में लाल किले का निर्माण कराया। यह आगरे के किले की तरह दृढ़ और अमेघ नहीं है, न ही शाहजहां के युग में ऐसे विशाल दुर्ग को बनाने की कोई आवश्यकता ही थी। सम्राट् के रहने की व्यवस्था करनी थी और उसके लिये इतनी सुरक्षा काफी थी। यमुना की ओर आवास के बड़े-बड़े महल बनाए गए। उनमें बहते हुए पानी की समुचित व्यवस्था की गई। एक बड़ी नहर इन महलों के बीच में होकर जाती है और इससे सम्बद्ध स्थान-स्थान पर झरनों, फुहारों और लघु तालाबों का विधान है। इसे 'नहरे-बहिश्त' या स्वर्ग की नहर कहते हैं। यह नहर हम्माम, दीवान-ए-खास, ख्वाबगाह, मिजान-ए-इन्साफ आदि महलों में होती हुई रंगमहल में आती है। आवास के ये महल इस प्रकार जल महल से लगते हैं। दीवाने-खास में इसका सौन्दर्य ऐसा अनोखा है कि शाहजहां ने वहां फारसी में यह उक्ति अंकित करा दी है–'अगर पृथ्वी पर कहीं स्वर्ग है तो वह यहीं है।' रंग महल में भी उसकी छटा दर्शनीय है। विशेषरूप से इसके मध्य में स्थित कमल-सर का सौन्दर्य तो अवर्णनीय है। बीस फुट वर्ग के एक भाग में संगमरमर का जड़ाऊ एक विशाल कमल का फूल बनाया गया है जिसके मध्य में कमल की कली जैसाही एक फुहारा है (चित्र–८६)। पानी फुहारे से निकलकर पंखुड़ियों पर गिरता है और पंखुड़ियों से गिरकर नहर में मिल जाता है। पानी की गति से पंखुड़ियां उठती गिरती हुई प्रतीत होती हैं। यह अद्भुत कला है और भारतीय कारीगर की उस क्षमता का द्योतक है जिसके कारण वह एक युग में बोलती हुई अप्सराओं की मूर्तियां बना सकता है और दूसरे युग में अगर उसे मूर्तियां बनाने की स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है तो वह सजीव फूलों और पत्तियों का निर्माण कर सकता है। संसार में और कहीं भी ऐसे कलात्मक विधान नहीं हैं।

इन महलों के समीप ही मोती-मस्जिद स्थित है। यह कहना सही नहीं है कि इसे औरंगजेब ने बनवाया। यह शाहजहां के स्वर्णयुग की और उसी की शैली की कृति है। शाहजहां ने इसे बनवाना प्रारंभ किया किन्तु १६५८ में औरंगजेब ने उसे कैद कर लिया और औरंगजेब के राज्यकाल में १६५६ में इसे पूर्ण कराया गया। यह मस्जिद बहुत छोटी है किन्तु बड़ी सुन्दर है। बाहर लाल पत्थर की चहार-दीवारी है। अन्दर की सारी रचना श्वेत संगमरमर की है। इसमें दालान आदि कुछ नहीं है। आंगन के पश्चिम में एक ऊँची चौकी पर आराधना भवन है। इसमें तीन महराब हैं (चित्र–८७)। मध्य का महराब ऊँचा और बड़ा है। इसके ऊपर का छज्जा और शीर्ष मुड़े हुए हैं जैसे आगरे की नगीना मस्जिद में हैं। किन्तु यहां यह तत्त्व और अधिक विकसित रूप में प्रयुक्त हुआ है। मुड़ी हुई गोल छत का ऐसा रूपक इस आंगन में प्रवेश द्वार के अन्दर की ओर भी बनाया गया है। यह बड़ा क्रान्तिकारी प्रयोग था। आगे चलकर राजपूत वास्तुशैली में यह तत्त्व प्रमुख रूप से प्रयुक्त होने लगा और धीरे-धीरे १७ वीं शताब्दी के अन्त

से मुड़े हुई नुकीले छज्जे शीर्ष और छतें इस शैली के विशिष्ट तत्त्व हो गये।

इस मस्जिद की ऊर्ध्व रचना का विन्यास अत्यन्त सुन्दर ढंग से किया गया है। तीन दुहेरे बल्वाकार गुम्बद है जिनमें बीच का गुम्बद बड़ा और ऊँचा उठा हुआ है। इन पर बड़ी सुन्दर धारियां दी गयी हैं। इनके पद्मकोश और कलश भी बड़े प्रभावशाली हैं—गुम्बद इमारत को मुकुट पहनाते हैं और ये गुम्बद को सुशोभित करते हैं। इन गुम्बदों को छत्रियोंद्वार निर्यूहों से चारों ओर से घेर दिया गया है। कुल मिलाकर यह सुन्दर विधान है और उस युग के कलाकार के सौन्दर्य बोध का परिचायक है। सीमेन्ट की चादरों से बैरकें बनाये जाने वाले युग में इस अद्भुत ऊर्ध्व रचना का महत्त्व लोग कठिनाई से समझ पाते हैं।

इन घरेलू मस्जिदों के अतिरिक्त शाहजहां के युग में बड़ी-बड़ी मस्जिदों का भी निर्माण हुआ जिनमें आगरे और दिल्ली की जामी-मस्जिदें प्रमुख हैं। आगरे की जामी-मस्जिद का निर्माण १६४८ के लगभग जहांनारा ने कराया। लाल पत्थर की यह मस्जिद परम्परागत योजना पर बनी है। दालानों और आराधना भवन के ऊपर छत्रियों का व्यापक प्रयोग हुआ है और यही इस मस्जिद की विशेषता है वरनाँ इसके भारी गुम्वद अच्छे नहीं लगते हैं। वे कुछ ऐसे बैठे हुए हैं जैसे बेसन के लड्डू में घी अधिक हो जाने के कारण वह बैठ जाता है। इसके सामने का भाग १८५७ में अंग्रेजों ने तुड़वा दिया था जिससे इस पर तोपें रखकर किले के दिल्ली द्वार को ध्वस्त नहीं किया जा सके। अभी इसके पीछे की एक लघु मीनार गिर गई और दूसरी उतार दी गई। इमारतों की जो दुर्दशा इस युग में हुई है शायद १८वीं शताब्दी की अराजकता में भी वह नहीं हुई थी।

दिल्ली की जामी-मस्जिद इससे बड़ी और इससे कहीं अधिक सुन्दर है (चित्र–८८) इसे शाहजहां ने १६५० में पूर्ण कराया। यह ३० फीट ऊँची चौकी पर बनी है और द्वारों तक जाने के लिये इसलिए बड़ी सुन्दर सीढ़ियां बनाई गई हैं। आराधना भवन के मध्य में एक विशाल महराब है और दोनों ओर पांच-पांच महराबों की शृंखला है। अन्त में लम्बी धारीदार मीनारें हैं जिनके ऊपर छत्रियां सुशोभित हैं। तीन धारीदार गुम्बद आराधना भवन को आच्छादित करते हैं। यह रचना-विधान आगरे की मोती-मस्जिद जैसा तो सुन्दर नहीं हैं किन्तु आंखों को बुरा भी नहीं लगता है। वास्तव में संगमरमर की व्यक्तिगत मस्जिदों से इन जामी-मस्जिदों की तुलना नहीं की जा सकती। अपने वर्ग में ये निस्संदेह सफल रचनाएं हैं।

ताजमहल

संसार के इस महान् आश्चर्य का निर्माण शाहजहां ने अपनी प्रिय पत्नी अर्जुमन्द बानू बेगम की स्मृति में कराया। वह अतिशय सुन्दरी थी। शाहजहां ने उसे मुमताज महल का नाम दिया था। वह उससे अनन्य प्रेम करता था। १६२२ में जब शाहजहां ने जहांगीर के विरुद्ध विद्रोह कर दिया तो मुमताज उसके साथ थी। पांच वर्ष के विद्रोही जीवन में मुमताज उसके साथ मालवा, दक्षिण, उड़ीसा, बंगाल और बिहार में मारी-मारी फिरी। १६२८ में जब शाहजहां गद्दी पर बैठा तब कहीं जाकर चैन मिला। किन्तु १६३० में ही जब शाहजहां विद्रोही खान-ए-जहान लोदी का पीछा कर रहा था, मुमताजमहल की बुरहानपुर में मृत्यु हो गई। शाहजहां को इससे बड़ा गहरा धक्का लगा। वह फूट-फूट कर रोया। उसके इतिहासकार लाहोरी का कथन है कि इस दुर्घटना से पहले उसकी दाढ़ी में बीस बाल भी सफेद नहीं थे, इस दुर्घटना के पश्चात् उसके अधिकांश बाल सफेद हो गये। उसने मनोविनोद, भड़कीले कपड़े, उत्तम पकवान आदि का परित्याग कर दिया और शौक में डूबा रहा। इसी प्रिय मुमताज की स्मृति को अमर कर देने के लिये उसने एक सुन्दर मकबरा बनवाने का निश्चय किया। वैसे भी उसे इमारतें बनवाने का बड़ा शौक था और इस माध्यम से उसे अपनी रुचि को अधिकाधिक सुन्दर ढंग से व्यक्त करने का अवसर मिल गया।

उसने विभिन्न स्थपतियों की एक सभा बुलाई और उसमें अपना मन्तव्य प्रकट किया। उसने ऐसे मकबरे का नक्शा बनाने का आदेश दिया जो

नायाब, कमाल, लतीफ और अजीबो-गरीब हो। हरेक स्थपति ने अपने-अपने नक्शे पेश किये। एक नक्शा पसन्द किया गया। उसमें शाहजहां ने घटा-बढ़ी की और फिर उसके अनुसार लकड़ी का एक 'माडल' बनाया गया (बमूजिब आ नक्शा ललीफये रौज़ये चौबी तैयार शुद)। वास्तव में लकड़ी के बहुत से 'माडल' बने और ताजमहल के अनुपातों को इनमें ही अन्तिम रूप दिया गया। फिर उसे वास्तविक आकार में पत्थर का बना दिया गया। इसीलिए ताजमहल इतना विशाल होते हुए भी खिलौना-सा लगता है।

यहां भी चार बाग योजना का प्रयोग हुआ किन्तु उसमें एक बड़ा सुन्दर परिवर्तन किया गया (चित्रांकन–७)। अब तक मकबरे चार-बाग के मध्य
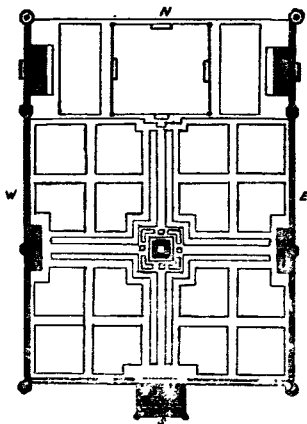
७. ताजमहल का योजना–विन्यास

में बनाये जाते थे। यहां मध्य में संगमरमर का एक तालाब दिया गया और मकबरे को बाग के उत्तर में ठीक यमुना नदी के ऊपर बनाया गया। सम्पूर्ण बाग को जैसे प्रेम के इस सुन्दर स्मारक के चरणों में रख दिया गया है (चित्र–८९)। इससे इसके सौन्दर्य में एक विशेष अन्तर पड़ा। अबतक पूर्व भूमि और पृष्ठभूमि एक बाग द्वारा ही प्रस्तुत होती थी। यहां बाग से केवल पूर्व भूमि (Setting) का विन्यास हुआ। संगमरमर के इस विशाल भवन की पृष्ठभूमि में खाली नीला आकाश आ गया। यह आकाश नित्य प्रति नये-नये रंग बदलता है और श्वेत संगमरमर की इमारत पर आकाश के ये रंग प्रतिबिम्बित होते हैं। प्रातः इसका रंग नर्गिस जैसा हल्का पीला सा लगता है। दोपहर में वह श्वेत कमल सा दमदमाता है। सांझ को गुलाब के फूल की तरह रक्तिम-सा हो जाता है। तारों भरी रात में जैसे यह सो जाता है। विभिन्न प्राकृतिक अवस्थाओं में इसे विभिन्न 'मूडों' में देखा जा सकता है। ताज सदा नया लगता है। क्रमशः बदलती रहने वाली पृष्ठभूमि के कारण ही यह जादू सम्भव हुआ है। स्थपति ने ताज के सौन्दर्य को प्रकृति के साथ अभिन्न रूप से सम्बद्ध करके सही अर्थों में यहां कमाल कर दिया है।

मुख्य द्वार (चित्र–९०) दक्षिण की ओर है पूर्वी और पश्चिमी भुजाओं के मध्य में आलंकारिक द्वार नहीं हैं, जल-महल हैं जो चौड़ी नहरों के ऊपर बड़े सुन्दर लगते हैं। चार बाग के मध्य में स्थित संगमरमर के तालाब से मुख्य द्वार और मकबरे के छोर तक दोनों ओर भी एक चौड़ी नहर है जिसमें कमल की कली की आकृति के फ़ुहारे लगे हैं। ताजमहल में पत्थर के झरने नहीं हैं, बहते हुए पानी की व्यवस्था का सौन्दर्य नहर और फ़ुहारों द्वारा लाया गया है। ताजमहल का प्रतिबिम्ब इस नहर में विविध रूपों में देखा जाता है। बाग और पानी की इस सुन्दर पूर्व भूमि में ताजमहल को प्रस्तुत किया गया है।

एक बृहत् आयताकार मंच पर ताजमहल ठीक जमुना के ऊपर बनाया गया है। इसके एक ओर एक मस्जिद है और दूसरी ओर वैसा ही मेहमानखाना है। ये दोनों लाल पत्थर की इमारतें हैं जिन में संगमरमर का प्रयोग हुआ है। अन्दर उत्कीर्तित चित्रकारी की गयी है। जिस चौकी पर ताजमहल स्थित है वह १९ फीट ऊंची है। ये सारी रचना श्वेत संगमरमर की है। मुख्य मकबरा वर्गाकार है किन्तु उसके कोणों को इस प्रकार काट दिया गया है जिससे वह अठपहलू प्रतीत होता है। इन कोनों के ठीक सामने चौकी के कोनों पर चार अत्यन्त सुन्दर मीनारे हैं जिनके ऊपर छत्रियां सुशोभित हैं। ये मीनारें बड़े आकर्षक ढ़ग से इमारत को चारों ओर घेरे हुए हैं जैसे कोई रानी अपनी सहेलियों के बीच खड़ी हो। हूमायूँ के मकबरे जैसा खटकने वाला एकाकीपन इसमें नहीं हैं (चित्र–९१)।

प्रत्येक भुजा में एक विशाल महराब है जिसके दोनों ओर दुमन्जिले लघु-महराब हैं। कोनों पर भी ऐसे ही लघु महराब हैं। सामने के महराबों की योजना आयताकार है जबकि कोनों के महराबों को अठपहलू योजना पर बनाया गया है जिससे वे किसी भी स्थान से देखने पर मुखपट से सम्बद्ध दिखाई दें। अन्दर ८० फीट ऊँचा एक विशाल हाल है। कोनों पर चार छोटे अठपहलू कमरे हैं। भुजाओं के केन्द्र में वर्गाकार कक्ष हैं। इन सबको बड़े-बड़े आलिन्दों द्वारा सम्बद्ध किया गया है (चित्रांकन-८)। दूसरी मंजिल पर भी यही विधान है। प्रवेश द्वार को छोड़कर सभी बाहरी महराबों को छोटे-छोटे शीशे के टुकड़ों को पत्थर की जालियों में लगाकर बन्द कर दिया गया है। अन्दर की इस योजना की प्रेरणा हूमायूँ के मकबरे से ली गई। वैसे हमारे यहां हेमकूट मन्दिर भी इसी योजना पर बनते थे (चित्रांकन-९) और यह सम्भव है कि मूलरूप से यह विन्यास हेमकूट मन्दिर की योजना से प्रेरित हो।
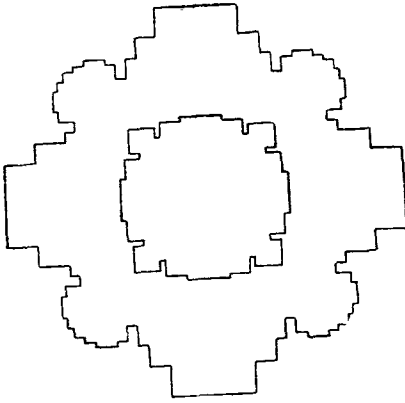
९. हेमकूट मन्दिर की योजना

अन्दर के हाल में महराबों के ऊपर कुरान की आयतों के अभिलेख अंकित हैं। शिलापट्टों पर विशेष अलंकरण किया गया है। इनके मध्य में संगमरमर में कमनीय ढंग से काटे गए घट-पल्लव हैं जिनमें फूल पत्तियों को वास्तविक रूप में प्रस्तुत किया गया है (चित्र-९२)। इनके हाशियों में रंगीन पत्थरों का जड़ाऊ काम है जिसमें शैली करित डिजाइन हैं। ऐसा ही जड़ाऊ काम कब्रों के चारों ओर बने संगमरमर के पर्दे की सुन्दर जालियों के हाशियों पर है (चित्र-९३)। ये महीन जालियां, कलात्मक घटपल्लव और जड़ाऊ काम अत्यन्त उत्कृष्ट श्रेणी की कलाएं है और अपने-अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं। संसार में ऐसे सुन्दर शिलापट्टों का अन्यत्र कहीं प्रयोग नहीं हुआ है।

ऊर्ध्व रचना का विन्यास भी अत्यन्त आकर्षक ढंग से हुआ है। इमारत के ऊपर एक विशाल ऊँचा उठा हुआ बल्वाकार गुम्बद है जिस पर सुन्दर पद्मकोश और कलश हैं। इसके साथ चारों कोनों पर चार सुन्दर छत्रियां हैं। वास्तव में ये छत्रियां गुम्बद से सम्बद्ध नहीं हैं किन्तु हूमायूँ के मकबरे की तरह ये गुम्बद से हटी हुई दिखाई नहीं देती। इन्हें सदैव गुम्बद के साथ बड़े सुन्दर ढंग से सम्मिलित देखा जाता है। गुम्बद की कुल ऊँचाई १४५ फीट है। निश्चय ही ताजमहल का सौन्दर्य इस विशाल दुहेरे गुम्बद के कारण है। यह इमारत को सुन्दरतम् उठान ही नहीं देता, नभरेखा पर एक मनोरम दृश्य भी उपस्थित करता है। चारों ओर से उठे हुए सम्बद्ध स्तम्भों पर आधारित निर्यूहों और छत्रियों के बीच में यह गुम्बद अद्वितीय सुन्दर लगता है। सम्पूर्ण रचना एक रूप है और विभिन्न अंगों में अभूतपूर्व तालमेल है। ताजमहल के अवर्णनीय सौन्दर्य के बहुत से पक्षों में बाल-बाल भर रेखागणित के सिद्धान्तों के अनुसार समानुपात और विभिन्न अंगों का एक रूप तालमेल भी है।

किंवदन्ती के अनुसार शाहजहां यमुना के दूसरी ओर ऐसा ही एक मकबरा काले पत्थर का बनवाना चाहता था। यह सही नहीं है। तत्कालीन इतिहासकार लाहौरी और कम्बों ने ऐसा कोई उल्लेख नहीं किया है। फ्रांसीसी यात्री टैवर नियर ने इस संबंध में तीन घटनाओं को अनैतिहासिक रूप से जोड़ दिया है— ताज का १६४८ में पूर्ण होना, १६५८ में औरंगजेब का शाहजहां को कैद करके गद्दी पर बैठना और १६६५ में टैवरनियर का आगरे आना और इस बात का उल्लेख करना। ताज के सामने स्थित खण्डहर इस योजना की नीवें नहीं हैं वे बाबर के लगाये महताब बाग के अवशेष हैं। मुख्य कक्ष में कब्रों की स्थिति से भी इस बात का अनुमान लगाया जाता है। किन्तु यह भी सही नहीं है। मुमताज की

कब्र यहां बीचों-बीच में ठीक उसी प्रकार है जैसे अस्मत बेगम की कब्र ऐत्मात्दुद्दौला के मकबरे में बीचों-बीच में है। यहां इसके चारों ओर एक पर्दा होने से मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और यह भ्रांति बन जाती है।

ऐसी ही कुछ और भ्रम पूर्ण कहानियां इस संसार प्रसिद्ध इमारत के विषय में प्रचलित हो गई हैं। १६ वीं शताब्दी के कुछ योरुपीय विद्वानों ने यह घोषित कर दिया कि इसका स्थपति जिरोनिमों विरोनियों नाम का एक इटली निवासी था। यह सही नहीं है। वह स्वर्णकार था और सोने की जड़ाऊ वस्तुएं बनाने का विशेषज्ञ था। अंग्रेज यात्री पीटर मण्डी के साथ वह काफी रहा और मण्डी ने भी उसे स्वर्णकार ही बताया है। ऐसी ही भ्रान्ति बोर्डे के आस्टिन के विषय में है। वह नकली जवाहिरात बनाने में सिद्धहस्त था और स्वयं अपने पत्रों में वह इस बात का उल्लेख करता है। यह सही नहीं है कि संगमरमर में जड़ाऊ काम की कला भारतीय कारीगरों को उसने सिखाई।

किसी भी तत्कालीन इतिहास वृत्त में ताजमहल के स्थपति का नाम नहीं दिया गया है। अनुमान से कुछ नाम लिये जाते हैं जैसे उस्ताद ईसा और उस्ताद अहमद। लाहोरी और कम्बो इनका उल्लेख नहीं करते। हो सकता है उस्ताद अहमद नामक स्थपति शाहजहां के यहां भवन-निर्माण विभाग में नियुक्त हो। किन्तु ताजमहल की योजना और अद्भुत डिजाइन का श्रेय उसे प्राप्त नहीं होता है। शाहजहां की स्वयं की सुरुचि को इस सम्बन्ध में भुलाया नहीं जा सकता। वास्तव में ताज मुग़ल वास्तु-शैली के क्रमिक विकास की चरमावस्था है और इसके सभी तत्वों का पहले की इमारतों में अध्ययन किया जा सकता है। चार बाग योजना और बहते हुए पानी की व्यवस्था, ऊँची चौकी, मीनारें, ईवान, गुम्बद के साथ छत्रियों का पंचरत्न प्रयोग आदि सभी तत्त्व प्रयोगात्मक रूप में प्रयुक्त हो चुके थे। ताजमहल में उन्हें सुन्दरतम और परिपक्वावस्था में उपयोग में लाया गया है। यह लकड़ी के माडलों में डिजाइन बनाने की विधि के कारण संभव हुआ। किसी एक व्यक्ति को इसकी इस सुन्दर योजना का जन्मदाता नहीं कहा जा सकता।

एक और नई कहानी इस विषय में गढ़ ली गई है कि यह मूलरूप से राजपूत महल था और शाहजहां ने उसे मकबरे में परिवर्तित कर लिया। अगर कोई इतना सुन्दर महल मानसिंह या किसी अन्य राजा ने बनवाया था तो राजपूत इतिहास वृत्तों में उसका किंचितमात्र भी उल्लेख क्यों नहीं है? अगर शाहजहां ने पहले से मौजूद किसी विशाल महल को मकबरे में परिवर्तित किया तब तो राजपूत इतिहास वृत्त कुछ उल्लेख करते। किन्तु एक शब्द भी परिवर्तन की कहानी के विषय में नहीं कहा गया है। फारसी के इतिहास वृत्त भी इस कहानी के पक्ष में कुछ नहीं कहते। अगर ये महल बाबर के समय में मौजूद था तो बाबर ने यमुना के दूसरी ओर चार बाग बनवाते समय इसे अवश्य देखा होता और अपनी आत्मकथा में उसका उल्लेख किया होता। क्या उसने १५२६–३० के मध्य में ही यह अनुमान लगा लिया था कि उसका एक वंशज १६३१–४८ के मध्य इस महल को मकबरे में परिवर्तित करेगा इसलिये उसे अपनी आत्मकथा में इस सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखना चाहिये? अगर इसे मानसिंह ने बनवाया तो निजामुद्दीन बदायूंनी और अबुलफज्ल में से किसी ने भी इसका उल्लेख क्यों नहीं किया। मान लीजिये कि वे सब इस षड़यन्त्र में शामिल थे तो विदेशी यात्रियों ने यह बात क्यों नहीं बताई? हाकिन्स टामसरो और एडवार्ड टैरी तो आगरे में वर्षों रहें किन्तु यहां ऐसे किसी महल के होने का कोई उल्लेख वे नहीं करते। डी लायट तो नाव लेकर यमुना के ऊपर नीचे खूब मटर गश्ती करता था और वह अपने वृत्तों में बारीक से बारीक बातों का वर्णन करता है। किन्तु वह भी यहां संगमरमर के किसी महल के होने का उल्लेख नहीं करता। १६३१ में पीटर मण्डी स्पष्ट लिखता है शाहजहां अपनी पत्नी की स्मृति में एक विशाल मकबरा बनवाना प्रारम्भ कर रहा है। टेवरनियर, मनूकी और बर्नियर— सभी इस बात का समर्थन करते हैं। कोई भी यह नहीं कहता कि यह परिवर्तित महल है। इन विदेशी यात्रियों

को यह बात छिपाने की क्या आवश्यकता थी ?

अब्दुल हमीद लाहौरी स्पष्ट लिखता है कि वह जमीन जो इस मकबरे के लिये चुनी गई मूल रूप से राजा मानसिंह की थी और इस समय उनके पोते राजा जयसिंह के अधिकार में थी। उन्हें इसके बदले में सरकारी जमीन दे दी गई और यहां नीवों से इमारत बनाने का काम प्रारम्भ हुआ। कम्बो इसका समर्थन करता है। ताजमहल बनने में लगभग १७ वर्ष लगे और वहां निरन्तर २०,००० मज़दूरों ने काम किया। मित्र राज्यों से विभिन्न प्रकार के पत्थर प्राप्त हुए। सरकारी खजाने से ४०,००० तोले सोना दिया गया जिसकी कीमत उस समय ६ लाख रुपये थी। अधिकांश खर्च कारीगरों और मज़दूरों को वेतन देने में हुआ। इन दोनों तत्कालीन इतिहासकारों ने ताजमहल ने निर्माण के सम्बन्ध में विस्तृत तथ्य दिये हैं और कहानियां गढ़ लेने की गुंजायश नहीं है।

बात वास्तव में यह है कि मुगल वास्तुकला के विकास को कुछ लोग समझ नहीं पाते हैं। अगर उन्हें किसी मुग़ल इमारत में खम्भे या तोड़े, पद्म-कोश या कलश, कमल या चक्र मिल जाता है तो वे विकास को प्रक्रिया का अध्ययन किये बिना ही घोषणा कर देते हैं कि ये परिवर्तित हिन्दू इमारत है। मध्यकाल में किस प्रकार दो पद्धतियों के विभिन्न तत्त्वों से मिलकर यह शैली विकसित हुई– वे जानकर भी नहीं जानना चाहते। हमारे यहां क्या रचना विधान था– यह भी वे नहीं जानते। इतिहास उन लोगों की दृष्टि में एक कहानी है— एक मजाक है, जो राजनीतिक उद्देश्यों से बढ़ाया घटाया, तोड़ा–मरोड़ा जा सकता है। खेद है यह गप कुछ इतनी अधिक प्रचलित हो गई है कि इतिहास की मूल धाराओं से अनभिज्ञ व्यक्ति इस पर सहज ही विश्वास करने लगता है। वास्तव में यह बात उतनी ही झूठ है जितना यह कहना कि काश्मीर का मार्तण्ड का मन्दिर यूनानी राजदूत मैगस्थनीज ने बनवाया था।

ताजमहल केवल एक शाही मकबरा ही नहीं है, यह एक अत्यन्त उत्कृष्ट कलाकृति है। विशेषकर चांदनी रातों में इसकी शोभा देखते ही बनती है। यह एक सुन्दर स्मारक है और इससे भी अधिक, यह एक कलापूर्ण प्रतीक है— मुमताज के सौन्दर्य का प्रतीक ! उसके व्यक्तित्व, उसके अद्वितीय सौन्दर्य का सजीव प्रतिबिम्ब। मुमताज के सुन्दर, सांचे में ढले शरीर के अनुरूप ही ताजमहल के अनुपात हैं कि कहीं बालभर भी फरक नहीं है। ताज के स्थपति ने सही अर्थों में इसे मुमताजमहल के स्त्रीत्व का प्रतीक बनाया है (चित्र–६४)। व्यक्तित्व और सौन्दर्य का ऐसा परिपक्व प्रतिष्ठापन जिसके चरणों में वास्तु के सारे सिद्धान्त लौट रहे हों, शायद कहीं और किसी भी युग में नहीं हुआ है।

ताजमहल १६४८ में बनकर पूरा हो गया। १६५८ में औरंगजेब ने शाहजहां को कैद कर लिया और अपने भाइयों और भतीजों को मारकर वह गद्दी पर बैठा। उसे न चित्रकला का शौक था, न संगीत का, न इमारतों में ही उसकी कोई रुचि थी। शाहजहां ने जिन कलाकारों को अपने दरबार में एकत्रित किया था, धीरे-धीरे वे हिन्दू राजाओं के आश्रय में चले गये। मुग़ल दरबार की शानशौकत उजड़ गई। राजनीतिक ह्रास के साथ सांस्कृतिक पतन भी प्रारंभ हो गया और धीरे-धीरे मुग़ल कलाओं का केवल इतिहास शेष रह गया।

लगभग एक शताब्दी तक पल्लवित मुग़ल वास्तु-कला के कुछ प्रमुख तत्व इस प्रकार हैं :—

(१) इसमें बाग और बहते हुए पानी की कृत्रिम व्यवस्था की जाती थी जिससे वातावरण तो मनोरम हो ही जाता था, इमारत को एक सुन्दर स्थिति में भी प्रस्तुत किया जा सकता था।

(२) इमारत को सौन्दर्य सिद्धान्तों के अनुसार अधिक से अधिक उठान दिया जाता था; अनुपातों और विभिन्न अंगों में तालमेल का ध्यान रखा जाता था। सम्पूर्ण रचना एकरूप होती थी।

(३) मुग़ल वास्तु-कला में निर्यूहों, छत्रियों और गुम्बदों के द्वारा ऊर्ध्वरचना का सुन्दर विन्यास किया जाता था। शाहजहां का स्थपति तो ऊर्ध्व रचना पर विशेष ध्यान देता था।

(४) इन रचनाओं में उपयोगिता को उतना महत्व नहीं दिया जाता था जितना सौन्दर्य तत्त्व और प्रतीकों के प्रकाशन की भावना को। बहुत-सी इमारतें मकबरे और मस्जिदें कम हैं कलाकृतियां अधिक हैं। उनमें साम्राज्य के वैभव और चमकदमक का प्रतिबिम्ब है।

(५) इन इमारतों में रचना और अलंकरण का बड़ा सुन्दर समन्वय हुआ है। अलंकरण कहीं भी रचनाक्रम पर हावी नहीं होता और सदैव गौण रहता है। इमारत में अलंकरण की अपेक्षा वास्तु तत्त्वों से सौन्दर्य लाने का प्रयत्न किया गया है। कुछ इमारतों का सम्पूर्ण सौन्दर्य वास्तुक (Architec tonic) है।

(६) मुग़ल वास्तुकला में दो शैलियों का समन्वय हुआ है त्रिज्याकार और समतल। दोनों के तत्त्व एक दूसरे में बड़े सुन्दर ढंग से घुल-मिल गए हैं जैसे खम्भोंदार महराब के ऊपर तोड़े और छज्जे गुम्बद पर पद्मकोश और कलश और उनके साथ छत्रियों का प्रयोग। बाहर से आने वाली प्रेरणाओं को स्वीकार किया गया है। धीरे-धीरे इस प्रकार एक राष्ट्रीय शैली का विकास हुआ।

(७) मुग़ल वास्तुकला धर्म-निरपेक्ष कला है। अब तक भारत की सभी वास्तु शैलियां धार्मिक भावना से प्रेरित थी, इस पूर्णतया लौकिक कला का विकास मुग़लों के संरक्षण में ही सम्भव हुआ। इस्लाम में वर्जित पशु-पक्षियों की अनुकृतियां भी इस शैली के अन्तर्गत बनाई गई। वास्तव में धार्मिक मानदण्डों से इस कला ने कोई निर्देशन नहीं लिया।

(८) यह विशुद्ध दरबारी कला है। दरबार के संरक्षण में इसका प्रादुर्भाव हुआ, पली और विकसित हुई। दरबार का संरक्षण न रहा तो यह कला भी समाप्त हो गई। इसका लोक-भावना से उतना सम्बन्ध नहीं था न यह जनजीवन की अभिरुचियों या आस्थाओं को लेकर ही जन्मी थी। परिणामस्वरूप इस कला के अन्तर्गत बनी इमारतों पर बनवाले वाले की व्यक्तिगत छाप है। कुछ स्पष्ट अकबर की हैं कुछ शाहजहां की। ये उस युग में व्यापक धाराओं का उतना प्रतिनिधित्व नहीं करतीं जितने अपने बनवाने वाले की रुचियों और मान्यताओं का।
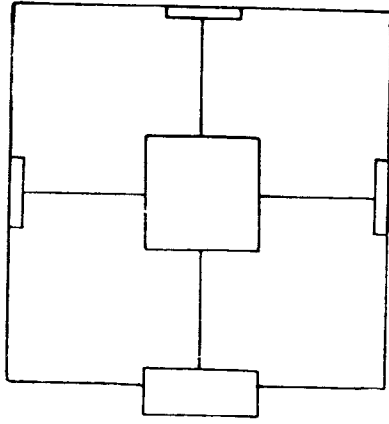
चित्रांकन (१)—चारबाग व्यवस्था
(देखिये पृष्ठ-५४)
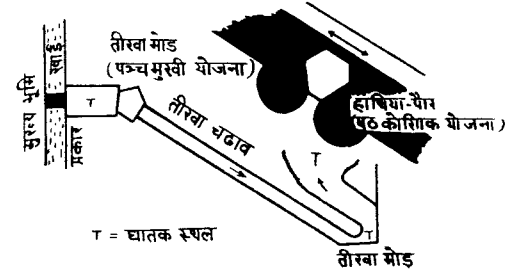
चित्रांकन (२)—आगरे का किला, दिल्ली-द्वार की सैनिक योजना
(देखिये पृष्ठ-५८)
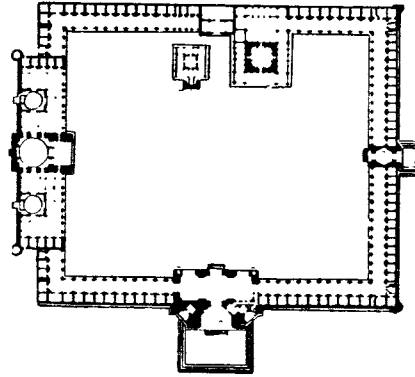
चित्रांकन (३)—जामी मस्जिद (फतेहपुर सीकरी) का योजना विन्यास (देखिये पृष्ठ-५६)
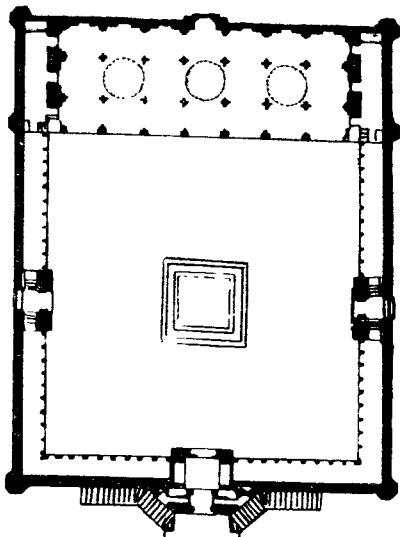
चित्रांकन (६)—मोती मस्जिद (आगरे का किला) का योजना-विन्यास
(देखिये पृष्ठ-६६)
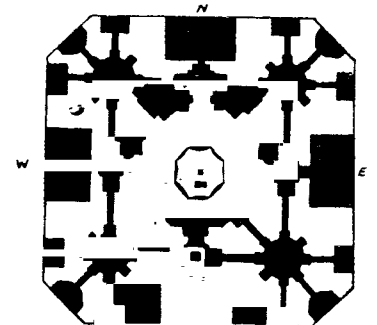
चित्रांकन (८)—ताज महल-मुख्य कक्ष की योजना
(देखिये पृष्ठ-७३)

१२

उपसंहार

मध्यकाल की हिन्दू वास्तु-कला और समन्वित शैली का विकास

इस युग की हिन्दू वास्तु-कला में दो भावनाएँ व्याप्त थीं। एक के अन्तर्गत तो निर्माण कार्य पूर्णतया प्राचीन परम्पराओं पर होता था और उसमें नवीन प्रेरणाओं को कहीं भी स्थान नहीं मिला था। मुख्यत: इसमें मन्दिरों की गिनती है। दसवीं शताब्दी में जो वास्तु शैलियां विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित थीं उनके क्रमिक विकास में नवयुग के अवतरण का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। ये देशज शैलियां अपनी आस्थाओं और रुचियों के अनुकूल ही पलती रहीं। पूर्व में उड़ीसा में कोणार्क का प्रसिद्ध सूर्य मन्दिर १३ वीं शताब्दी में बना। १३ वीं शताब्दी में ही दक्षिण में सुन्दर पण्डया का का गोपुरम और सोमनाथपुर के केशव-मन्दिर का निर्माण हुआ। दक्षिण में मुसलमानों की तोड़-फोड़ की गतिविधियां उतनी व्यापक नहीं थी जितनी उत्तरी भारत में और यहां अनवरत निर्माण कार्य होता रहा। १४ वीं शताब्दी में तिरूमलाई और कुम्बकोनम के मन्दिर और तंजौर के ऐरावतेश्वर मन्दिर बने। विजयनगर साम्राज्य के अन्तर्गत भी बड़े-बड़े निर्माण हुए। इनमें विट्ठल स्वामी का सुन्दर मन्दिर अभी शेष रह गया है। १६ वीं शताब्दी में भी यह रचना क्रम चलता रहा और मदुरा वेलूर श्रीरंगम, चिदम्बरम्, रामेश्वरम्, त्रिचनावल्ली और ट्रावनकोर में बड़े-बड़े मन्दिरों का निर्माण हुआ। इनमें मदुरा का मीनाक्षी मन्दिर बड़ी उत्कृष्ट कृति है।

आबू का तेजपाल का मन्दिर १३ वीं शताब्दी में बना। गुजरात में गिरनार और पालीताना के पहाड़ी तीर्थों में भी कुछ जैन मन्दिर बनवाए गए। किन्तु गुजरात का प्रदेश निरन्तर या तो दिल्ली की केन्द्रीय सत्ता के अधीन रहता था, या स्वतन्त्र मुस्लिम सुल्तान वहां राज्य करते थे। इसलिए वास्तुकला की दृष्टि से अत्यन्त सृजनात्मक प्रदेश होते हुए भी यहां विशुद्ध हिन्दू वास्तु-कला की कोई विशेष प्रगति नहीं हुई।

दूसरी ओर मध्यकाल के कुछ राजाओं ने ऐसी भी इमारतें बनवाईं जिनमें हिन्दू-मुस्लिम मिश्रित शैली का व्यापक प्रभाव देखने को मिलता है। ग्वालियर का मानमन्दिर (चित्र-९५) इस दृष्टि-कोण से विशेष उल्लेखनीय है। इसे राजा मानसिंह (१४८६-१५१६) ने बनवाया। इसमें मूल रूप से तो हिन्दू पद्धति का ही पालन हुआ किन्तु नई प्रेरणा को भी उपयोग में लाने का प्रयत्न किया गया है। कुछ कमरों में त्रिज्याकार महराब बनाए गए हैं। छत्रियों में गुम्बदों की विधि काम में लाई गई है। सबसे मुख्य बात पूर्वी दीवार और अन्दर के

आंगनों में रंग बिरंगी टाइलों का प्रयोग है। (चित्र–६६) यह विशुद्ध ईरानी अलंकरण है जो सल्तनत काल में मुसलमानों के साथ भारत में आया। इस काल में मान-मन्दिर ही एक मात्र हिन्दू कृति है जिसमें इस अलंकरण का बड़े व्यापक पैमाने पर मुक्त हृदय से उपयोग हुआ है।

मेवाड़ के प्रतापी महाराणा कुम्भा (१४३३-६८) इमारतों के निर्माण में बड़ी रुचि लेते थे। कहते हैं उन्होंने मेवाड़ में ३२ किलों का निर्माण कराया, बसन्तपुर नामक नगर की नींव डाली और ७ झीलें बनवाईं। कुम्भलगढ़ का दुर्ग वास्तव में उनकी रचनात्मक प्रतिभा का प्रत्यक्ष प्रतीक है। उन्होंने मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी को हराया और इस उपलक्ष में चित्तौड़ में ९ मंजिल का विजय-स्तम्भ बनवाया जो वास्तु और शिल्प की दृष्टि से एक अद्भुत कृति है। सबसे ऊपर छत्री का गुम्बद धारीदार है और बड़ा आकर्षक लगता है। उन्हीं के राज्यकाल में रणपुर के विशाल जन मन्दिर का निर्माण हुआ। इसमें मध्य में आदिनाथ की चतुर्मुखी प्रतिमा है, चार कोनों पर चार उप-मन्दिर हैं। कुल २४ मण्डप हैं और ४४ शिखर हैं। पांच मन्दिर-कक्षों पर पांच गुम्बद हैं। कुल १४४४ खम्भे हैं जिनमें प्रत्येक अपने ढंग का अकेला है। खम्भों को प्रत्येक दिशा में बड़े सुरुचिपूर्ण क्रम से लगाया गया है। शिखरों के साथ गोलाकार गुम्बद बड़े सुन्दर लगते हैं। साथ-साथ वे मध्यकाल की मिश्रित वास्तु शैली के भी परिचायक हैं जिसके अन्तर्गत महराबों और गुम्बदों का प्रयोग हिन्दू तत्त्वों के साथ-साथ होता था। इस मन्दिर में मूल्यवान् पत्थरों द्वारा जड़ाऊ काम (Inlay) करने का भी सबसे पहले प्रयत्न किया गया है।

मध्यकाल के आरंभ में वास्तुकला के दो बड़े-बड़े ग्रन्थों का निर्माण हुआ। समरांगण सूत्रधार जिसे राजा भोज ने ११वीं शताब्दी में लिखा और मानसार जो दक्षिण में लिखा गया। महाराणा कुम्भा के संरक्षण में भी वास्तु पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे गये। उनके स्थपति आचार्य मण्डन ने वास्तु और शिल्प पर उनके ही संरक्षण में निम्नलिखित ग्रन्थ लिखे :–

(१) देवतामूर्ति प्रकरण, (२) प्रासाद मंडन, (३) राजवल्लभ, (४) रूपमंडन, (५) वास्तु मंडन, (६) वास्तु शास्त्र, (७) वास्तु सार, (८) रूपावतार।

मण्डन के पुत्र गोविन्द ने उद्धारधोरणी, कला-निधि और द्वारदीपिका नामक ग्रन्थ लिखे। मण्डन के भाई नाथ ने वास्तुमंजरी की रचना की। कुम्भा ने विजय-स्तम्भ के विषय पर भी अपने एक स्थपति से एक ग्रन्थ लिखवाया और इसे पाषाण फलकों पर खुदवाया। इसका एक फलक अभी उदयपुर संग्रहालय में सुरक्षित है। ध्यान देने की बात यह है कि मध्यकाल में किसी भी युग में चाहे वह मुग़लों का स्वर्ण-युग ही क्यों न हो, मुस्लिम वास्तु-कला पर कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया और स्पष्ट ही निर्माण भारतीय सिद्धान्तों पर होता रहा। मध्य-काल की मुस्लिम इमारतों में कुतुबमीनार से ताज-महल तक-भारतीय कारीगरों ने काम किया और उनकी रचना भारतीय वास्तु शास्त्रों के आधार पर हुई। सदैव भारतीय तालमान ध्यान में रखे गये। विदेशी प्रेरणाओं को इन कलाविदों ने अपनी शैली में घोलमेल लिया और वास्तु-कला को एक नया रूप-और निश्चय ही एक नया जीवन-दिया। भार-तीय संस्कृति की अनवरत धारा में मध्यकाल का यही महत्त्वपूर्ण योगदान है।

इस सम्बन्ध में वृन्दावन का गोविन्द देव का मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसका निर्माण मुग़लकाल में १५६० ई० में अम्बर के राजा और विख्यात मग़ल मनसबदार राजा मानसिंह ने कराया। रूपा और सनातन नामक दो आचार्यों के निर्देशन में यह कार्य सम्पन्न हुआ। मूलरूप से इसकी योजना बड़ी विशाल थी। सात भव्य शिखरों का नभरेखा पर आयोजन किया गया था। ये अब शेष नहीं हैं। किन्तु लाल पत्थर की अत्यन्त कलात्मक इस इमारत में हिन्दू मुस्लिम मिश्रित शैली के बहुत से विशिष्ट तत्त्वों के अब भी दर्शन होते हैं। खम्भे तोड़े और प्रसादिकाओं के साथ महराबों का सुन्दर प्रयोग किया गया है। इनमें बर्छी के फलों की माला लगाई गई है। कुछ छतें त्रिज्याकार हैं और अनुमान है कि उनके ऊपर गुम्बद बनाए गए होंगे। इस कृति से यह प्रमाणित हो जाता है कि भारतीय कारीगर

महराब का भी मन्दिर में वैसा ही सुन्दर और सफल प्रयोग कर सकते थे जैसा उसका प्रयोग मस्जिद में किया जाता था।

मुग़लकाल में ही मध्यप्रदेश और राजपूताना के राजपूत राजाओं ने आवास के लिये बड़े-बड़े महल बनवाये। ओरछा का महल १६०० के आस-पास बना। वीरसिंह देव ने ही १६२० में दतिया का सतमंजिला विशाल महल बनवाया जो मिश्रित शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। अम्बर, जोधपुर, बीकानेर और जैसलमेर में भी बड़े-बड़े महल बनाए गये। उदयपुर में पिछौला झील की सुन्दर पृष्ठभूमि में महलों का निर्माण हुआ। इन सभी रचनाओं में खम्भे तोड़े और प्रसादिकाओं के साथ महराबदार तत्त्वों का प्रयोग हुआ। गुम्बददार छत्रियां बनाई गईं। अलंकरण की भी मिश्रित साज-सज्जा रही। १७वीं शताब्दी के अन्त तक वास्तु की दोनों पद्धतियां घुलमिल कर एक हो गईं जैसे गंगा जमुना का पानी हो। स्पष्ट ही गंगा ने जमुना को आत्मसात् कर लिया और अपने मार्ग पर चलती रही।

इस समन्वय से वास्तु की राजपूत शैली का प्रादुर्भाव हुआ जिसके अन्तर्गत १८वीं और १९वीं शताब्दी में बड़े-बड़े महल और छत्रियां बनवाई गईं। विशेष रूप से यह शैली छत्रियों के रचना-विन्यास में विकसित हुई। मुग़ल मक़बरे की तरह राजपूत छत्रियां भी हिन्दू राजाओं की स्मृति में समाधि के रूप में बनवाई गईं, विशाल इमारतें हैं। स्मरणीय है कि हमारे यहां ऐसा कोई विधान वास्तव में नहीं है। प्राचीनकाल में मृतक की अस्थियां जहां गाड़ी जाती थीं वहां मिट्टी का एक 'थूप' बना दिया जाता था। इसी से स्तूप का विकास हुआ। जैनों ने और उनके पश्चात् बुद्धों ने स्तूप-कला को बड़ा प्रोत्साहन दिया। किन्तु स्तूप भी मकबरा नहीं था। वास्तव में मूर्ति पूजा का प्रचलन होने से पहले स्तूप या उसकी अनुकृति की पूजा की जाती थी। अवश्य ही इसमें बुद्ध या किसी महान् व्यक्ति का कोई अवशेष रखा जाता था किन्तु इसका मूलरूप से धार्मिक महत्त्व ही था। शरीर नाशवान् है और मृत्यु के पश्चात् पंचभूत पंचभूतों में विलीन हो जाते हैं। इसलिए मकबरे बनाने का विचार हमारे यहां कभी नहीं पनपा। मध्यकाल के अन्तिम चरणों में मुग़लों के बड़े-बड़े मकबरों की पद्धति पर राजपूतों ने मकबरे बनाना आरम्भ किया और इनके इन मकबरों को ही छत्रियां कहते है। वैसे १७ वीं शताब्दी के मध्य से ही इन राजपूत छत्रियों का बनना प्रारम्भ हो गया था। आगरे में राजा जसवन्तसिंह ने अपने भाई अमरसिंह राठोर और उसके शव के साथ सती हुई हाड़ा रानी की स्मृति में यमुना के किनारे ही एक विशाल छत्री बनवाई जिसे भूल से आज राजा जसवन्तसिंह की छत्री कहा जाता है। राजा वीरसिंहदेव बुन्देला की कलात्मक छत्री ओरछा में बनी। धीरे-धीरे छत्री बनाना राजपूत राजाओं में मुग़लों में मकबरे बनवाने की तरह ही प्रचलित हो गया। उनकी देखा–देखी मराठों ने भी बड़ी-बड़ी छत्रियां बनवाईं। मथुरा के पास गोवर्धन, अलवर, जयपुर, उदयपुर, जोधपुर के पास माण्डौर, बीकानेर, कोटा, छतरपुर और ग्वालियर में अत्यन्त उत्कृष्ट छत्रियों का निर्माण हुआ। इनमें खम्भों के साथ मुड़े हुए नुकीले महराबों, छज्जों शीर्षों और छतों, और धारीदार गुम्वदों का प्रमुख रूप से प्रयोग हुआ। बागों और बहते हुए पानी की व्यवस्था का भी आयोजन हुआ। शिवपुरी में तो मुग़लों का सा संगमरमर में जड़ाऊ अलंकरण किया गया। मुग़ल वास्तु शैली ने राजपूतों की इस छत्री कला को विविध रूपों में प्रेरित किया। कुछ छत्रियां मुग़लों के मकबरों से भी अधिक भव्य और सुन्दर लगती हैं। खेद है राजपूत शैली में निर्मित इस छत्री वास्तुकला के विधिवत् अध्ययन का अब तक कोई प्रयत्न नहीं किया गया है। अंग्रेज़ों ने रियासतों में स्थित इन छत्रियों का अध्ययन नहीं किया इसके तो बहुत से कारण हो सकते हैं किन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात् हमने भी आंखें खोलकर इन अद्भुत कलाकृतियों की ओर नहीं देखा यह दुःख की बात नहीं तो और क्या है।

मध्यकाल में सांस्कृतिक संघर्ष की बात झूठ नहीं है। यह सही है कि सल्तनत की स्थापना से लेकर मराठों के अभ्युदय तक, अकबर और उसके कुछ वंशजों को छोड़कर, मुसलमान शासक इस्लाम के कट्टर दृष्टिकोण के अनुसार राज्य करता था।

हिन्दुओं पर जज़िया और तीर्थ कर जैसे अपमानजनक और अन्यायपूर्ण कर थोप दिए गए थे। उनके मन्दिर सैनिक अभियानों में तो बर्बरता का शिकार होते ही थे, विधिवत् रूप से भी ध्वस्त किए जाते थे। उन्हें धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी। राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से वे द्वितीय श्रेणी के नागरिक थे। उन्हें सरकारी सैनिक और असैनिक पदों पर नियुक्त नहीं किया जाता था। अकबर ने राज्य को धार्मिक प्रभाव से मुक्त कर दिया और अपनी उदार नीतियों से एक नए युग का सूत्रपात किया जिससे दोनों संस्कृतियों के समन्वय का मार्ग खुला। किन्तु मुस्लिम प्रतिक्रियावादियों ने उसकी मृत्यु के बाद उसके कार्यों पर पानी फेर दिया। जहांगीर के राज्यकाल में ही शेख अहमद सरहिन्दी ने राज्य के मामलों में धर्म के स्थान को पुर्नस्थापित करने का आन्दोलन खड़ा किया। १६५८ का उत्तराधिकार का युद्ध वास्तव में दो विचारधाराओं का संघर्ष था। औरंगजेब के नेतृत्व में कट्टरपंथी थे, दारा शुकोह के पीछे उदारवादी थे। औरंगजेब की विजय हुई और परिणामस्वरूप कट्टर दृष्टिकोण साम्राज्य पर छा गया। १८ वीं शताब्दी में शाह वली-उल्ला ने इस्लाम की पवित्रता बनाए रखने का आन्दोलन चलाया। १९ वीं शताब्दी में सैय्यद अहमद खां ने इसी आन्दोलन को एक दूसरे रूप में प्रारम्भ किया। ७०० वर्ष का यह संघर्ष पाकिस्तान बनने के बाद भी नहीं थमा, और बंगला देश बनने के बाद भी ज्यों का त्यों है। यह सही है कि धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में समन्वय सम्भव नहीं हुआ। बड़े-बड़े प्रयत्न हुए किन्तु वे लगभग असफल हो गए। खाई ज्यों की त्यों बनी रही। पास-पास रहकर भी पहले ने दूसरे को म्लेच्छ और दूसरे ने पहले को काफिर कहना नहीं छोड़ा।

किन्तु मध्यकालीन कलाओं-चित्र, संगीत और वास्तु-के विकास का अध्ययन करने पर एक आश्चर्य जनक बात सामने आती है। इस्लाम और हिन्दू धर्म का यह संघर्ष धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में कितना भी असाध्य क्यों न रहा हो, कला का क्षेत्र उसकी विभीषिकाओं से मुक्त है। भारतीय कलाओं ने मुसलमानों के साथ आने वाले तत्त्वों को मुक्तहस्त स्वीकार किया और उपयुक्त परिवर्तन करके उन्हें आत्मसात् कर लिया। मुसलमानों की कृतियों में भी, एक दो उदाहरणों को छोड़कर समन्वय की यह प्रवृत्ति निरन्तर देखने को मिलती है। ये एक दो इमारतें भी, जैसे फिरोज तुग़लक की कालान मस्जिद या महमूद गावां का बीदर का मदरसा वास्तु शैली के विकास पर कोई प्रभाव नहीं डालतीं। छुआछूत की सी वह भावना जो अन्य क्षेत्रों में व्याप्त है, कला के क्षेत्र में नहीं है। एक ओर कृष्ण के चित्रों में ईरानी विधान प्रयुक्त हुए दूसरी ओर मुसलमान शासकों के संरक्षण में भारतीय विषयों, यहां तक की भारतीय देवी-देवताओं तक का चित्रण हुआ। संगीत में मिली-जुली राग-रागनियां बनीं। समन्वय की इस भावना का सबसे अधिक व्यापक प्रभाव वास्तुकला पर पड़ा। खम्भोंदार महराब तो बने ही, उनमें तोड़ों पर आधारित उदम्बर लगाए गए। छज्जे का प्रयोग हुआ। गुम्बद पर हिन्दू शिखरों के पद्मकोश और कलश लगाए गए। मस्जिद् के गुम्बद में इनके प्रयोग के विरूद्ध न तो मुल्ला ने कुछ कहा न मन्दिर में गुम्बद बनाने से पण्डित ने ही इन्कार किया। छत्रियों का व्यापक प्रयोग हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों की इमारतों में हुआ। वास्तव में धीरे-धीरे एक मिश्रित शैली विकसित हुई जिसमें हिन्दू मुसलमान का भेद नहीं रहा। यह केवल दो संस्कृतियों का समन्वय ही नहीं था यह सही अर्थों में एक राष्ट्रीय शैली का विकास था जिसके लिए ये कलाएें मध्यकाल की ऋणी हैं। अगर भारत में मुसलमान नहीं आए होते तो शायद अपभ्रंश का चित्रकार मुग़ल चित्रकला की उत्कृष्टता तक नहीं पहुँच पाता। न ताजमहल बनता न मोती मस्जिद और न विशाल राजपूत छत्रियों के निर्माण की ही प्रेरणा मिलती। मध्यकाल को हमारी प्राचीन कला परम्पराओं को पुनर्जीवित और पुनर्गठित करने का श्रेय प्राप्त है। हमें नवीन प्रेरणा, नवीन क्षमता और नवीन दृष्टिकोण मध्यकाल ने दिया और किसी भी तरह उसके इस योगदान से इन्कार नहीं किया जा सकता।

पारिभाषिक शब्दावली

(GLOSSARY)

Aisles (प्रदक्षिणापथ, स्कन्ध)–मस्जिद के मुख्य कक्ष के पार्श्व; मुख्य कक्ष के दोनों ओर के खम्भों या महराबदार भाग।

Alcove (आलय)–दीवार में बने महराबदार आलय, अर्द्ध गोलाकार छतदार त्रिज्याकार आलय।

Amalaka (आमलक)–नागर मन्दिर के शिखर का भूषण, चूड़ीदार गोलाकार पत्थर, कलश का धारीदार आधार।

Animation (जीवधारियों की अनुकृति)–मनुष्यों या पशु-पक्षियों की अनुकृतियाँ बनाना।

Arabesque (अरबीसम)–वृत्ताकार घुमावदार रेखाओं का अरबी कलाकारों का विशिष्ट अलंकरण।

Arcade:– महरावों की शृंखला, क्रमबद्ध महराबों की पंक्ति।
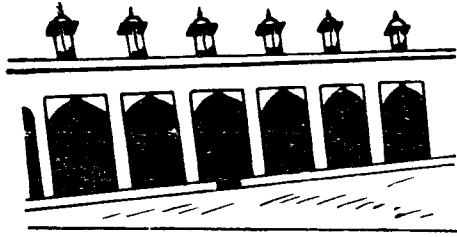
ARCADE

Arch (महराब)–रचना की वह विधि जिसमें डाट के द्वारा ईंटों या पत्थरों से बोझ को लम्बवत् संभाला जाता है ; विशिष्ट मुस्लिम-पद्धति।

Architect (स्थपति)–वास्तु का आचार्य।

Architecture (वास्तु)–भवन निर्माण शास्त्र ; वास्तु की तीन मूल आवश्यकताएें होती हैं (क) किसी ध्येय को दृष्टि में रखकर निर्माण हो (ख) यह दृढ़ और टिकाऊ हो, और (ग) यह सुन्दर हो।

Arcuate (चापवक्र, महराबदार)–महराब की पद्धति पर निर्मित ; त्रिज्याकार।

Ast-Sutrakam (अष्ट सूत्रकम्)–भारतीय कारीगर के परम्परागत आठ उपकरण जैसे–सूत्र, लवा, त्रिकोण, कन्नी आदि।

Azan (आज़ान)–नमाज़ पढ़ने के समय की घोषणा।

Balcony (गौख प्रालिन्द, प्रसादिका)–इमारत के बाहर निकला हुआ तोड़ों पर आधारित छज्जा जिस पर वेदिका और अधिकांशत: छत होती है।

Baoli (बावड़ी)–सीढ़ियोंदार बड़ा कुआं जिसके नीचे तक जाया जा सकता है; इसमें कक्षों और आलिन्दों का भी विधान होता है।

Barrel-Vaulted (ढोलाकार)–ढोल या हाथी की पीठ की आकृति की महराबदार छत।

Basement (आलम्बन)–इमारत का निम्न भाग, जमीन के अन्दर का भाग।

Bas-Relief (उत्कीर्ण-शिलापट्ट)–

Batter (ढ़ाल)–इमारत की बाहरी दीवारों में नियमित रूप से दिया हुआ ढ़ाल।

BATTER
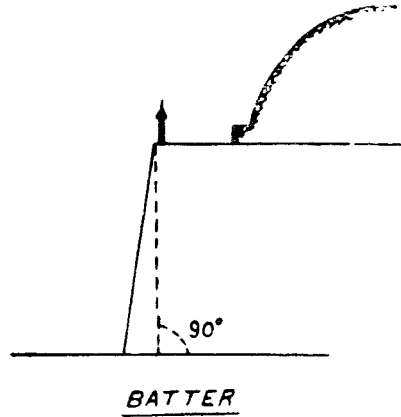
Bays (उपभाग)–आराधना भवन या दालानों के उपभाग जो अधिकांशत: चार खम्भों पर बनते हैं और जिनकी अपनी छत होती है।

Beam (शलाका)–क्षैतिज या समतल रखी हुई लकड़ी या पत्थर की शिला जो बोझ संभालती है।

Bracket (तोड़े)–क्षैतिज रचना में छज्जे या उदम्बर को संभालने के लिए प्रयुक्त त्रिकोणात्मक तत्त्व।
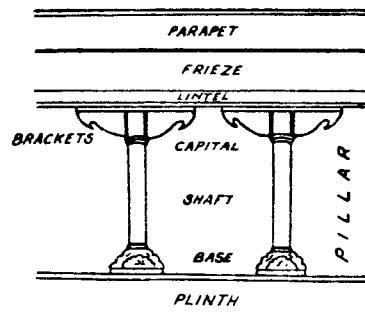
Bulbous (बल्बाकार)–गुम्बद की वह आकृति जो बिजली के बल्ब के समान हो ; ऊँची ग्रीवा (आधार) पर उठा हुआ गुम्बद।

Buttress (वद्र)–महराब के धक्के को रोकने के लिए या दीवार को अतिरिक्त सहारा देने के लिए उसके सामने बनाया जाने वाला त्रिकोणात्मक तत्त्व ; रोक।

Calligraphy (सुलेख)-अरबी और फ़ारसी का कलात्मक लेखन जो पाण्डुलिपियों और इमारतों के अलंकरण में काम आता था।

Capital (स्तम्भ-शिरस)–खम्भे का ऊपरी भाग जिस पर उदम्बर रखा जाता है। तोड़े इसके साथ ही लगाए जाते हैं।

Carving (कटाई)–पत्थर चूने या लकड़ी में कलात्मक कटाई का काम।

Cause-Ways (बीथिकाएँ)–चार-बाग पद्धति में मुख्य इमारत को द्वारों से जोड़ने के लिए बनाई गयी पत्थर की उठी हुई बीथिकाएँ।

Ceiling (छत)–यह समतल गोल या ढोलाकार होती है।

Centeying (ढूला)–महराब और गुम्बद बनाने के लिए बाँस बल्ली और मिट्टी की अस्थायी डाट।

Chamfer (कोने काटना, सिल्ली देना)–किसी वर्गाकार इमारत के कोने काटना जिससे वह अठपहलू प्रतीत हो।
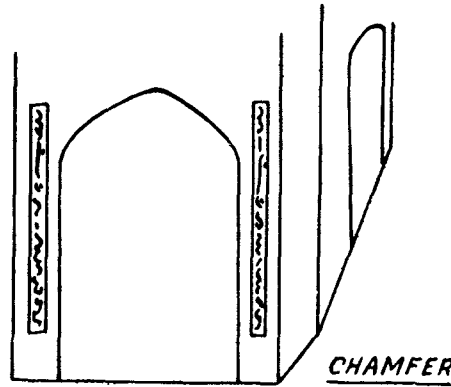
Char Bagh (चार-बाग)–बाग की वह ईरानी पद्धति जिसके अन्तर्गत उसे चार समान भागों में बाँट दिया जाता है, मुख्य इमारत को इसके ठीक बीचों-बीच में बनाया जाता है और पत्थर की बीथिकाओं और नहरों द्वारा द्वारों से जोड़ा जाता है।

Chevron (सिंघाड़ा)–सीधी रेखाओं का कोणदार क्षैतिज अलंकरण।

Chhajja (छज्जा)–समतल द्वारों या महराबों के ऊपर धूप और वर्षा से रक्षा करने के लिए इमारत का आगे निकला हुआ भाग ; इसे तोड़ों पर आधारित किया जाता है।

Chhatri (छत्री)–वर्गाकार षट्पहलू, अठपहलू या गोल, चार छः या आठ खम्भों का गुम्बददार मण्डप ; मुग़ल वास्तुकला में इमारत के ऊपर ऊर्ध्वरेखा पर इनका व्यापक प्रयोग हुआ है।
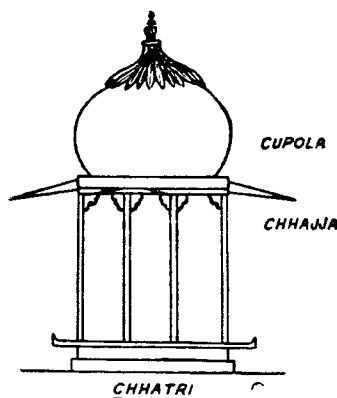
Cloisters (दालान)–खम्भोंदार कम से कम एक तरफ खुले लम्बे आलिन्द या बरामदे।

Column (खम्भा)–इसका मध्य भाग अधिकांश : गोल होता है।

Coping (उष्णीश)–दीवार के ऊपर ईंट और पत्थर का शिरस ; यह कुछ आगे निकला होता है जिससे पानी दीवार पर न बहे।

Corbelling (कडलिका करण)- छत पाटने की वह विधि जिसमें पत्थर की शिलाएँ एक से ऊपर एक कुछ आगे बढ़ाकर रखी जाती हैं और इस प्रकार खुलाब कम होता जाता है और अन्त में एक शिला द्वारा बन्द कर दिया जाता है।

Corrider (आलिन्द)–इमारत के अन्दर एक चौड़ा पथ या बीथिका जो दो कमरों को जोड़ता हो।

Cupola (लघु गुम्बद)-गोलाकार गुम्बद जो किसी गौण रचना में प्रयुक्त किया गया हो।

Curved Roof (मुड़ी हुई छत)–बीच में मुड़ी हुई नुकीली किनारेदार छत जैसे बाँस की झोंपड़ी में होती है।

Cusped (दांतेदार)–

Dado (शिलापट्ट)–दीवार का नीचे का भाग ; फर्श से ३,४ फीट ऊँचाई तक के दीवार के उपभाग जो अलंकरण के काम आते हैं।

Dome (गुम्बद) नीचे के हाल की त्रिज्याकार विधि द्वारा निर्मित गोलाकार छत; इमारत के ऊपर का गोल तत्त्व ; मुग़ल वास्तुकला में इसके ऊपर पद्मकोश और कलश होते हैं।

Door Jamb (द्वार शाखा)–

Double Dome (दुहेरा गुम्बद)–जिसकी निचली सतह कमरे की छत हो और बाहरी सतह स्वयं उसे आवरण देती हो ; अन्दर से खोखला गुम्बद ।

Drum (गुम्बद का आधार, ग्रीवा)–
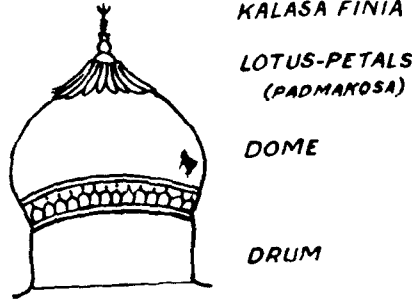
Elevation (उठान)–इमारत की समन्वित ऊँचाई ।

Enclosing wall (प्राकार)–बाग दुर्ग या किसी खुले स्थान के चारों ओर बनी रक्षात्मक दीवार ।

Engraving (कलात्मक खुदाई)–

Engrailed Arch (दांतेदार महराब)–

ENGRAILED - ARCH
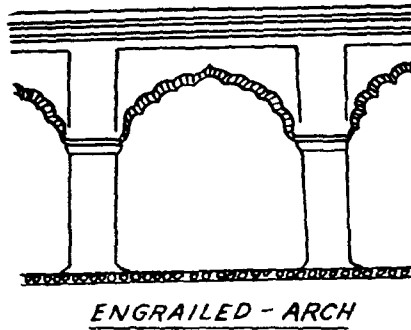
Facade (मुखपट)–इमारत का सामने का इकाई भाग ।

Finial (स्तूपी, शिरस, कलश)–शिखर और गुम्बद के ऊपर प्रयुक्त प्रतीकात्मक अलंकरण; निर्यूह का ऊपरी भाग ।

Floral (फ़ूल-पत्तीदार)–

Floor (तल, फर्श)–

Fluting धारीदार खम्भे या और किसी तत्त्व में गहराईदार क्रमबद्ध धारियां ।

Fresco (लेप चित्र)–दीवार पर प्रयुक्त वह चित्रकारी जो ताजी पृष्ठभूमि पर की जाती है ।

Frieze (चित्रावल्लरी)–महराबों या द्वारों के ऊपर का क्षैतिज भाग जो अलंकरण के काम आता है ।

Fringe (माला)-

Geometrical (रेखाकृत) रेखागणित के सिद्धान्तों के अनुसार त्रिकोणों, आयतों, वर्गों और अन्य रूपकों से मिलकर बना हुआ डिजाइन, इसमें सरल और वृत्ताकार दोनों प्रकार की रेखाऐं प्रयुक्त होती हैं।

Gilding (सुनहरी प्रभामय अलंकरण)-

Glass-Mosaic चूने में शीशे का जड़ाऊ काम।

Glazed Tiles भट्टी में पकी चमकदार रंगीन टाइलें।

Hammam (हम्माम)—मुग़लों के ग्रीष्म-महल जिसमें बहते हुए पानी की व्यवस्था होती थी।

Hashiyah (हाशिया)—लघुचित्र या शिला-पट्ट के चारों ओर के अलंकृत किनारे।

Incised (उत्कर्तित)—पत्थर चूने या किसी अन्य रंगीन विधि में महीन खुदाई का काम।

Inlay (जड़ाऊ काम)—पत्थर में रंगीन पत्थर के टुकड़े भरकर डिजाइन बनाने की पद्धति।

Intonaco (पृष्ठभूमि)—चित्रकारी के लिये चूने की पृष्ठभूमि।

Iwan (ईवान)—मुखपट के मध्य में दिया हुआ विशाल महराब जिसमें प्रवेश द्वार होता है।

Kalasa (कलश)—कुम्भ या घट जो गुम्बद के ऊपर पद्मकोश के साथ अलंकरण के काम आता है।

Kiosk (छत्री)—

Lintel (उदम्बर, उत्तरंग)—दो खम्भों या भित्तियों पर आधारित समतल शिला जो ऊपर का बोझ संभालती है। यह भारतीय क्षैतिज पद्धति का प्रमुख अंग है।

Lotus Petals (पद्मकोश)—गुम्बद के शीर्ष पर चारों ओर कमल की पंखुड़ियों का आवरण।

Mausoleum (मकबरा)—स्मृति स्वरूप निर्मित भव्य इमारत जिसमें उस व्यक्ति की कब्र होती है। इसमें उसकी एक या दो कृत्रिम कब्रें और भी हो सकती हैं।

Medallion (परिचक्र)—महराब या चित्रवल्लरी के ऊपर आलंकारिक कमल या चक्र।

Mihrab (महराब)—मसजिद में मक्का की दिशा सूचित करने के लिये केन्द्र में बनाया गया महराब; किबला।
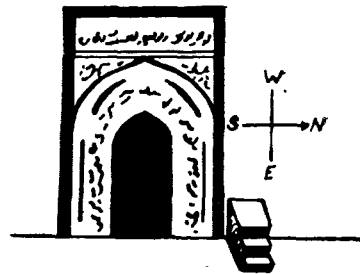
MIHRAB AND MINBER

Minbar (मिम्बर)—महराब के पास बनाई गई सीढ़ियाँ जिन पर खड़ा होकर मुअज्ज़िन नमाज़ पढ़ाता है।

Minaret (मीनार)—स्वतन्त्र रूप से खड़ी कई मंजिल की अट्टालिका जो मुग़ल वास्तुकला में शोभा के लिये प्रयुक्त हुई है। इसमें सबसे ऊपर छत्री बनाई जाती है।

MINARET
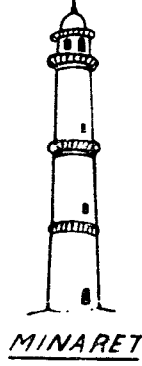
Monument (स्मारक)—ऐतिहासिक इमारत जो स्मारक स्वरूप हो।

Mosaic (जड़ाऊ कला)—विभिन्न रंग के पत्थरों के प्रयोग से डिजाइन बनाने की विधि।

Motif (रूपक)—डिजाइन का रूप या तत्त्व।

Mural (कुड्य)—दीवार पर किया गया अलंकरण या दीवार से सम्बन्धित और कोई तत्त्व।

Nave (मुख्य कक्ष)—मसजिद का मध्यभाग या मुख्य कक्ष जिसमें महराब और मिम्बर होते हैं।

Niche (आलय)—दीवार में बने महराबदार आलय।

Nook shaft (कोण स्तम्भ)—इमारत के कोनों पर बने सम्बद्ध कोण-स्तम्भ/स्मतम।

Octagonal (अठपहलू)—आठ भुजाओं का।

O-gee कीर्ति मुख जैसा नोंकदार महराब।

Oriel Window (प्रसादिका)—दीवार में बाहर निकली हुई तोड़ों पर आधारित खिड़की; दो खम्भों और दीवार पर आधारित इसमें छत भी होती है।

Painting (चित्रकला या चित्रकारी)—

Parapet (शीर्ष)—छत के ऊपर का भाग या रोक।

Pavement (फर्श)—

Pavilion (मण्डप)—इमारत के ऊपर या सामने खुला हुआ, बहुधा खम्भोंदार, मण्डप।

Pedestal (आधार या चौकी)—

Pendentive समतल शिला जो कडलिकाकरण में काम आती है; कोनों पर प्रयुक्त आगे निकली हुई समतल शिला।

Pier खम्मे के स्थान पर बोझ संभालने के लिये प्रयुक्त वर्गाकार भित्ति।

Pigments (रंग-सामग्री)—

Pilaster (अर्ध-स्तम्भ)—दीवार से सम्बद्ध खम्भा।

Pillar (खम्भा) – जो समतल रचना में काम आता है, यह वर्गाकार षट्पहलू, अठपहलू या गोल हो सकता है।

Pinnacle (निर्यूह)—लघु मीनार का ऊपरी भाग जो खुले हुए फूल की तरह बनाया जाता था; निर्यूहों का प्रयोग अलंकरण के लिये होता था।

Plan (योजना)—रचना विन्यास।

Plinth (चौकी)—चबूतरा जिस पर इमारत बनाई जाती है।

Porch (मुख मण्डप)—इमारत के प्रवेश द्वार से सम्बद्ध मण्डप।

Portal (मुख्य महराब)—इमारत के मध्य में मुख्य महराब जिसमें प्रवेशद्वार होता है; ईवान।

Radiating Arch (त्रिज्याकार महराब)—

Railing Pillar (वेदिका स्तम्भ)—

Rampart दुर्ग की रक्षात्मक चहारदीवारी जिस पर आने-जाने के लिये चौड़ा रास्ता हो।

Relief (मुक्तक)—खाली सतह के एकाकीपन को दूर करने के लिये किया गया कोई भी अलंकरण।

Rhythm (छन्द्स)—रचना के विभिन्न अंगों का तालमेल।

Sanctuary (आराधना भवन)—

Scroll (पत्रलता)—

Sculptur (शिल्प)—

Seraglio (रनिवास, अन्तःपुर)—

Side (पार्श्व)—उपभाग।

Sides (शाखाएँ)—उपभाग।

Soffit (त्रिज्याकार छत)—अर्ध गोलाकार या गोलाकार महराबदार छत।

Spandrel — महराब के ऊपर दोनों कोनों पर त्रिकोणात्मक स्थान।
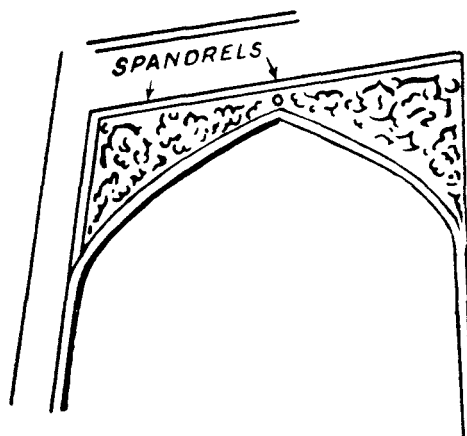
Squinch (कोण महराब)—कक्ष के कोनों के ऊपरी भाग में प्रयुक्त महराब जिससे वर्गाकार कक्ष को अठपहलू योजना में परिवर्तित किया जाता है।

SQUINCH - ARCH

Stairs (सोपान)—सीढ़ियां।

Stalactite (निच्यावाश्म)—लघु महरावों की शृंखला जिसके द्वारा गुम्बद या अन्य किसी भाग का बोझ संभाला जाता है; विशुद्ध मुस्लिम अलंकरण।

Strut (सर्पाकार तोड़े)—

Stucco (चूने का अलंकरण)—

Stylized (शैली करित)—निरन्तर प्रयोग से किसी रूपक या डिजाइन का प्रचलित स्वरूप।

Superstructure (ऊर्ध्व रचना)—इमारत के ऊपरी भाग में गुम्बद, छत्रियां, निर्यूहों आदि का संयोजन: नभरेखा का सुन्दर विन्यास।

Symbol (लक्षण, रूप, प्रतीक)—

Tapering (गर्जराकार)—मीनार या अट्टालिका जो ऊँचाई के साथ-साथ छोटी होती जाती है, जैसे-कुतुबमीनार।

Temple (प्रासाद)—

Terrace (छत)—किसी भी मंजिल पर खुला हुआ भाग।

Terra cotta (मृण्मय)—

Thatch (छाद्य)—बाँस और फूंस की छाजन।

Tomb (मकबरा)—

Tower (अट्टालिका)—कई मंजिल की इमारत से सम्बद्ध मीनार।

Trabeate (क्षैतिज, समतल) – रचना की वह पद्धति जिसमें खम्भों, तोड़ों और उदम्बर द्वारा छतें बनाई जाती हैं।

Turrets (लघु मीनारें)—अलंकरण के लिये प्रयुक्त पतली-पतली कमनीय मीनारें जो इमारत से सम्बद्ध बनाई जाती हैं और ऊर्ध्वरचना में जिनके ऊपर निर्यूह होते हैं।

Vase-and-Foliage (घट पल्लव)—

Verandah (आलिन्द) - कक्ष के बाहर या सामने बना लम्बा बरामदा जो कम से कम एक तरफ से खुला हो।

Vestibule (अन्तराल मण्डप) —मुख्य हाल से पहले का कक्ष।

Window (वातायन)—खिड़की।

Wing (स्कन्ध)—किसी इमारत के मुख्य भाग के दोनों ओर के भाग।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची
(BIBLIOGRAPHY)

1. *Abul Fazl—* 'Ain-i-Akbari' Vol. I (Tr. H. Blochmann) (Calcutta, 1874).
2. *Agarwal, V. S.—* 'Indian Art' (Varanasi, 1965).
3. *Archer, W. G.—* 'Indian Painting' (London, 1956).
4. *Bandhopadhyaya, Shripada—* 'The Origin of Raga' (Delhi, 1946).
5. *Brown, Percy—* 'Indian Architecture' (Buddhist and Hindu Period).
6. *Brown, Percy—* 'Ind.an Architecture' (Islamic Period).
7. *Brown, Percy—* 'Indian Painting' (Bombay, 1927).
8. *Brown, Percy—* 'Indian Painting Under the Mughals' (Oxford, 1924).
9. *Burgess, Jcmes—* 'Muhemmedan Architecture of Gujarat' A.S.I. New Imperial Series, Vol. XXIII.
10. *Burgess, James—* 'Muhammedan Architecture of Ahmedabad' Parts I-II, A.S.I. New Imperial Series Vols. XXIV, XXXIII.
11. *Coomaraswamy, A. K.—* 'History of Indian and Indonesian Art' (Dover ed. 1965).
12. *Coomaraswamy, A. K.—* 'Rajput Painting' (London, 1916).
13. *Cousens H.—* 'Bijapur and its Architectural Remains' (Bombay, 1916).
14. *Crump, L. M.—* 'The Lady of the Lotus' (Oxford, 1926).
15. *Dey, C. R.—* South Indian Music'.
16. *Ettinghausen. R.—* 'Paintings of the Sultans and Emperors of India' (Lalit Kala Academy).
17. *Fergusson, Iames—* 'History of Indian and Eastern Architecture (London, 1876).
18. *Fuhrer and Smith, E.—* 'Sharqi Architecture of Jaunpur' A.S.I. (1889).
19. *Gray, Basil—* 'Rajput Painting' (London, 1988).
20. *Gray, Basil—* 'Persian Painting' (London, 1961).
21. *Gray, Basil and Godard, Andre—* 'Iran' (Unesco World Art Series).
22. *Havell, E. B.—* 'Indian Sculpture and Painting' (London, 1908).
23. *Havell, E. B.—* 'The Ancient and Medieval Architecture of India' (London, 1915).
24. *Havell, E. B.—* 'The Idials of Indian Art' (London, 1911).
25. *Havell, E. B.—* 'Indian Architecture; Its Psychology Structure and History' (London, 1913).

26. *Kuhnel, E. and. Goetz, H.*— 'Indian Book Painting' (London, 1926).

27. *Khan, A. A. and Stapleton, H. E.*— 'Memoirs of Gaur and Pandua' (Calcutta).

28. *Kramrisch, Stella*— 'The Art of India Through the Ages' (London, 1954).

29. *Mehta, N. C.*— 'Studies in Indian Painting' (Bombay, 1926).

30. *Mirza, M. W.*— 'The life and Works of Amir Khusrau' (Calcutta, 1935).

31. *Motichandra*— 'Mughal Painting' (London, 1948).

32. *Nath, R.*— 'Colour Decoration in Mughal Architecture' (Bombay, 1970).

33. *Nur Bakhsh*— 'The Agra Fort and its Buildings' A.S.I. Annual Report 1903-4

34. **गौरीशंकर हीराचन्द ओझा**— 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' (इलाहाबाद, १९५१)।

35. *Page, J. A.*— 'A Historical Memoir on the Qutub Delhi' A. S. I. Memoir No. 22.

36. *Pope, A. U.*— 'An Introduction to Persian Art' (London, 1930).

37. *Popley, H. A.*— 'The Music of India' (1950).

38. *Pramod Chandra*— 'Notes on Mandu Kalpasutra' (Marg, Vol. XII No. 3 (June, 1959).

39. **रायकृष्णदास**— 'भारत की चित्रकला'।

40. *Ray Krishnadasa*— 'Mughal Miniatures' (Lalit Kala Academy).

41. *Ray Krishnadasa*— 'An Illustrated Avadhi Ms. of Laur-Chanda in the Bharat Kala Bhawan Banaras' (Lalit Kala Nos. 1-2 April 1955-March, 1956).

42. *Ravenshaw, J. H.*— 'Gaur : Its Ruins and Inscriptions' (London, 1878).

43. *Rice-D. T.*— 'Islamic Art' (London, 1965).

44. *Rowland, Benjamin*— 'The Art and Architecture of India' (London, 1953).

45. *Sanderson, G.*— 'Shahjahan's Fort Delhi' A. S. I. Annual Report 1911-12.

46. **के० वासुदेव शास्त्री**— 'संगीत शास्त्र' (१९५८).

47. *Shah, U.P.*— 'Studies in Jaina Art' (Banaras, 1955).

48. *Shukla, D. N.*— 'Vastu Sastra' Vol. I (Lucknow, 1960).

49. *Shukla, D. N.*— 'Vastu Sastra' Vol. II (Iconography and Painting) (Lucknow 1958).

50. *Smith, E. W.*— 'Akbar's Tomb at Sikandarah' A. S. I. New Imperial Series Vol XXXV.

51. *Smith, E. W.*— 'The Moghul Architecture of Fathpur Sikri' Parts I-IV. A. S. I. New Imperial Series Vol. XVIII.

52. *Stuart, C. M. Villiers*— 'Gardens of the Great Mughals' (London, 1913).

53. *Tagore, S. M.*— 'The Seven Principal Musical Notes of the Hindus'

54. *Werner, A.*— 'Indian Miniatures' (New York, 1950).

55. *Wilkinson, J. V. S.*— 'Mughal Painting' (London, 1948).

56. *Wilber, D. N.*— 'Persian Gardens and Garden Pabilions' (Tokyo, 1962).

57. *Yazdani, G.*— 'Mandu' The City of Joy (Oxford, 1929).

58. *Zimmer, Heinrich*— 'The Art of Indian Asia' (New York, 1955).

चित्र-सूची (List of Illustrations)

३१. ग्यासुद्दीन तुगलक का मकबरा, दिल्ली (१३२५)।
३२. एक वर्गाकार मकबरा, दिल्ली (१५वीं शताब्दी)।
३३. हसन खां सूर का मकबरा सासाराम (१५४०-४५)।
३४. बेगमपुरी मसजिद दिल्ली (१३८७)।
३५. कालान मसजिद दिल्ली (१३७०)।
३६. खिड़की मसजिद दिल्ली (१३७५)।
३७ किला-ए-कुहना मसजिद दिल्ली (१५४२)।
३८. शेरशाह सूर का मकबरा सासाराम (१५४५)।
३९. जामी मसजिद अहमदाबाद (१४२३)।
४०. जामी मसजिद अहमदाबाद का आन्तरिक भाग (१४२३)।
४१. जामी मसजिद चम्पानेर (१५००)।
४२. जामी मसजिद चम्पानेर का आन्तरिक भाग (१५००)।
४३. अहमदाबाद की सिड़ी सैय्यद की मसजिद की जाली (१५१५)।
४४. अहमदाबाद की सारंगपुर मसजिद के उत्कीर्ण फलक (१५३०)।
४५. हिण्डोला महल माण्डू (१४२५)।
४६. होशंग शाह का मकबरा माण्डू (१४४०)।
४७. जामी मसजिद माण्डू (१४४०)।
४८. माण्डू की जामी मसजिद का भीतरी भाग (१४४०)।
४९. अशर्फी महल माण्डू (१४३६-६९)।
५०. जहाज महल माण्डू (१४६९-१५००)।
५१. जामी मसजिद गुलबर्गा (१३६७)।
५२. चार मीनार हैदराबाद (१५९१)।
५३. इब्राहीम रौजा बीजापुर (१६१५)।
५४. गोल गुम्बज बीजापुर (१६५०)।
५५. गोल गुम्बज बीजापुर का आन्तरिक भाग (१६५०)।
५६. हूमायूँ का मकबरा दिल्ली (१५६४-७०)।
५७. मुहम्मद गौस का मकबरा ग्वालियर (लगभग १५६४)।
५८. आगरे का किला (१५६५-७२)।
५९. आगरे के किले का दिल्ली द्वार (१५६८-८९)।
६०. जहाँगीरी महल का पश्चिमी मुख (१५६५-७२)।
६१. जहाँगीरी महल का भीतरी आँगन।
६२. उत्तरी हाल के सर्पाकार तोड़े।
६३. मयूर मण्डप के मयूराकृति के तोड़े।
६४. फतेहपुर सीकरी का बुलन्द दरवाजा (१६०१)।
६५. फतेहपुर सीकरी की जामी मसजिद का आराधना भवन (१५७१)।
६६. सलीम चिश्ती का मकबरा, फतेहपुर सीकरी (१५८१)।
६७. सलीम चिश्ती के मकबरे का जालीदार बरामदा।
६८. तथाकथित जोधबाई का महल, फतेहपुर सीकरी (१५७१-८४)।
६९. बीरबल का महल फतेहपुर सीकरी (१५७१-८४)।

चित्रांकन (Drawings)

---

१. खम्भात के कल्पसूत्र का एक चित्र (अपभ्रंश, १४८१ ई०)

२. गुजरात के सरस्वती पट एक चित्र (अपभ्रंश, १५वीं शताब्दी)

३अ. लौर चन्दा के चित्र (अपभ्रंश, १५४०)

३ब. लौर चन्दा के चित्र (अपभ्रंश, १५४०)

४. लौर चन्दा का त्रित्र (अपभ्रंश, १५४०)

५. माण्डू के कल्पसूत्र का एक चित्र (अपभ्रंश, १४३९)
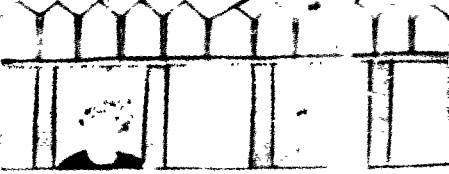
६. माण्डू के न्यामतनामा का चित्र (ईरानी प्रभाव के साथ अपभ्रंश, १४६६–१५०१)

७. माण्डू के न्यामतनामा का चित्र (ईरानी प्रभाव के साथ अपभ्रंश १४६६ १५०१)
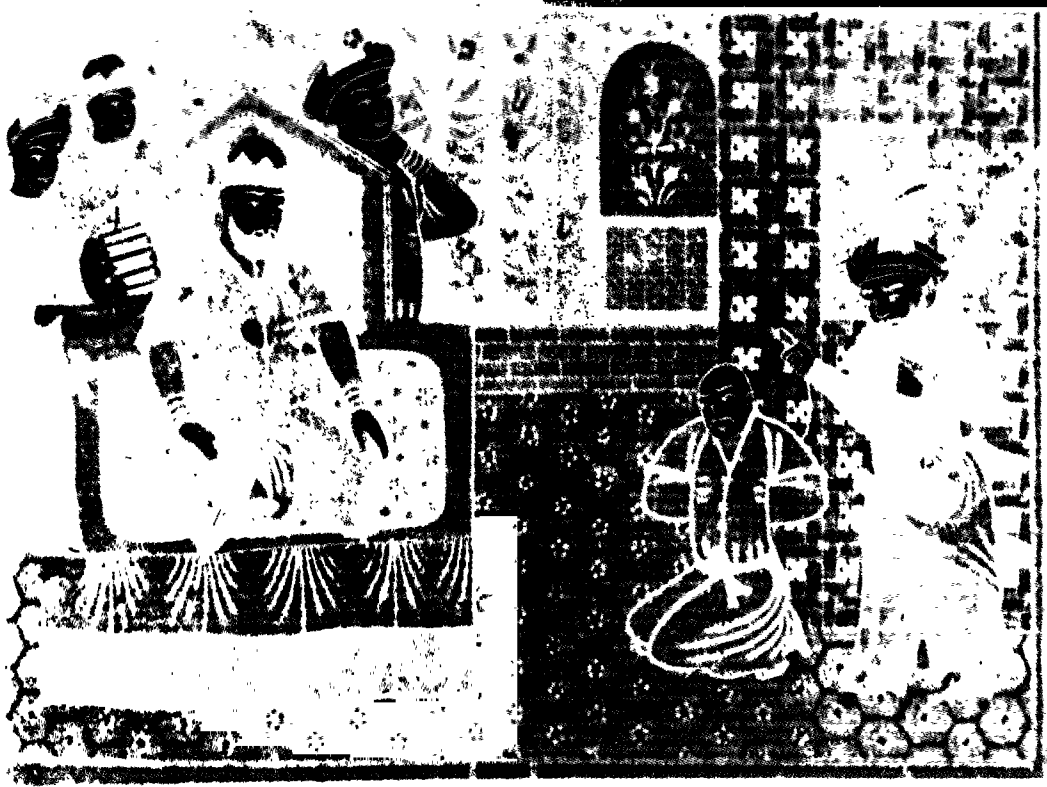
८. अ.ब. माण्डू के बोस्तां के चित्र (ईरानी प्रभाव के साथ अपभ्रंश, १५०१-१२)

९. केशव की रसिक प्रिया की एक चित्रित प्रति के चित्र (राजस्थानी, मेवाड़ शैली १६५०)

१०. केशव की रसिक प्रिया की एक चित्रित प्रति के चित्र (राजस्थानी बूँदी शैली १७वीं सदी)

११. बालगोपाल स्तुति (अपभ्रंश, मध्य १५वीं शताब्दी)
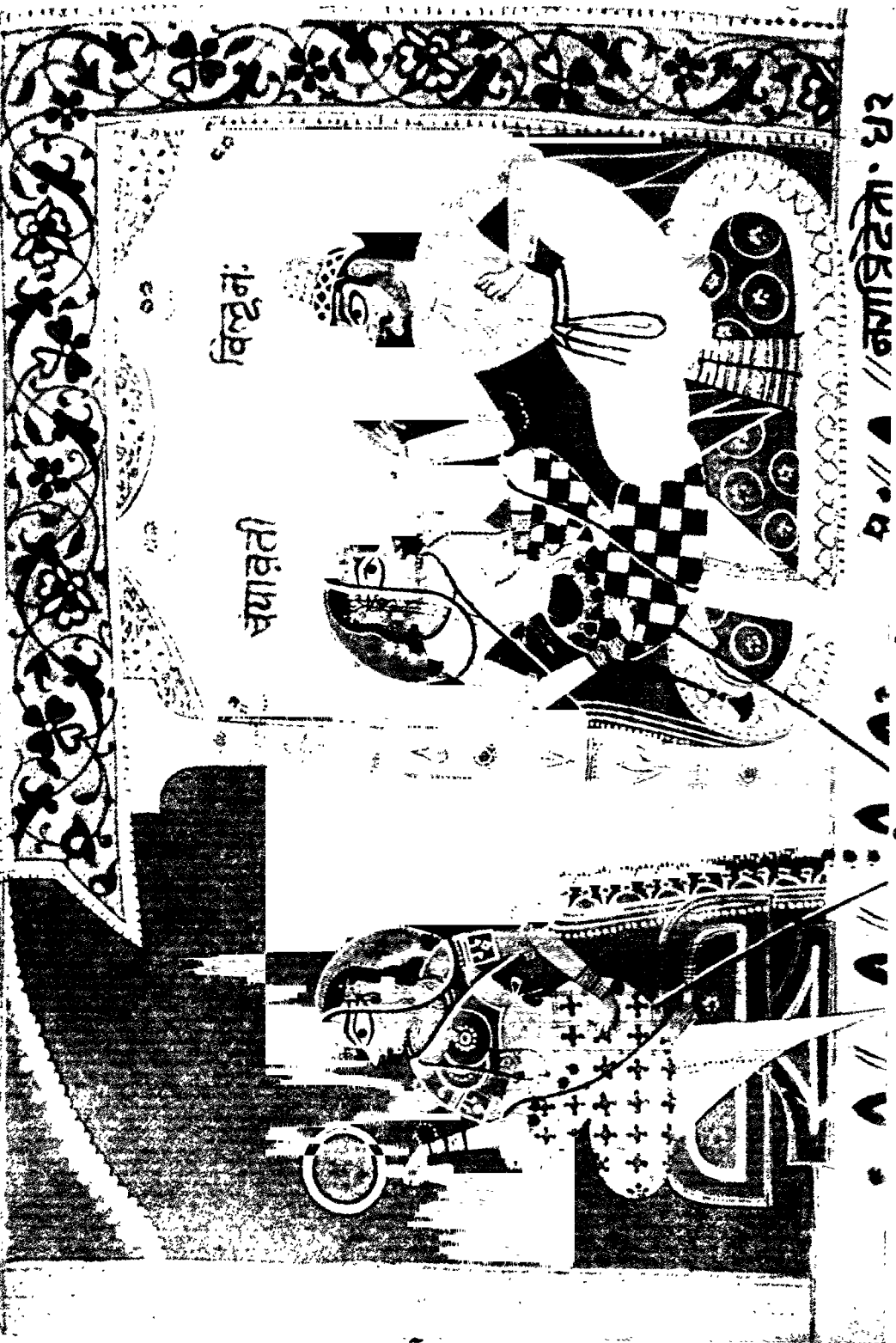
१२. चोर पंचाशिका (राजस्थानी, १५७०-८०)

१३. गीत गोविन्द (राजस्थानी, १५६०–१६००)

१४. हमज़ानामा का चित्र (मुग़ल, १५६७–८२)

१५. रज़्मनामा (मुग़ल, १६वीं शताब्दी का अन्त)

१६. बाबरनामा (मुग़ल, १५९८)

१७. अबुलहसन द्वारा चित्रित 'जहांगीर का दरबार' (मुगल, १६१५-१६)

१८. अबुलहसन द्वारा चित्रित 'चिनार का पेड़' (मुग़ल, १६१२–२७)

१९. उस्ताद मन्सूर द्वारा चित्रित 'बाज' (मुग़ल, १६१०-२०)

२०. बिचित्तर द्वारा चित्रित 'शाह दौलत' (मुग़ल, १६१०–२७)

२१. बिचित्तर द्वारा चित्रित 'जहांगीर के व्यक्ति चित्र की अनुकृति' (मुग़ल)

२२. जहांगीर के मुरक्का-गुलशन के एक चित्र का हाशिया
(मुग़ल, १६१५–२७)

२३. 'शाहजहां का दरबार' (मुग़ल, १६४५)

२४. रागिनी मेघ मलार (राजस्थानी, मेवाड़ शैली, १६२८)

२५. 'पढ़ता हुआ युवक' (दक्षिणी बीजापुर शैली, १६१०)

२६. 'रागिनी मधु माधवी' (दक्षिणी गोल कुण्डा शैली, १७वीं शताब्दी का अंत)
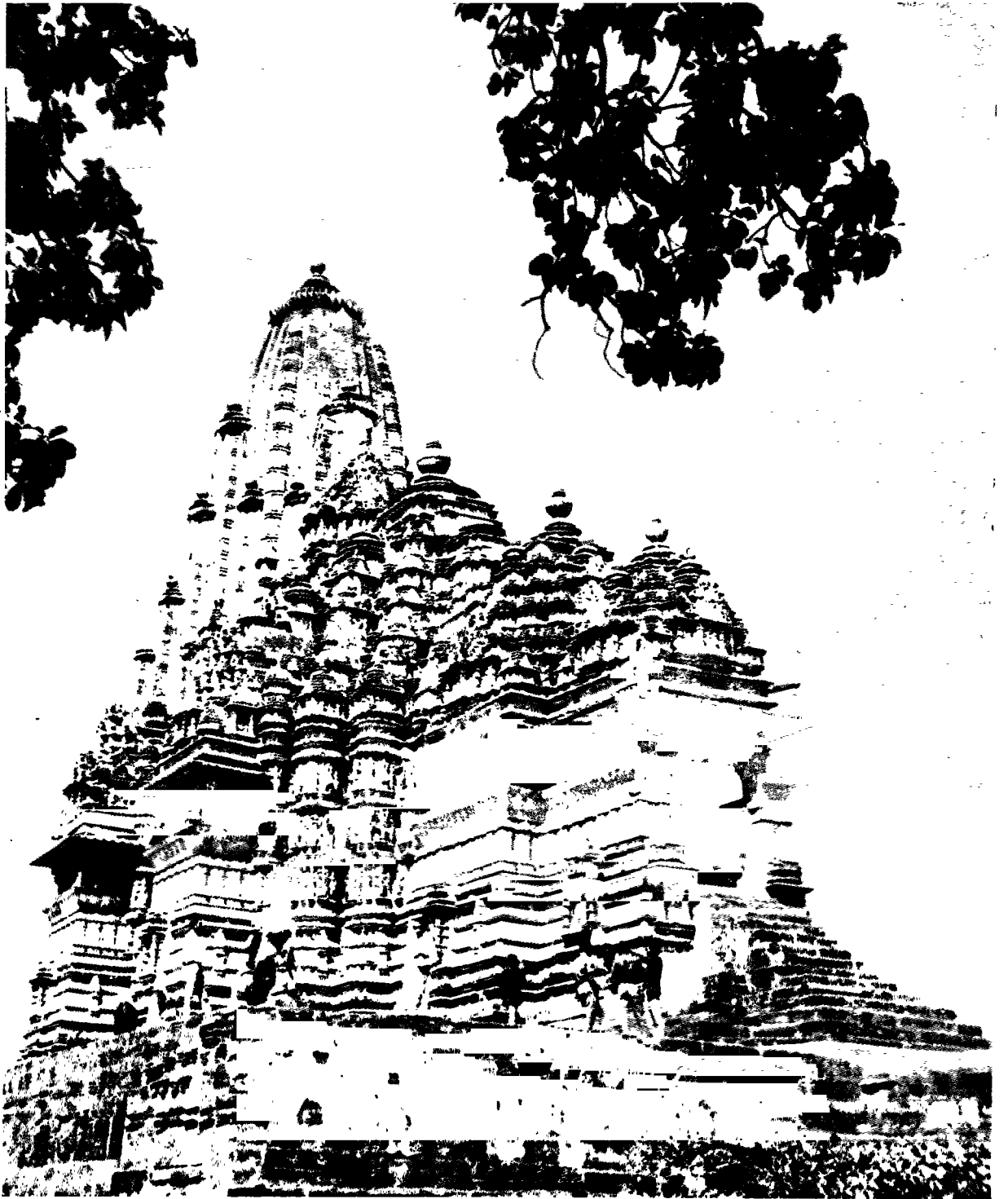
२७. कन्दरीय महादेव का मन्दिर खजुराहो (१०वीं शताब्दी)
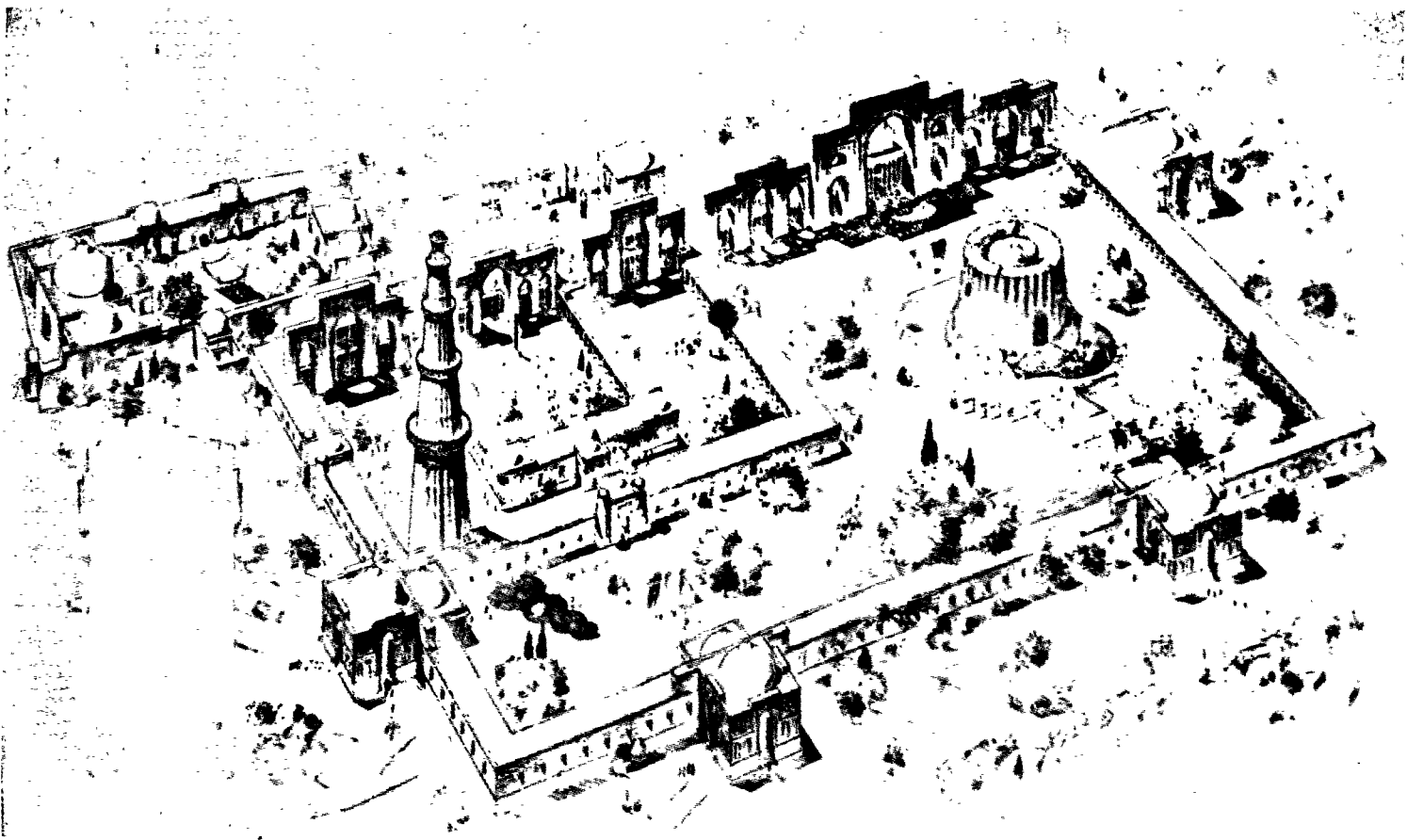
२८. कुव्वत-उल मसजिद दिल्ली का काल्पनिक मूल रूप (११९७)
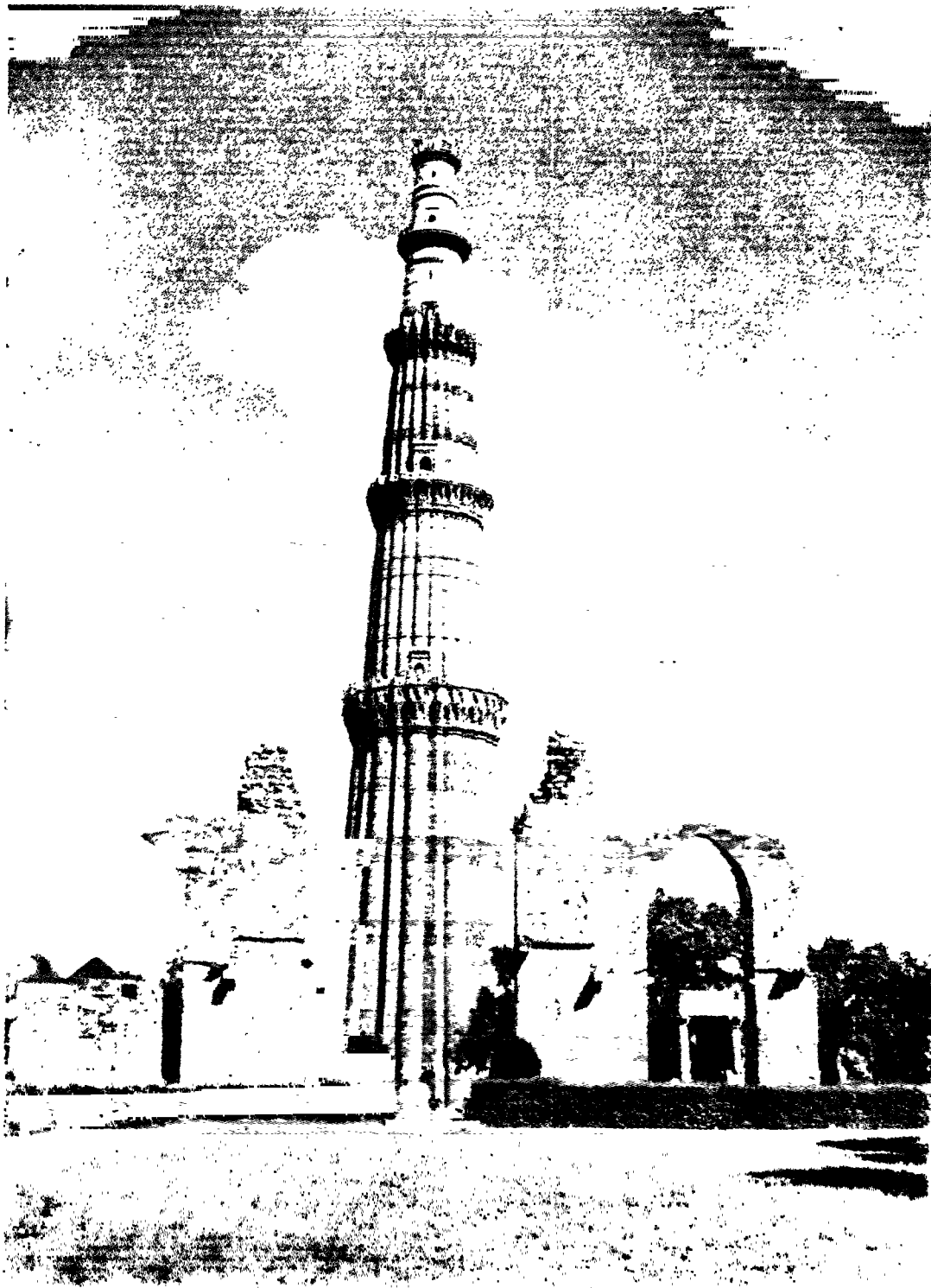
२६. कुतुब मीनार देहली (११६६-१२१२)
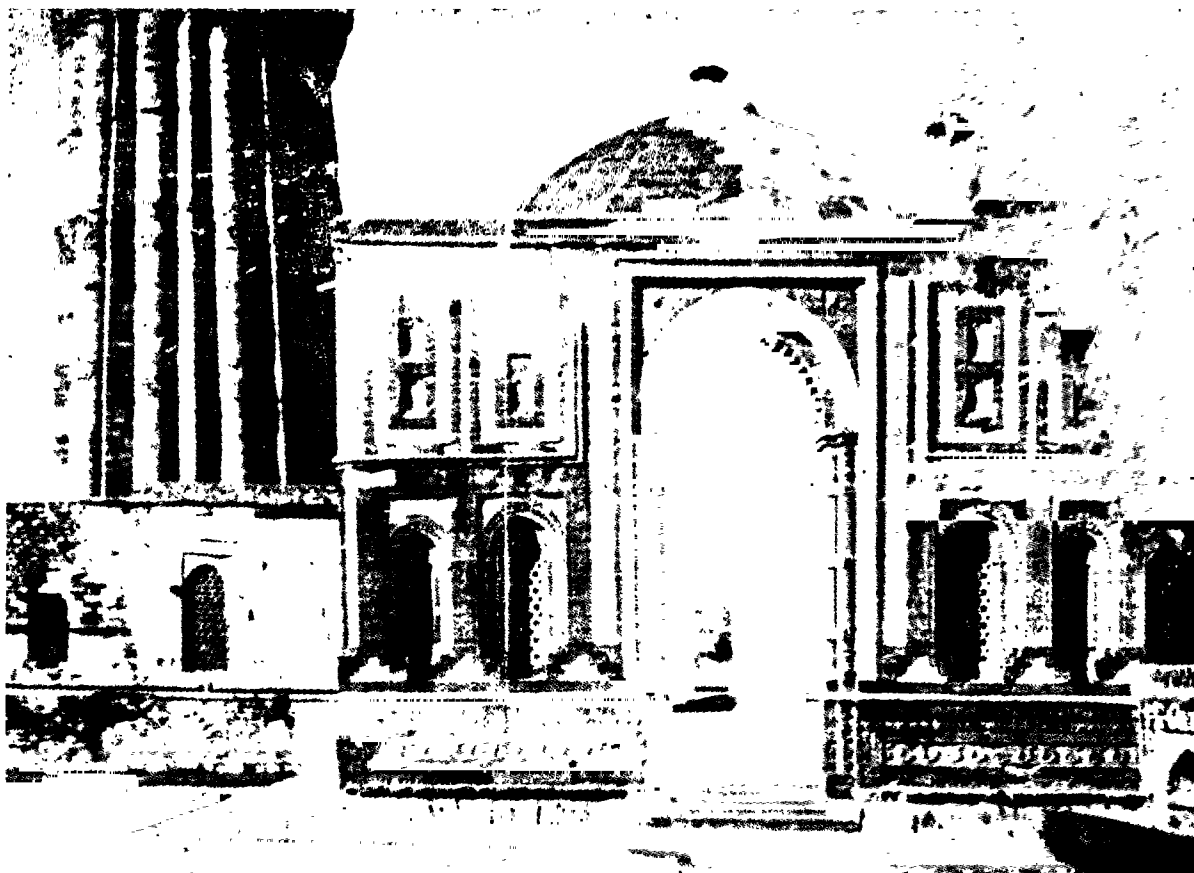
३०. अल्लाई दरवाजा दिल्ली (१३०५)

३१. ग्यासुद्दीन तुग़लक का मकबरा दिल्ली (१३२५)

३२. बेगमपुरी मसजिद दिल्ली (१३८७)
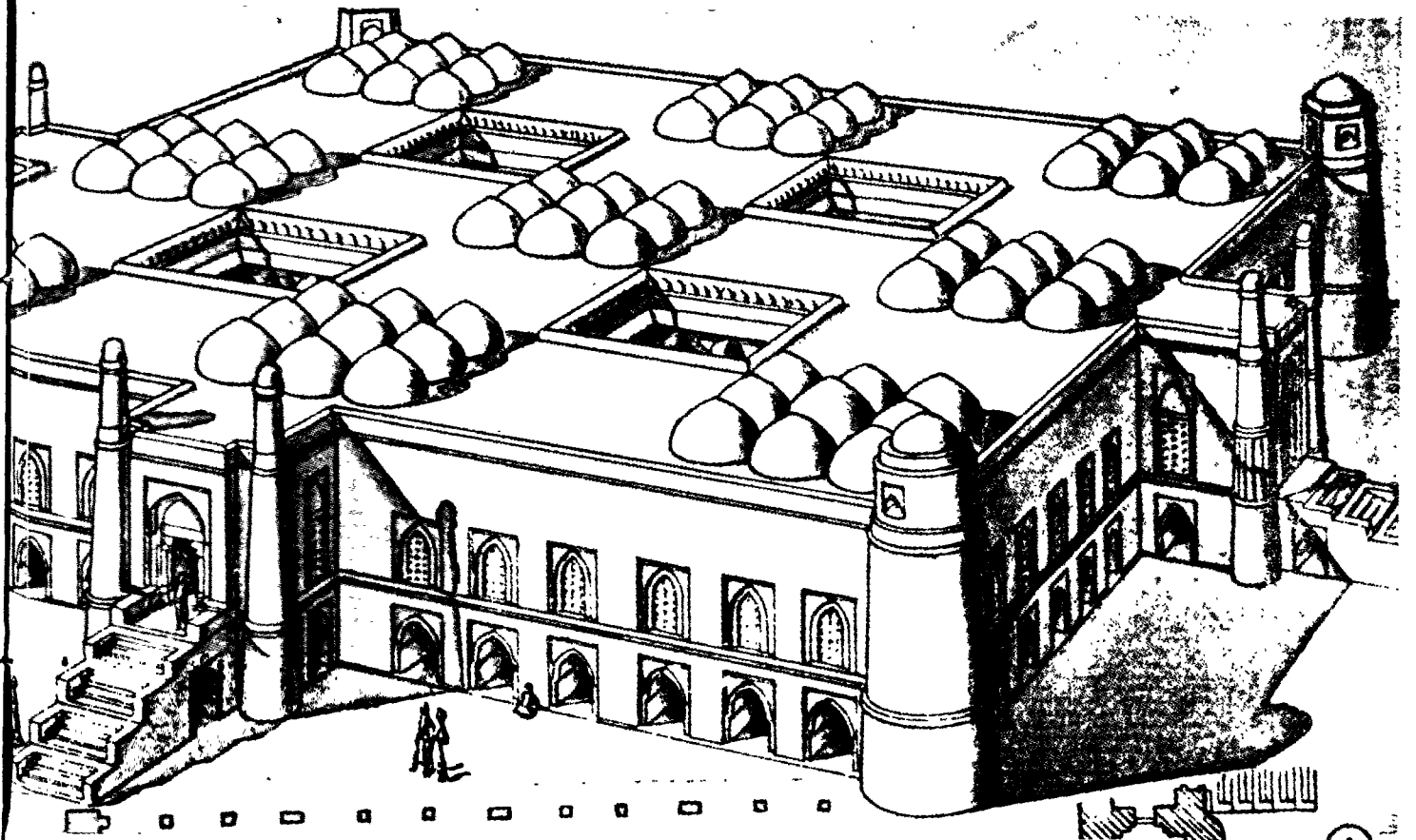
३३ कालान मसजिद दिल्ली (१३७०)
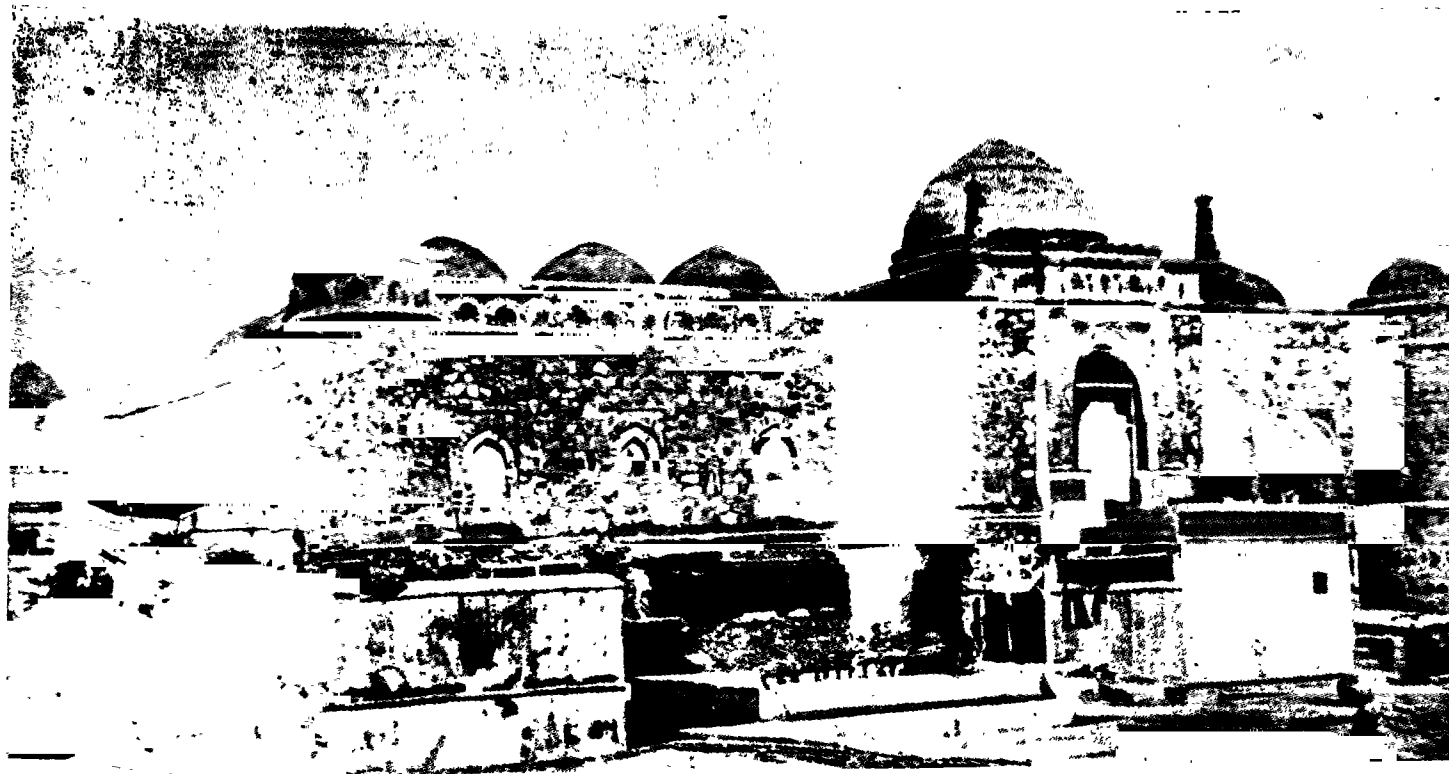
३४. खिड़की मसजिद दिल्ली (१३७५)
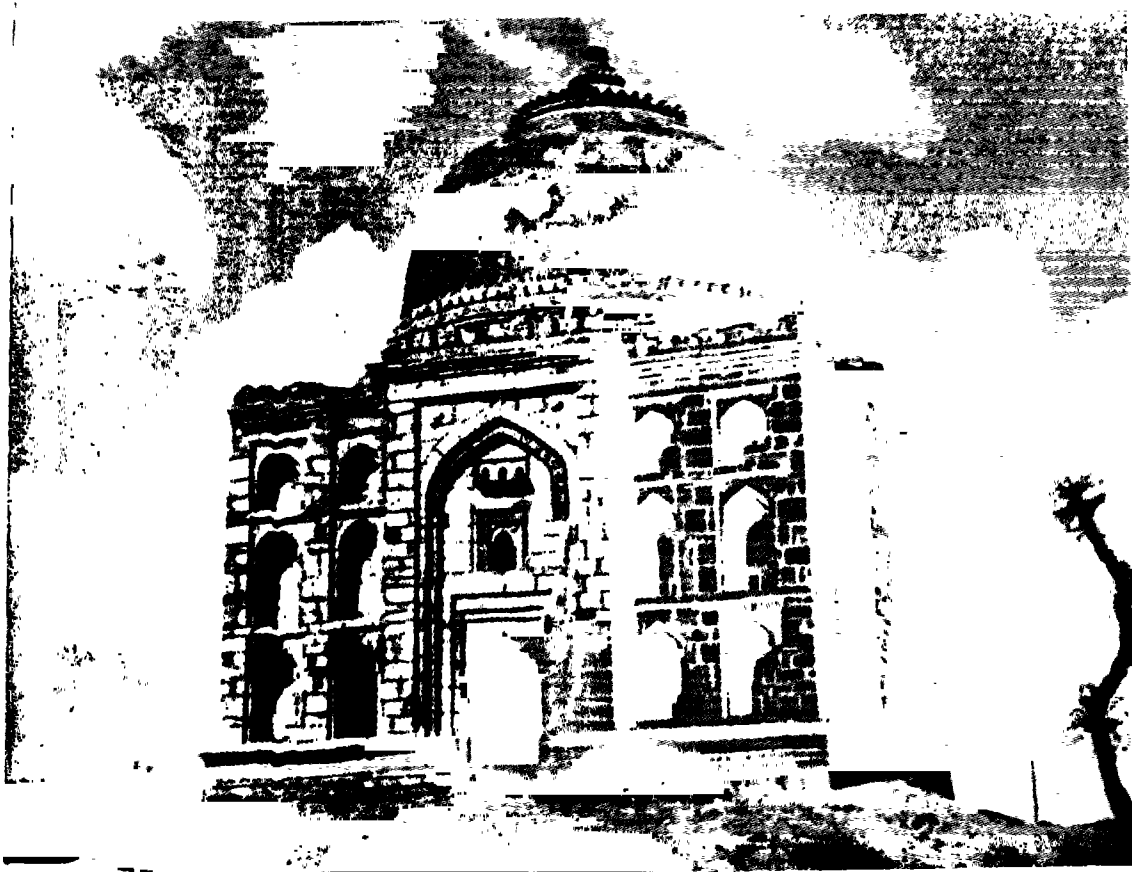
३५. एक वर्गाकार मकबरा, दिल्ली (१५वीं शताब्दी)
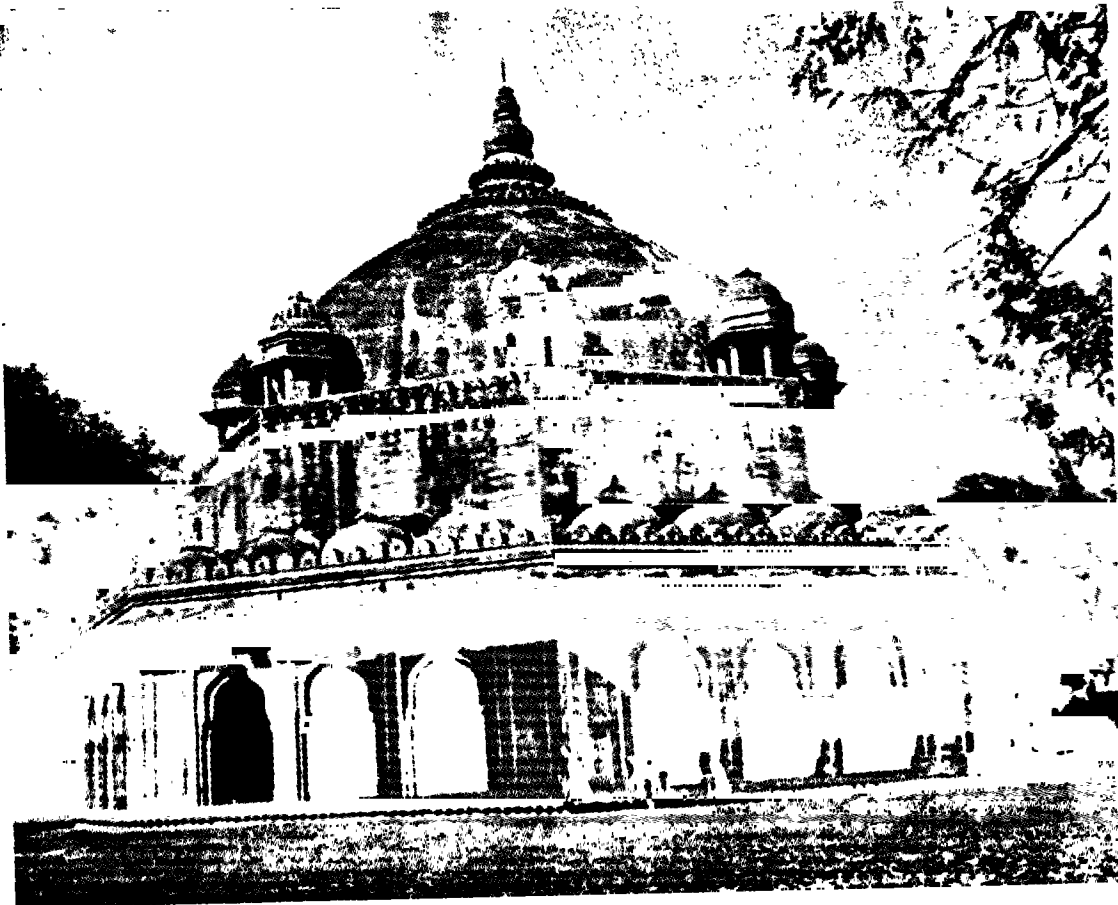
३६. हसन खां सूर का मकबरा, सासाराम (१५४०–४५)

३७. शेरशाह सूर का मकबरा, सासाराम (१५४५)
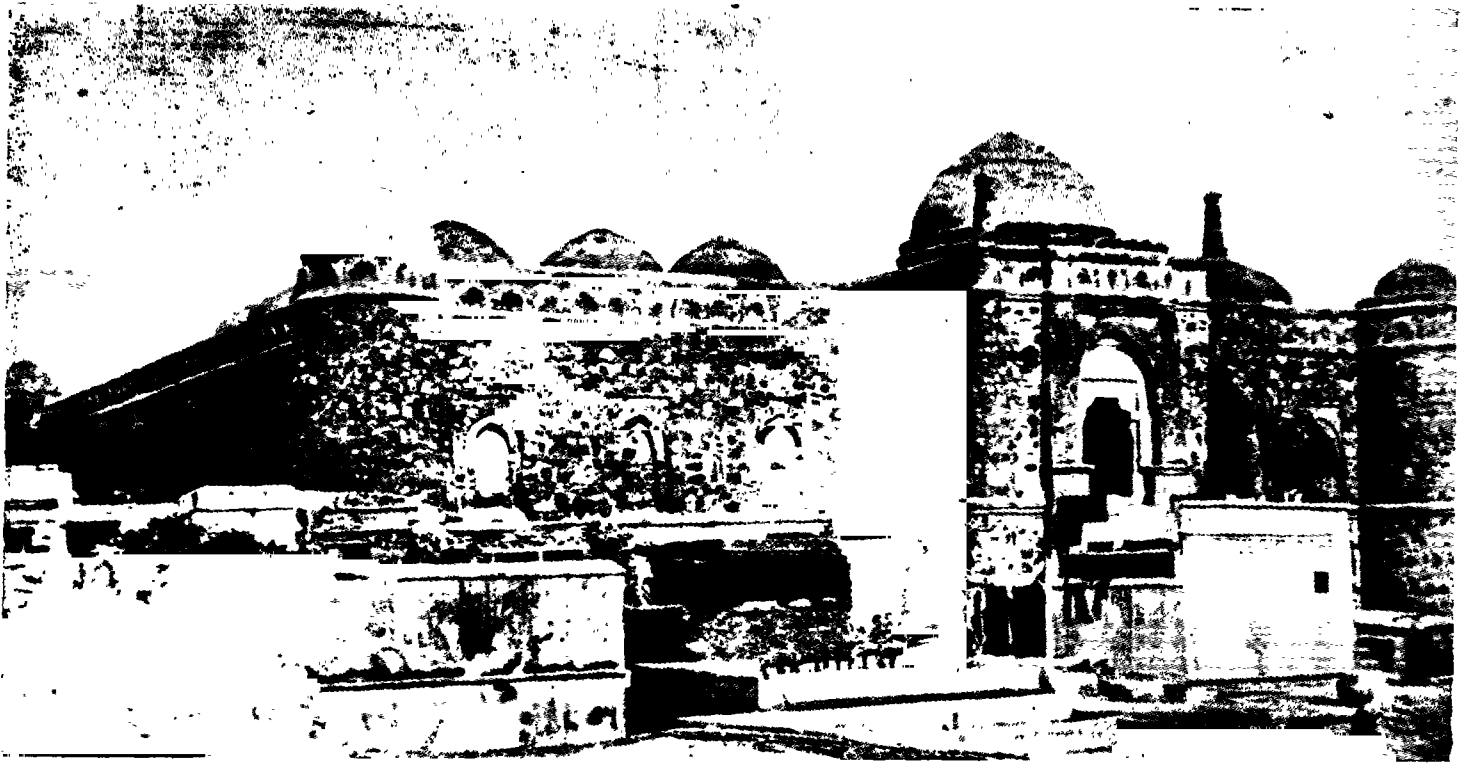
३४. खिड़की मसजिद दिल्ली (१३७५)
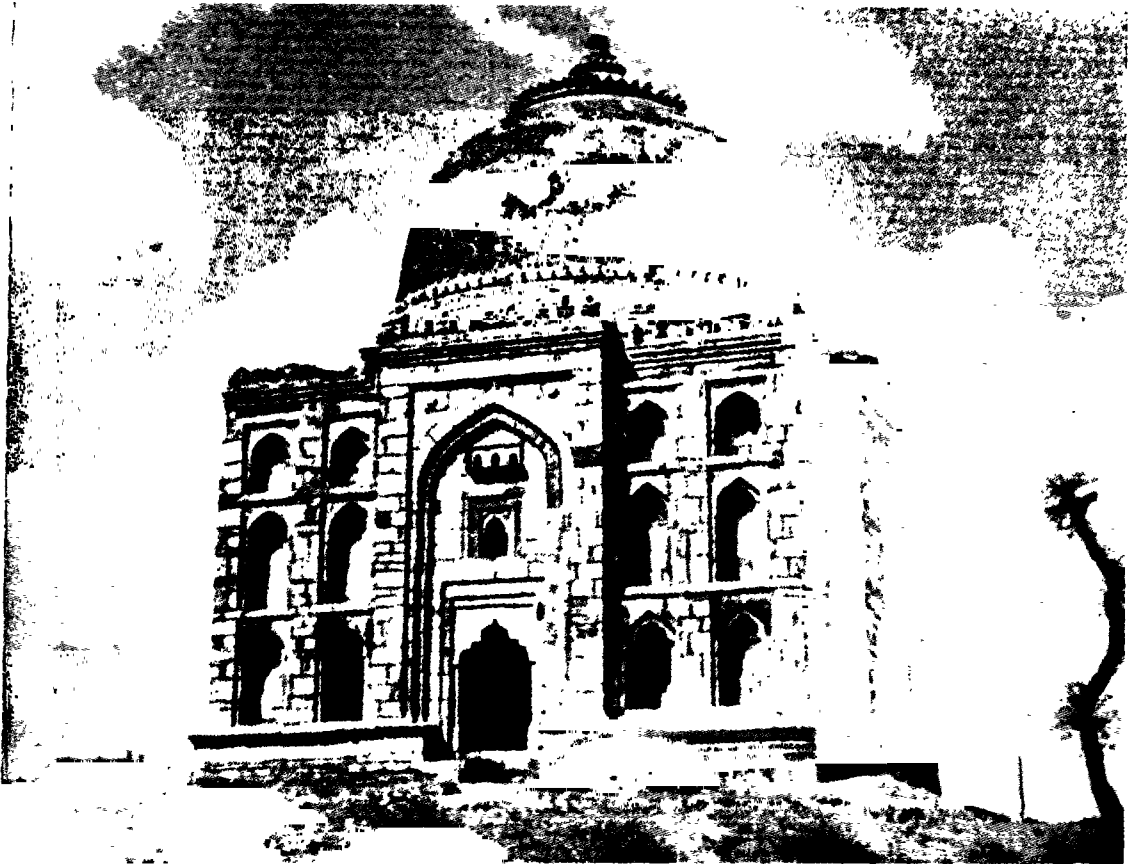
३५. एक वर्गाकार मकबरा, दिल्ली (१५वीं शताब्दी)
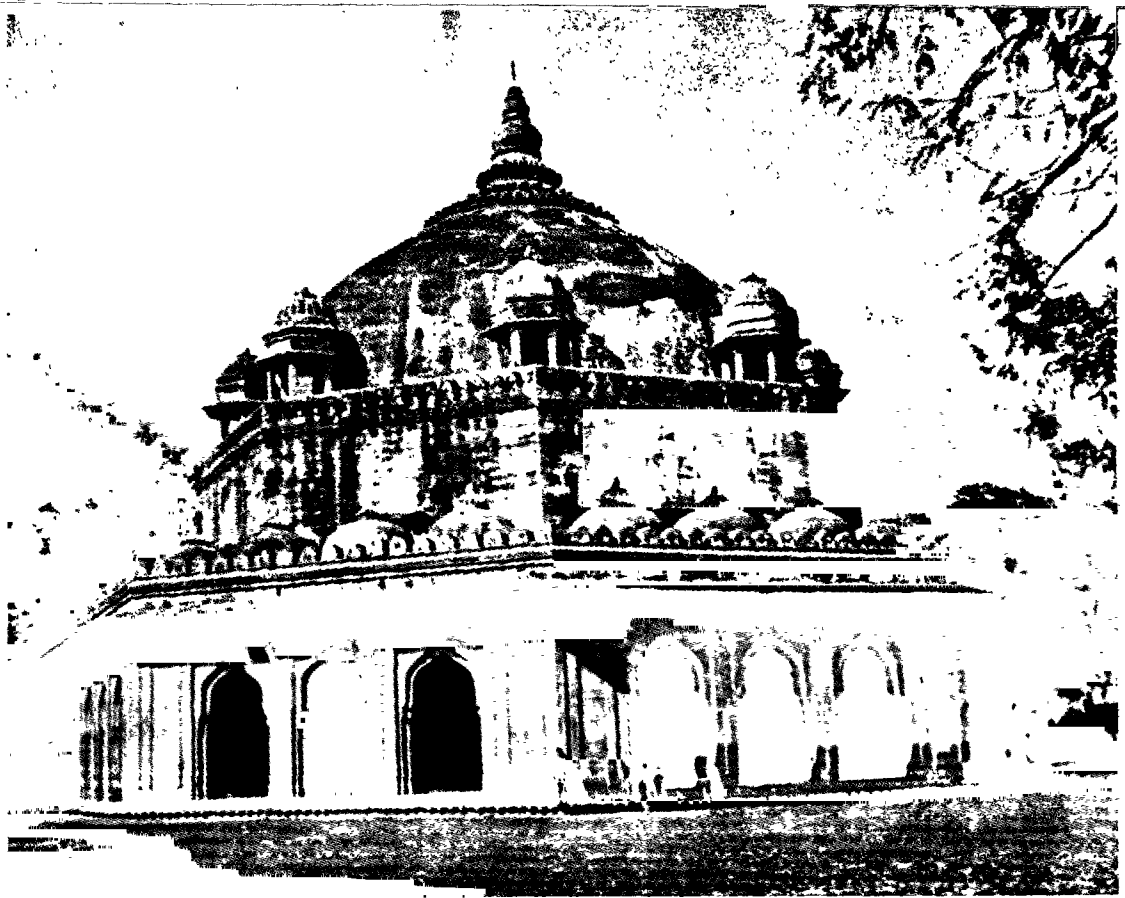
३६. हसन खां सूर का मकबरा, सासाराम (१५४०–४५)

३७. शेरशाह सूर का मकबरा, सासाराम (१५४५)
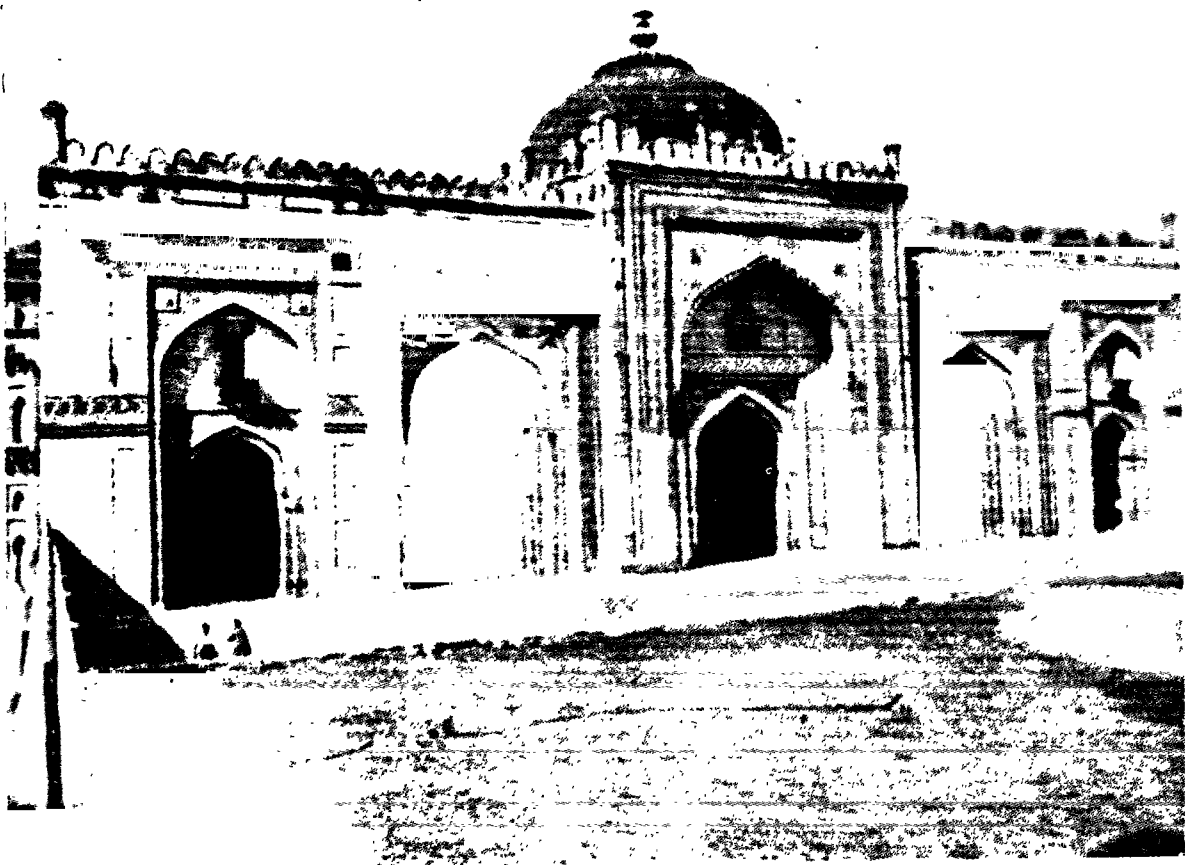
३८ किला-ए-कुहना मसजिद, दिल्ली (१५४२)
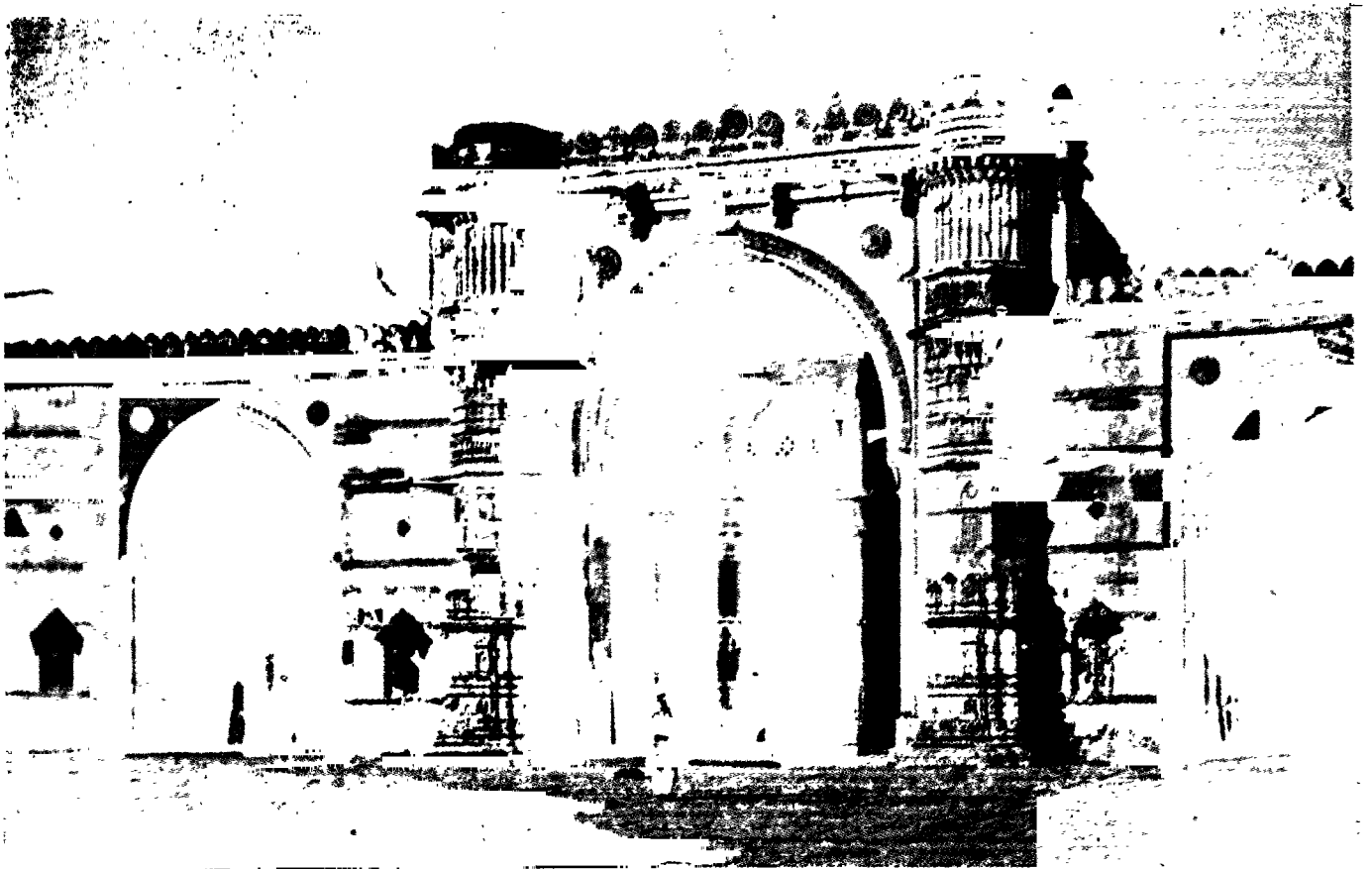
३९. जामी मसजिद, अहमदाबाद (१४२३)
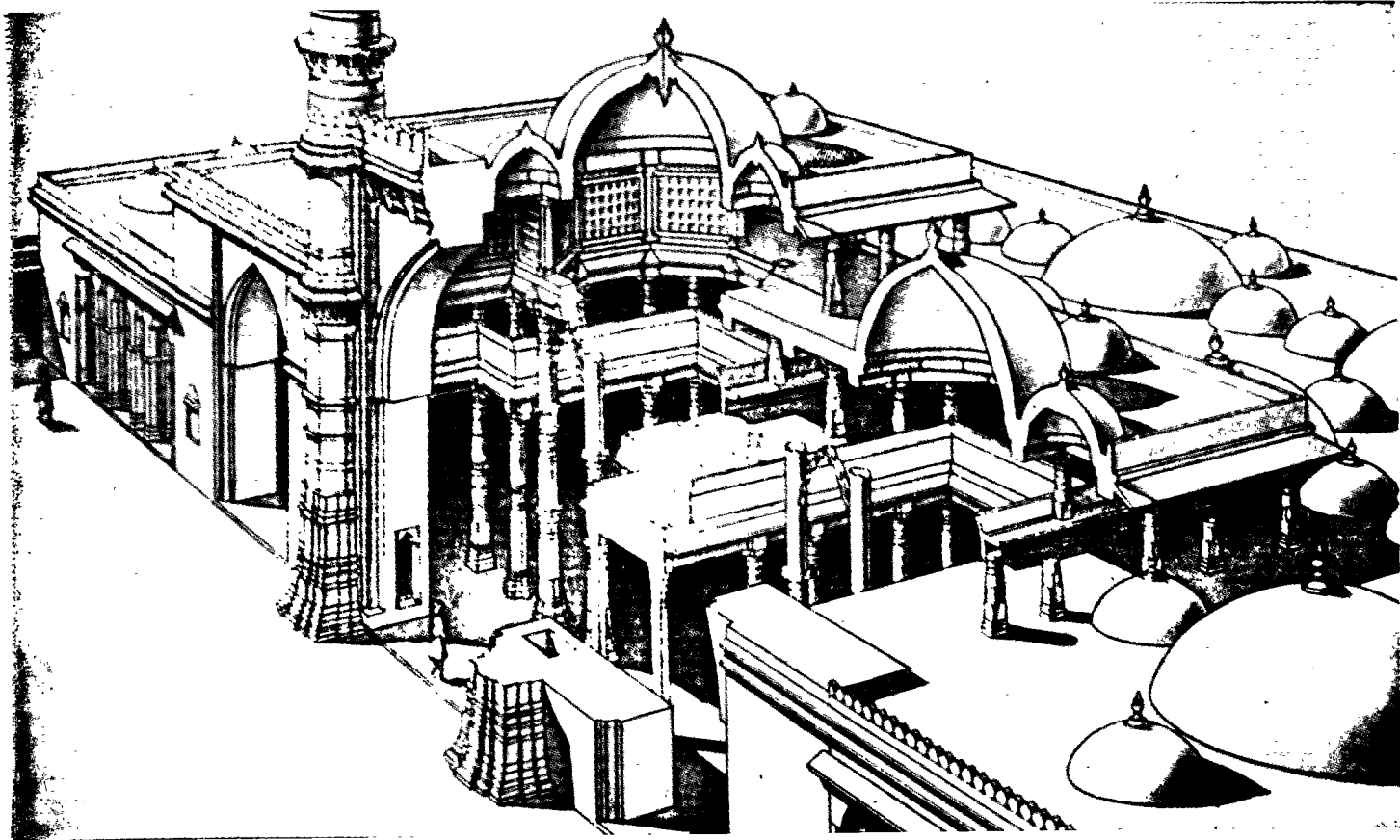
४०. जामी मसजिद अहमदाबाद का आन्तरिक भाग (१४२३)
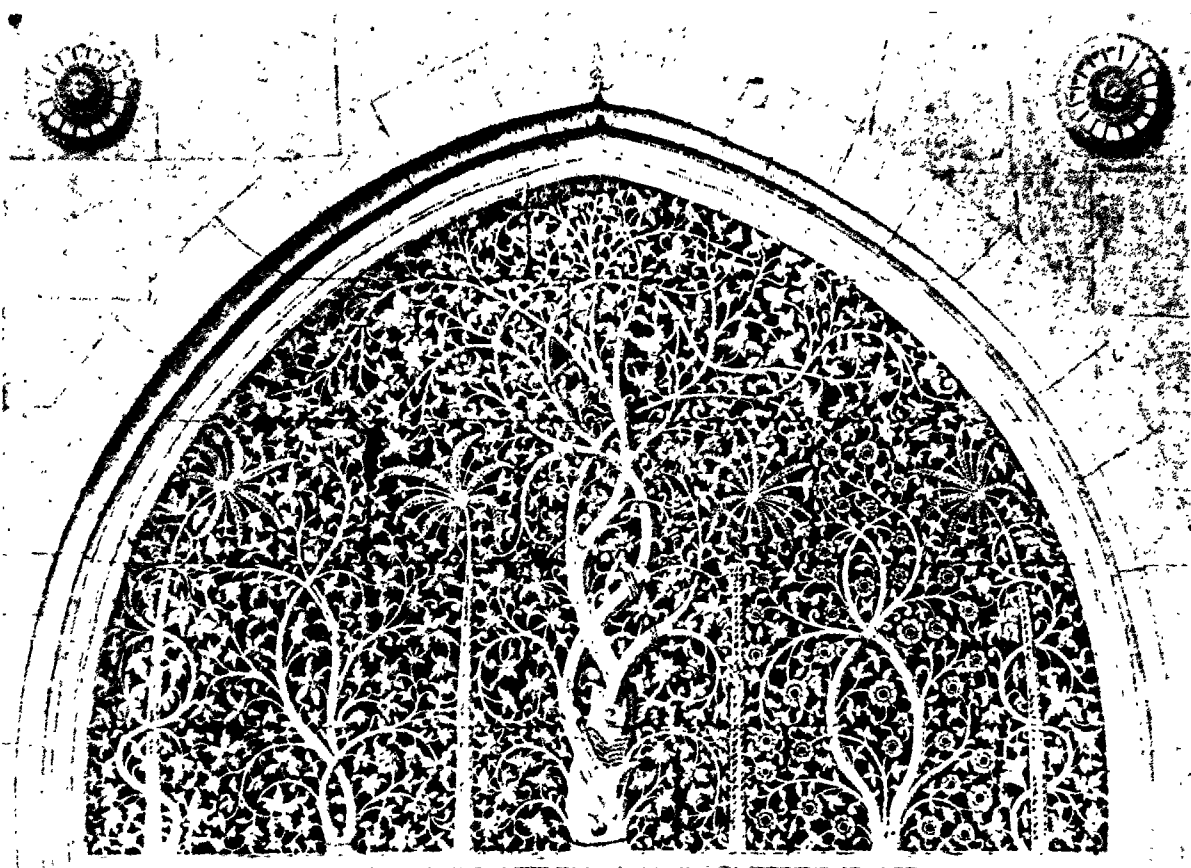
४१. अहमदाबाद की सिड़ी सैय्यद की मसजिद की जाली (१५१५)
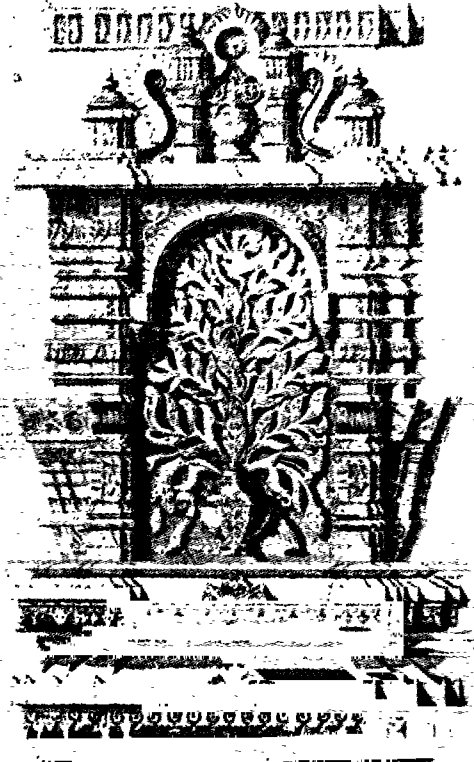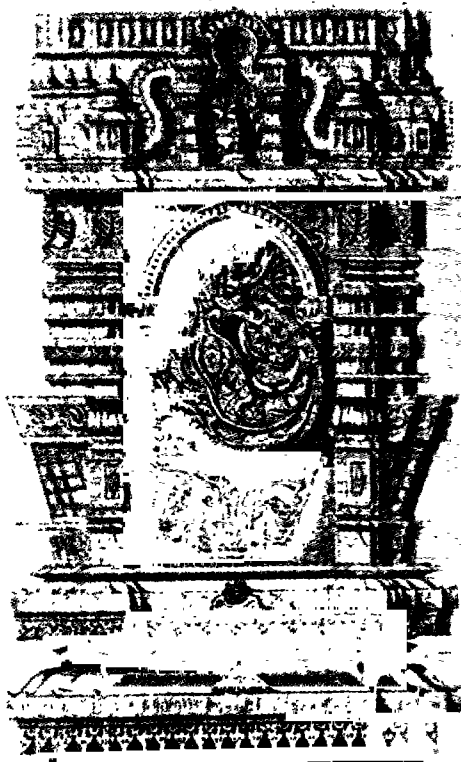
४२. अहमदाबाद की सारंगपुर मसजिद के उत्कीर्ण फलक (१५३०)
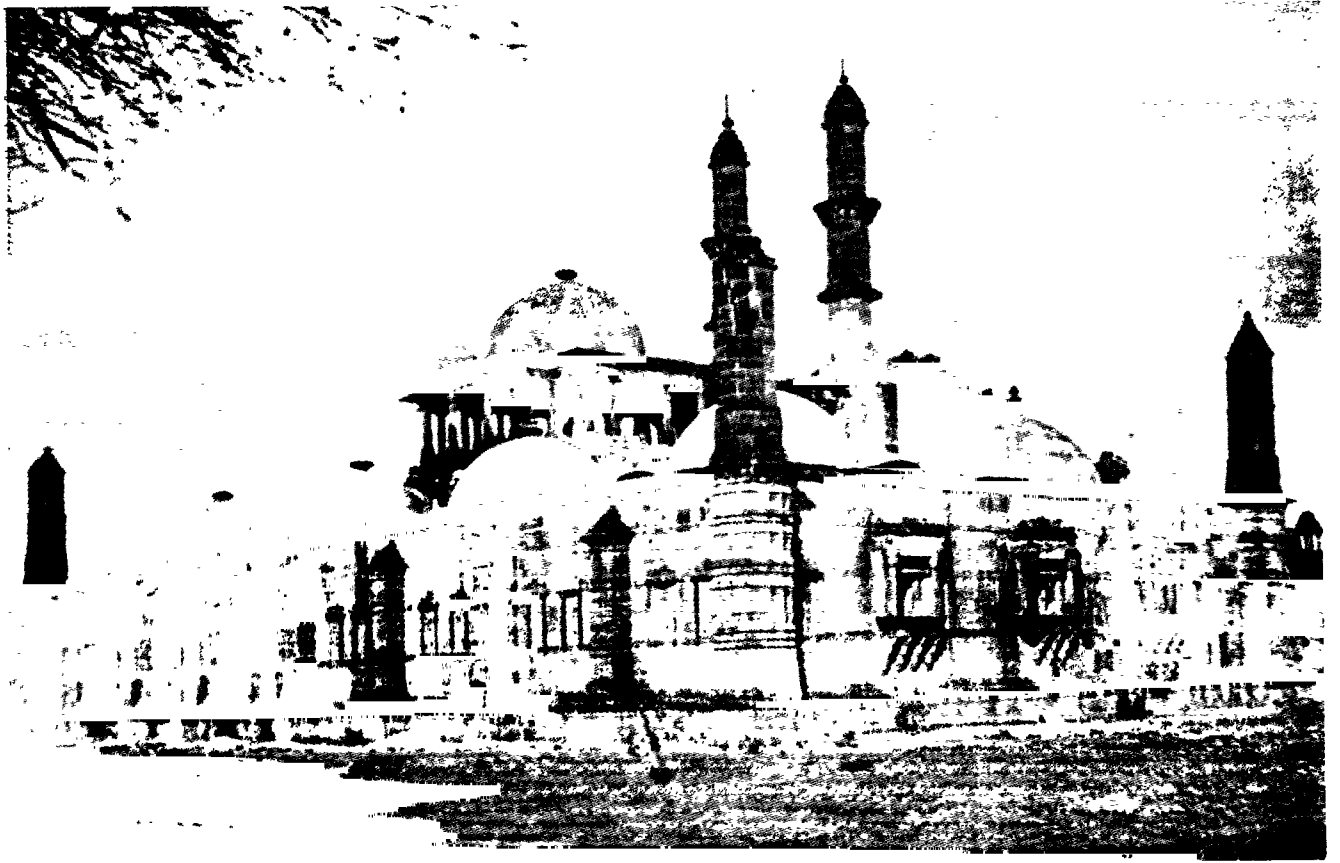
४३. जामी मसजिद, चम्पानेर (१५००)
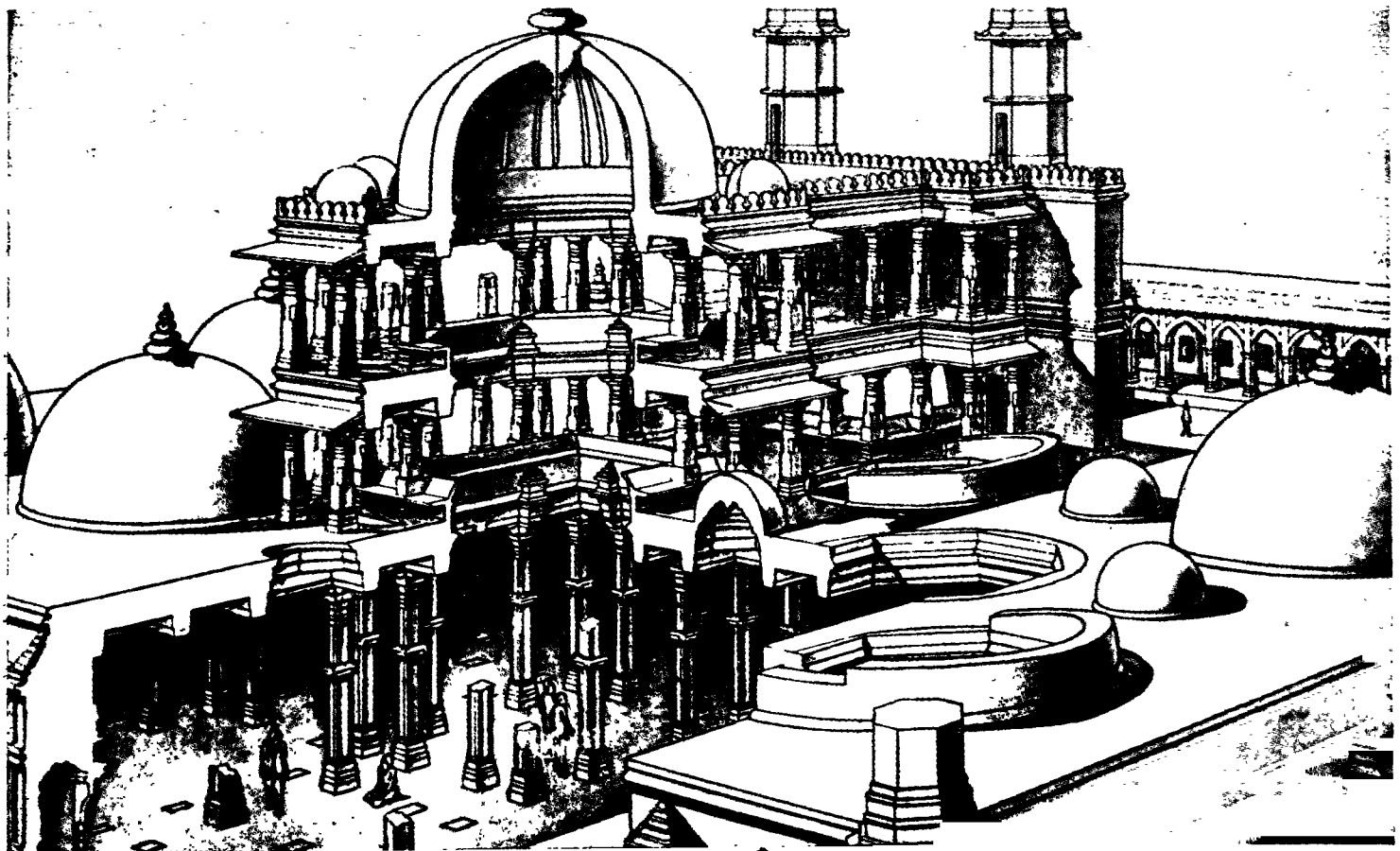
४४. जामी मसजिद चम्पानेर का आन्तरिक भाग (१५००)
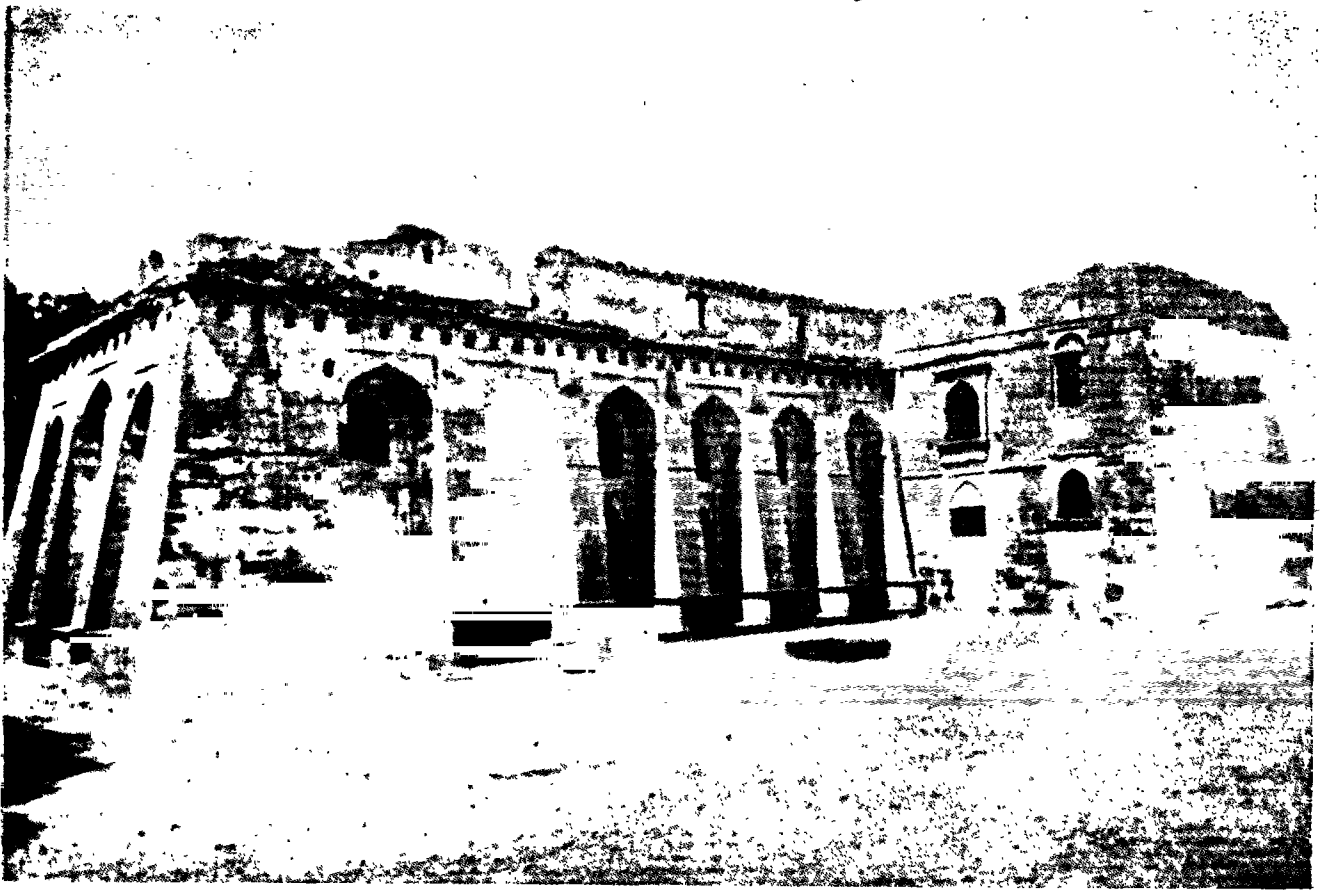
४५. हिण्डोला महल, माण्डू (१४२५)
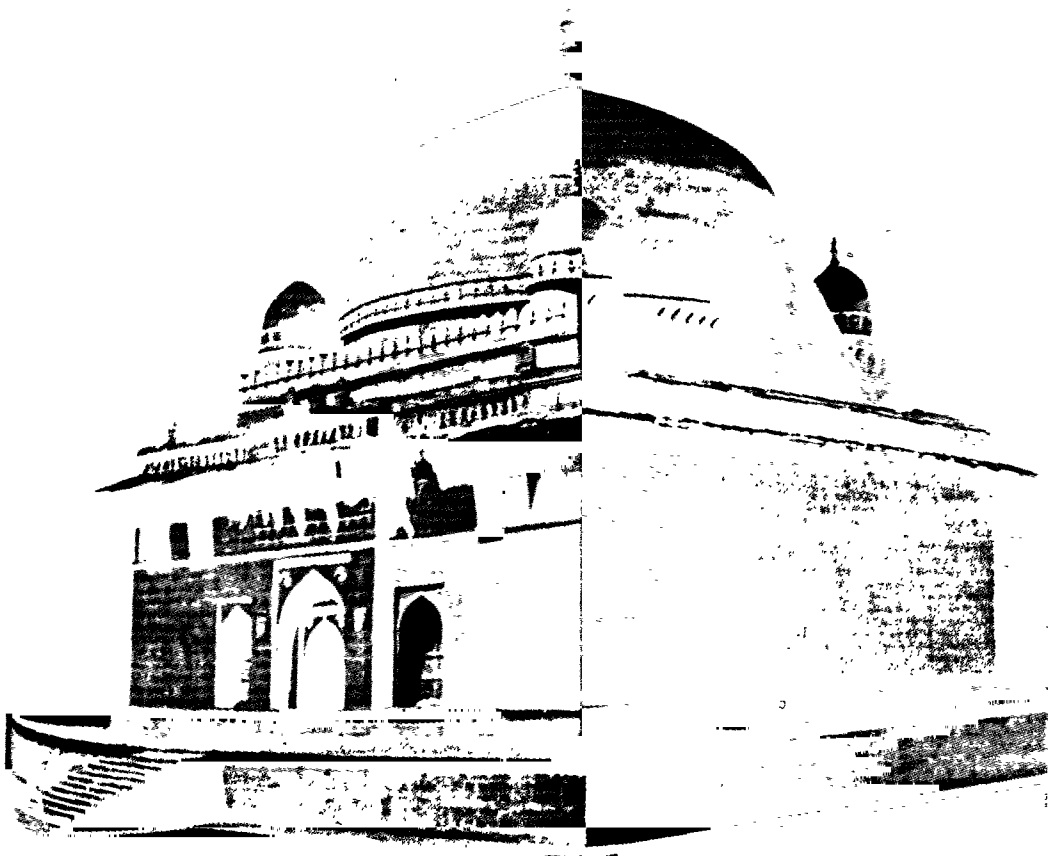
४६. होशंग शाह का मकबरा, माण्डू (१४४०)
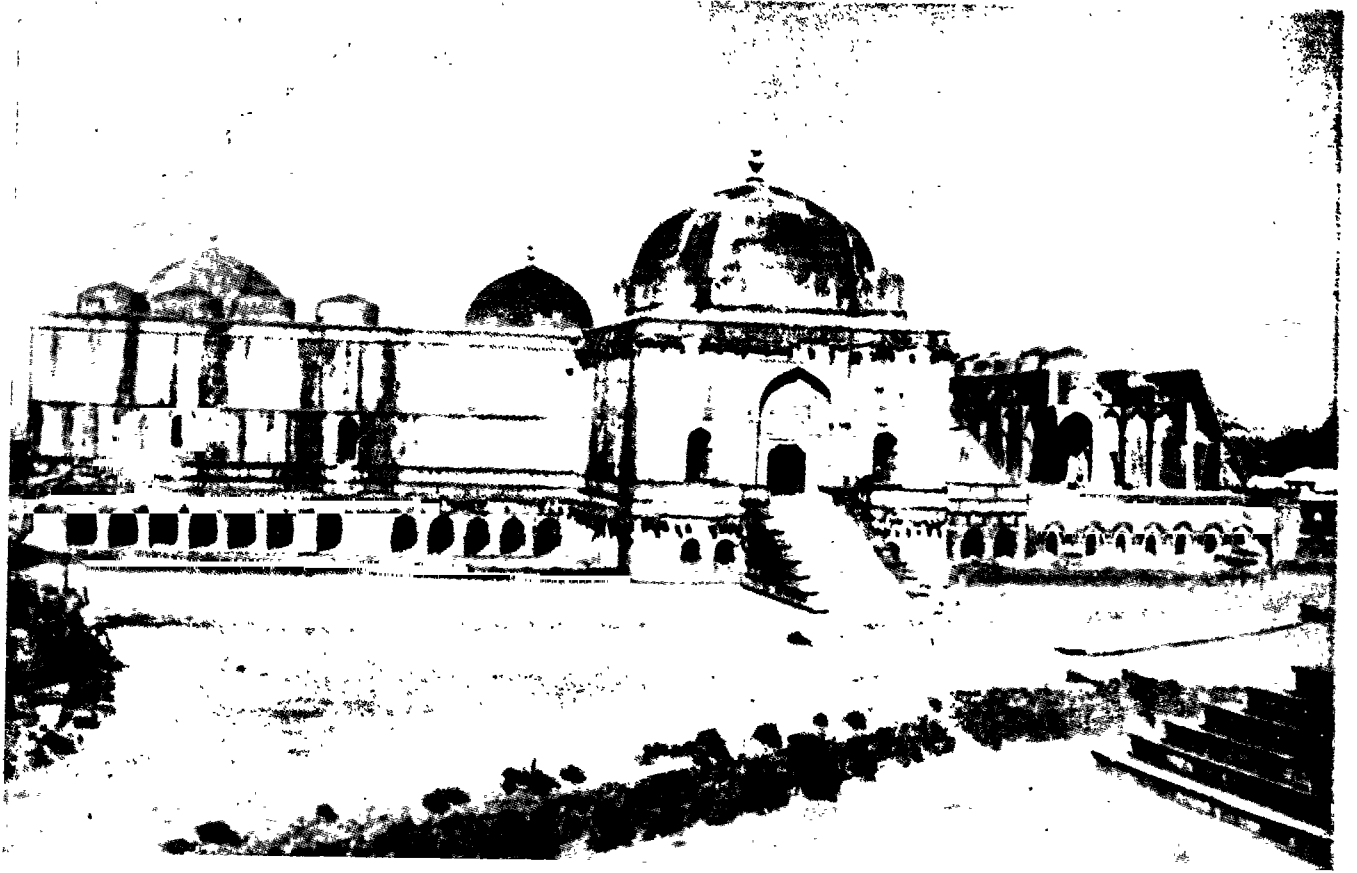
४७ जामी मसजिद, माण्डू (१४४०)

४८. माण्डू की जामी मसजिद का भीतरी भाग (१४४०)
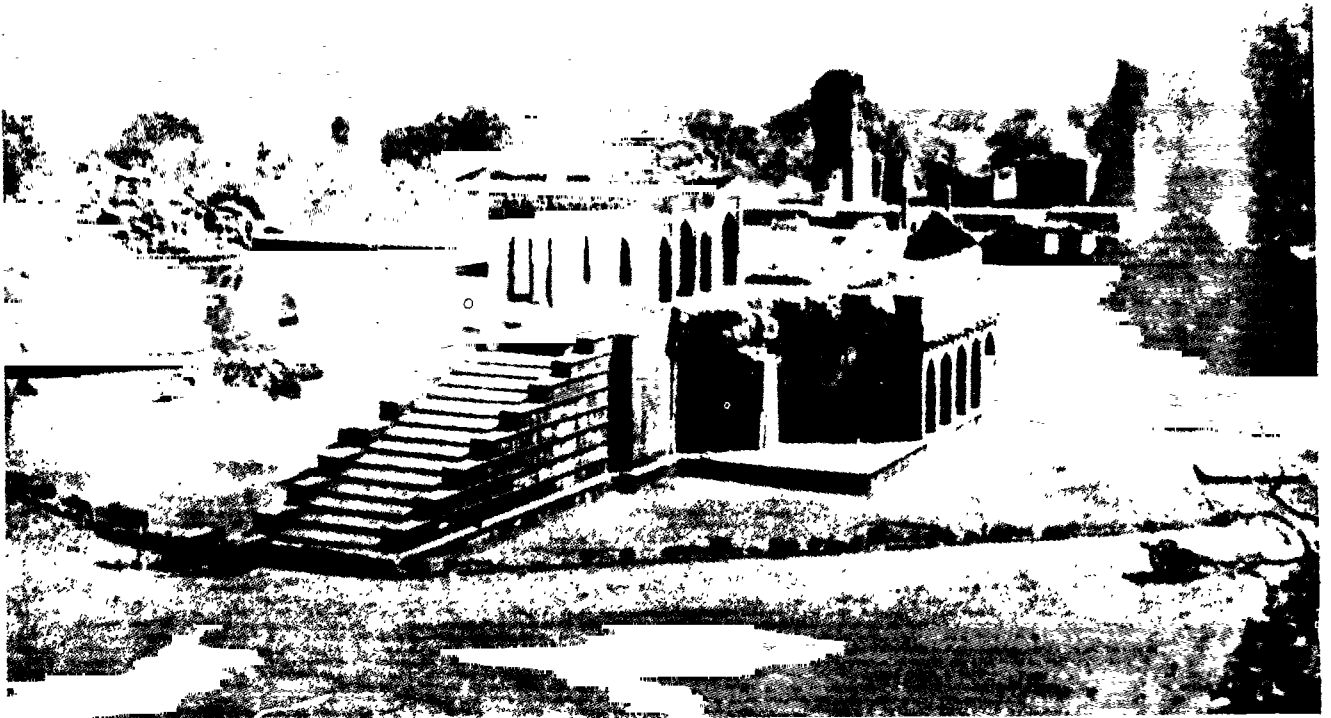
४६. अशर्फी महल, माण्डू (१४३६-६६)
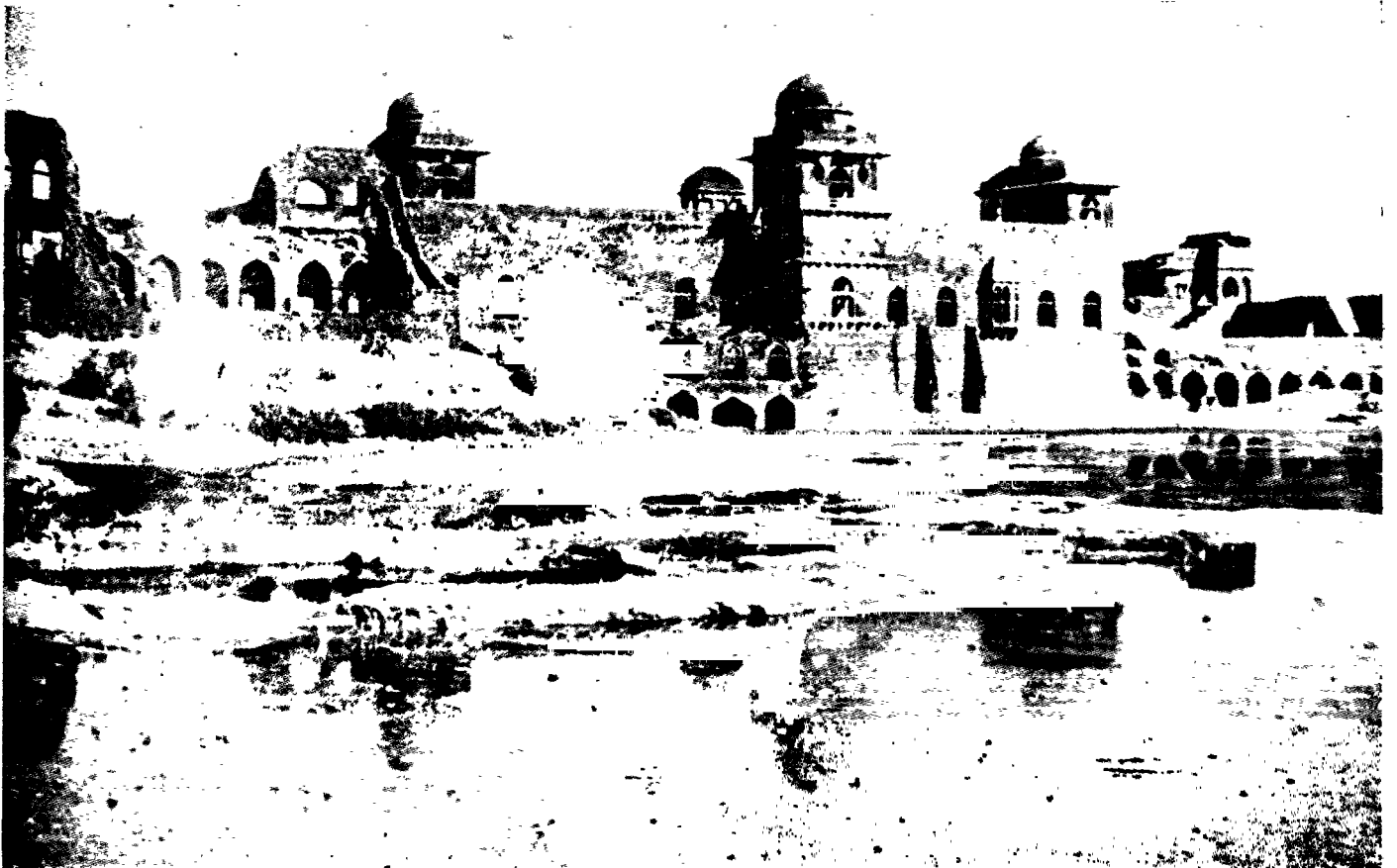
५०. जहाज महल, माण्डू (१४६६-१५००)
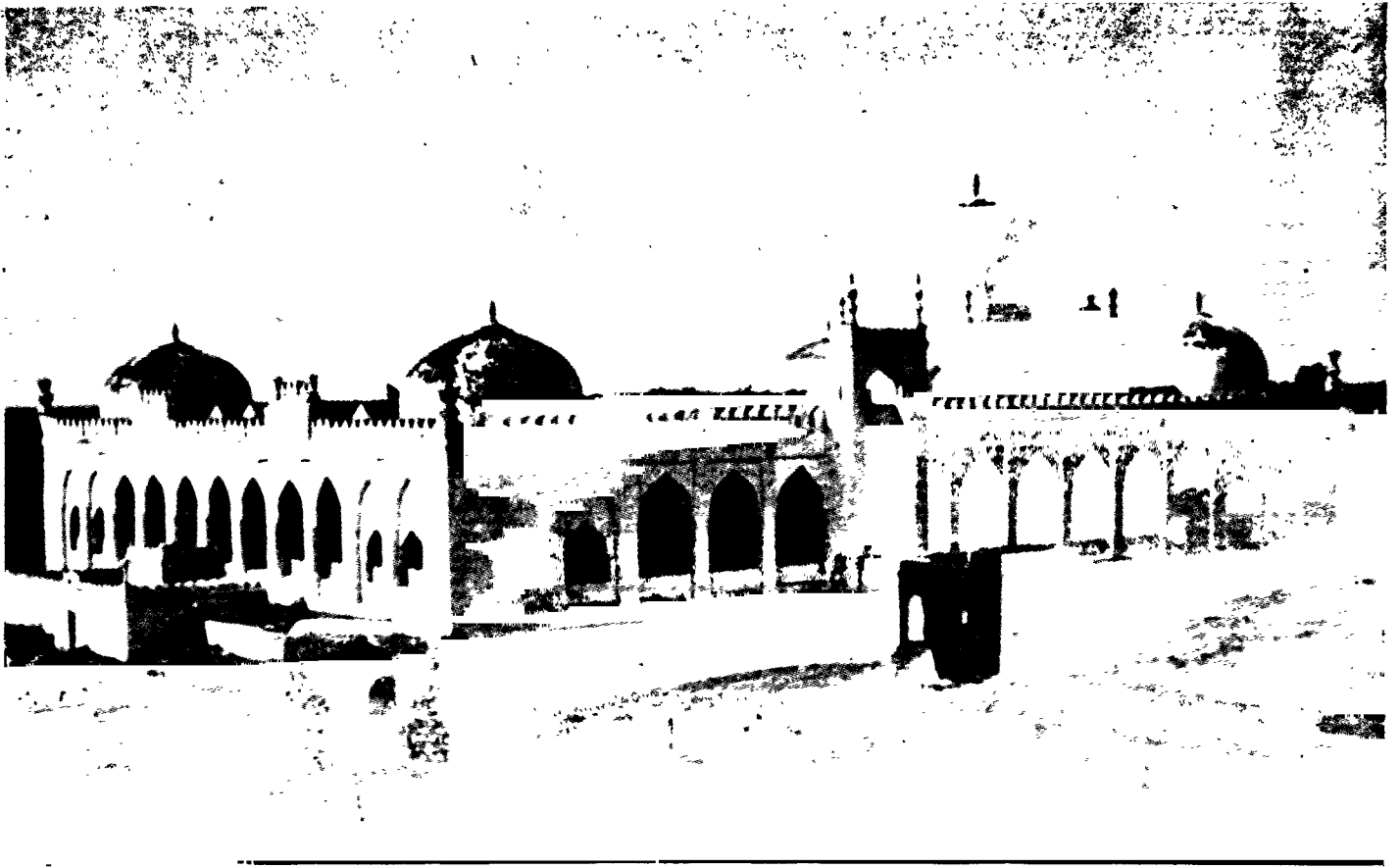
५१. जामी मसजिद, गुलबर्गा (१३६७)
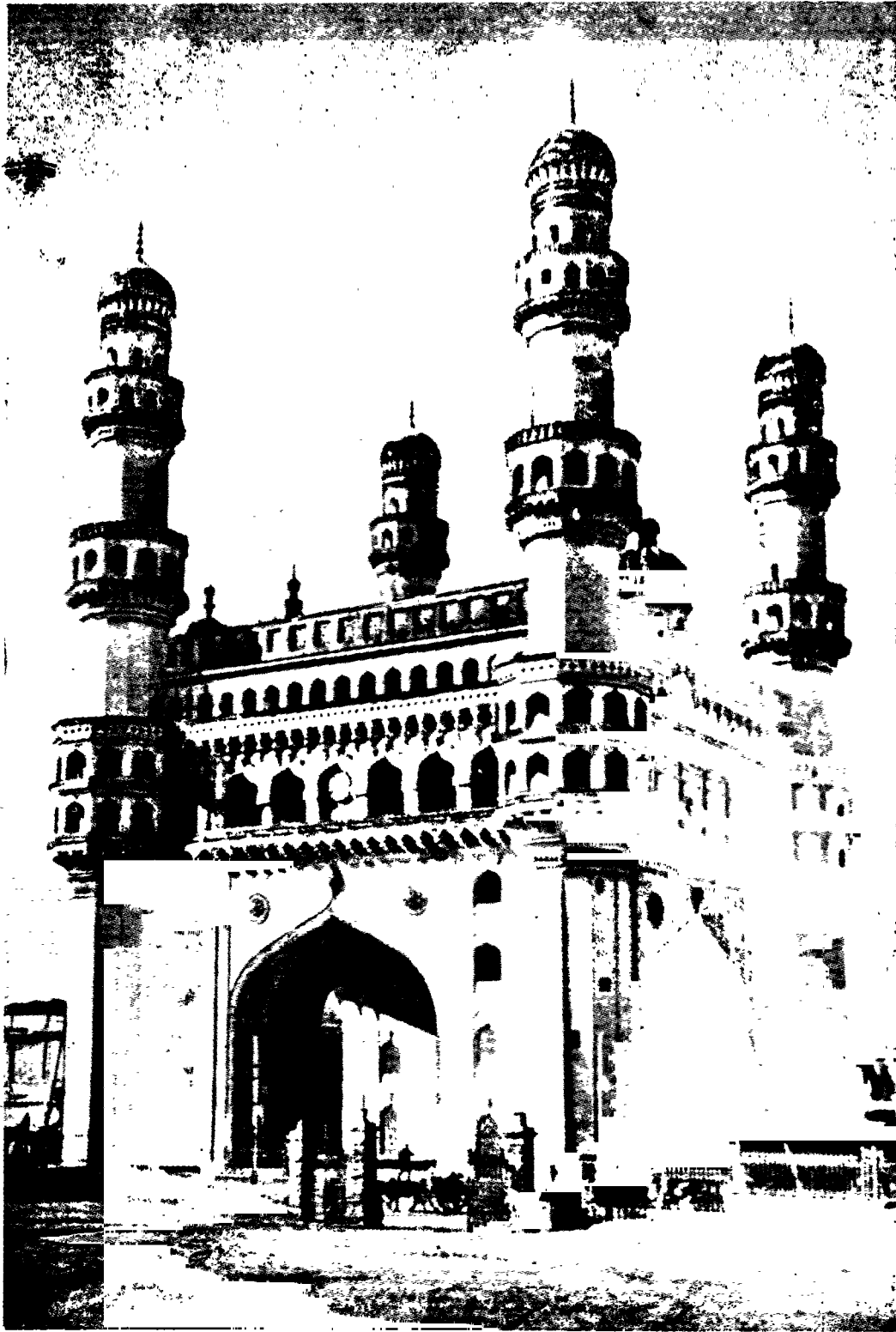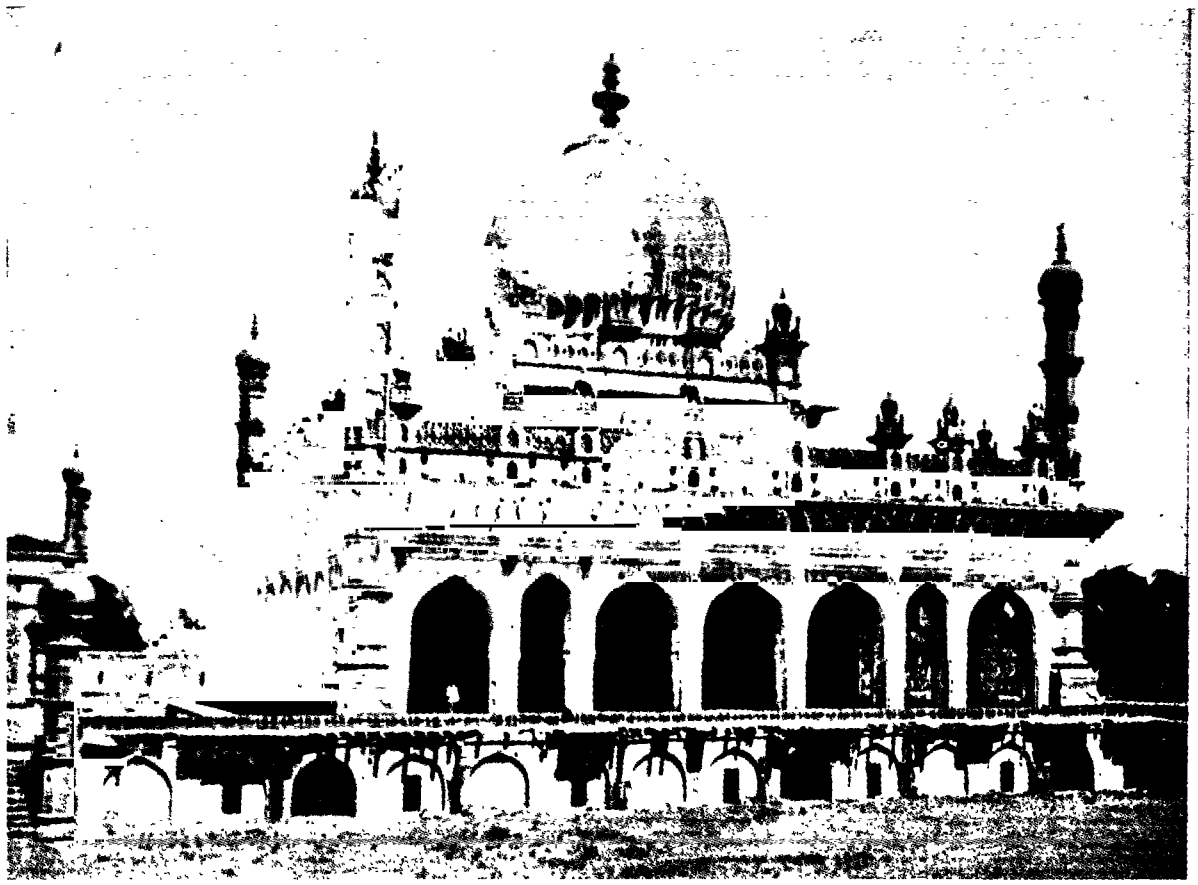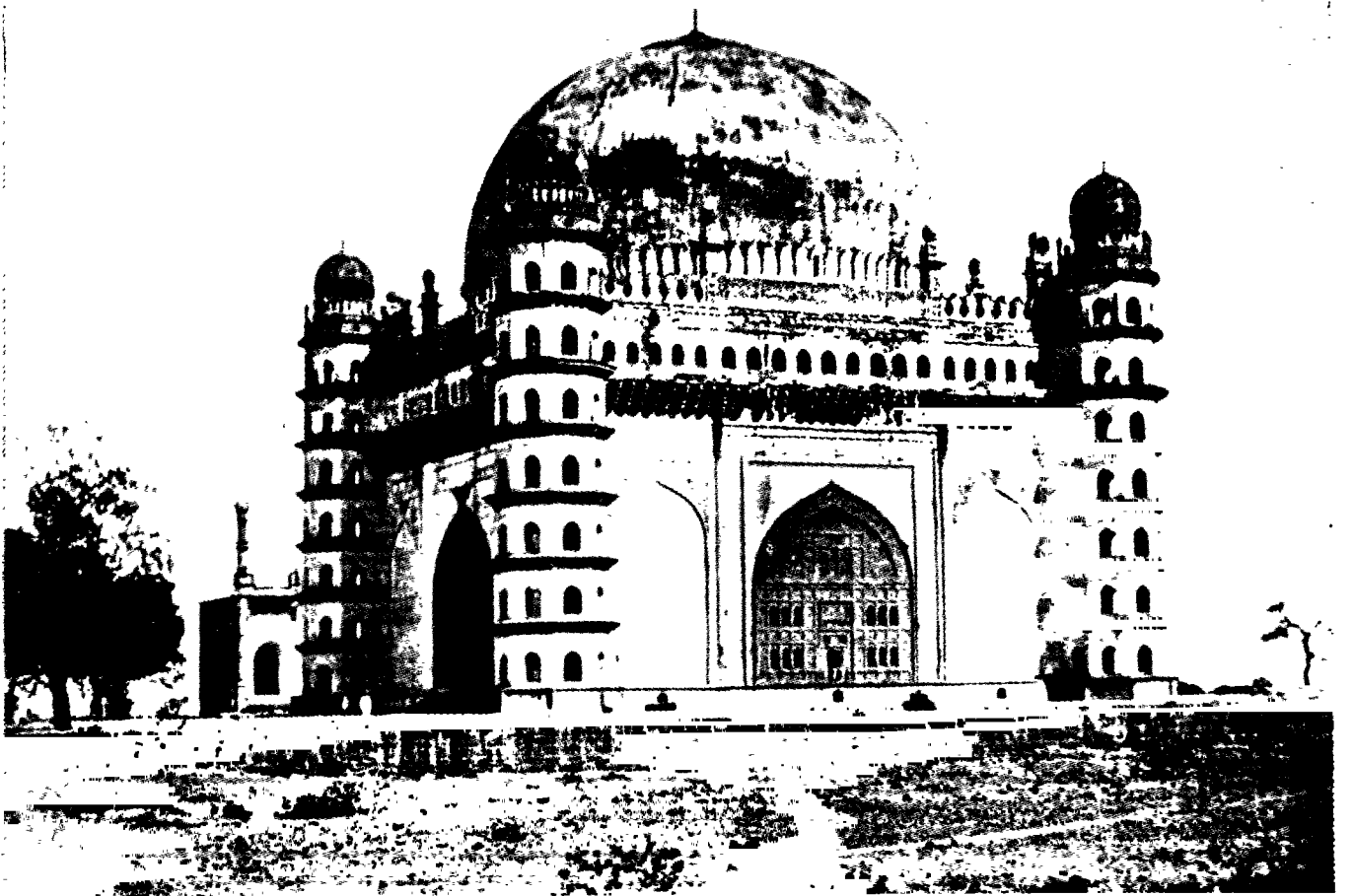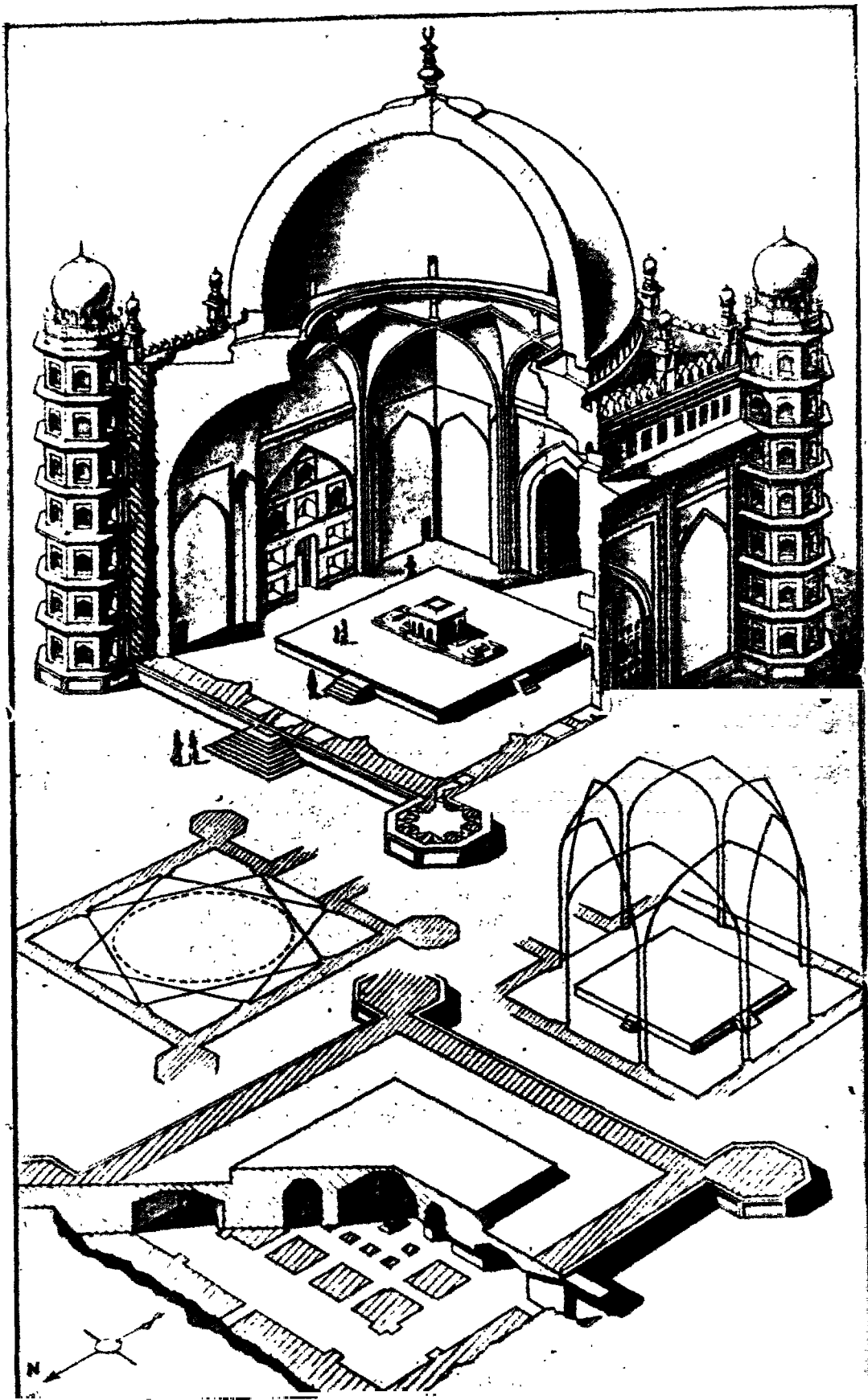
५२. चार मीनार, हैदराबाद (१५९१)

५३. इब्राहीम रोजा, बीजापुर (१६१५)

५४. गोल गुम्बज, बीजापुर (१६५०)

५५. गोल गुम्बज बीजापुर का आन्तरिक भाग (१६५०)
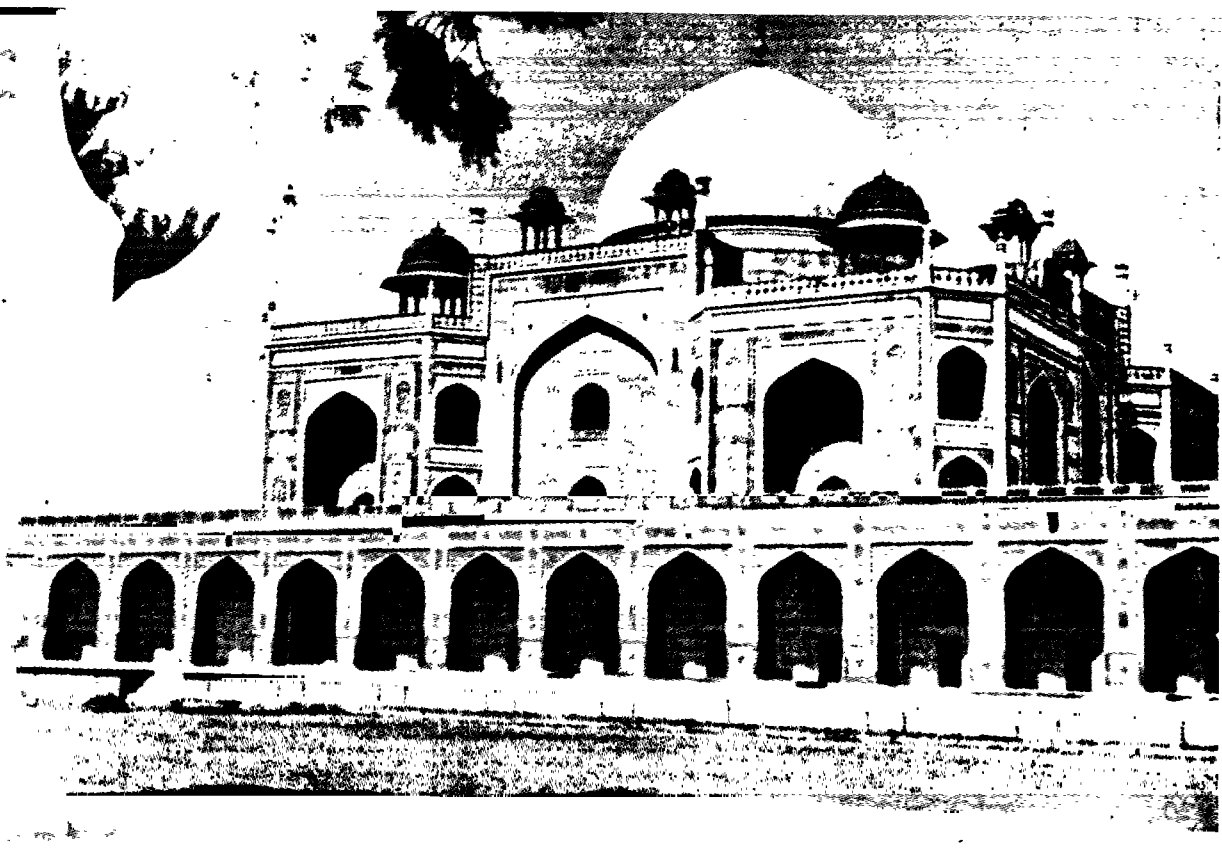
५६. हूमायूँ का मकबरा, दिल्ली (१५६४-७०)
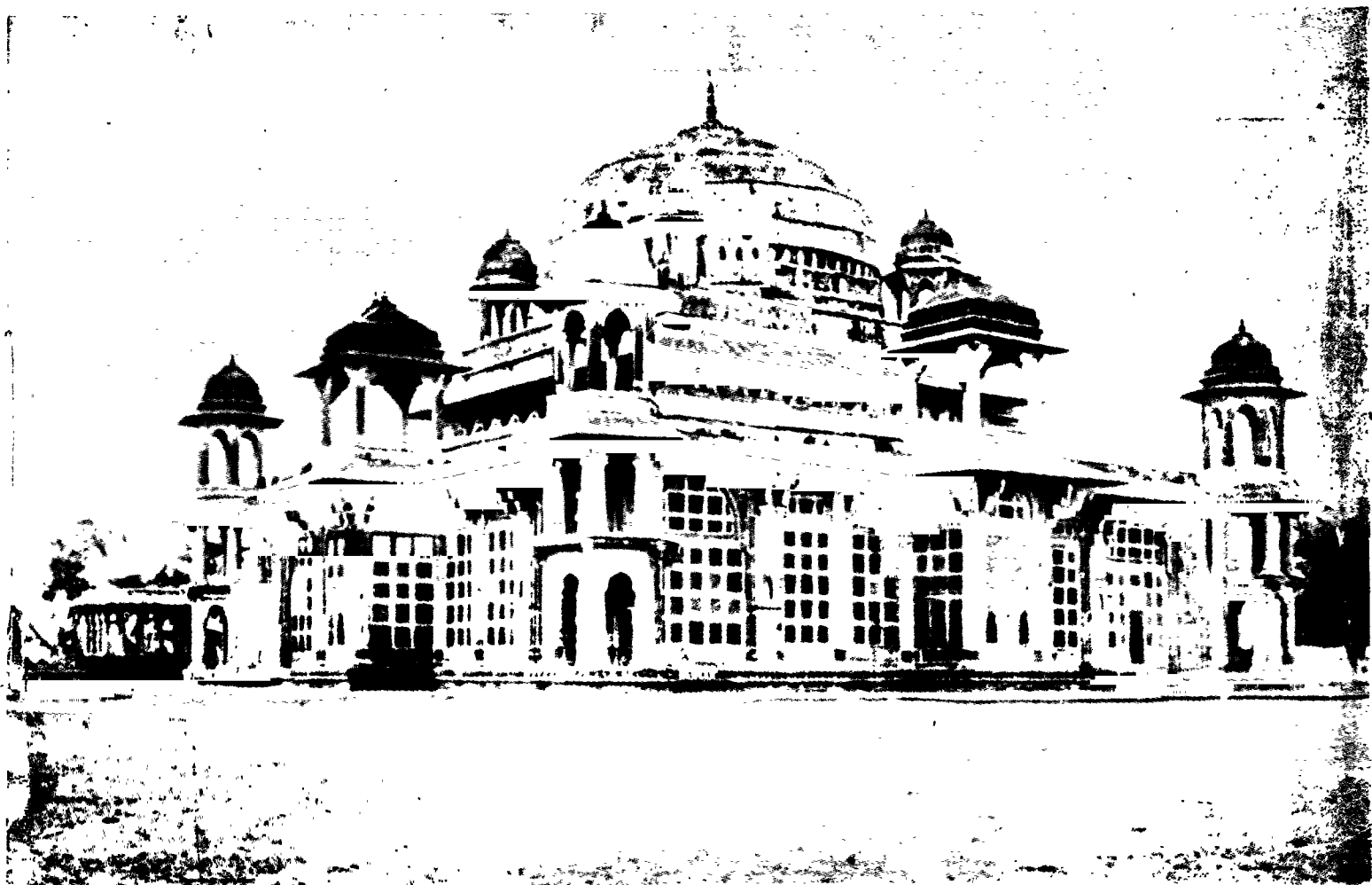
५७. मुहम्मद गौस का मकबरा, ग्वालियर (लगभग १५६४)
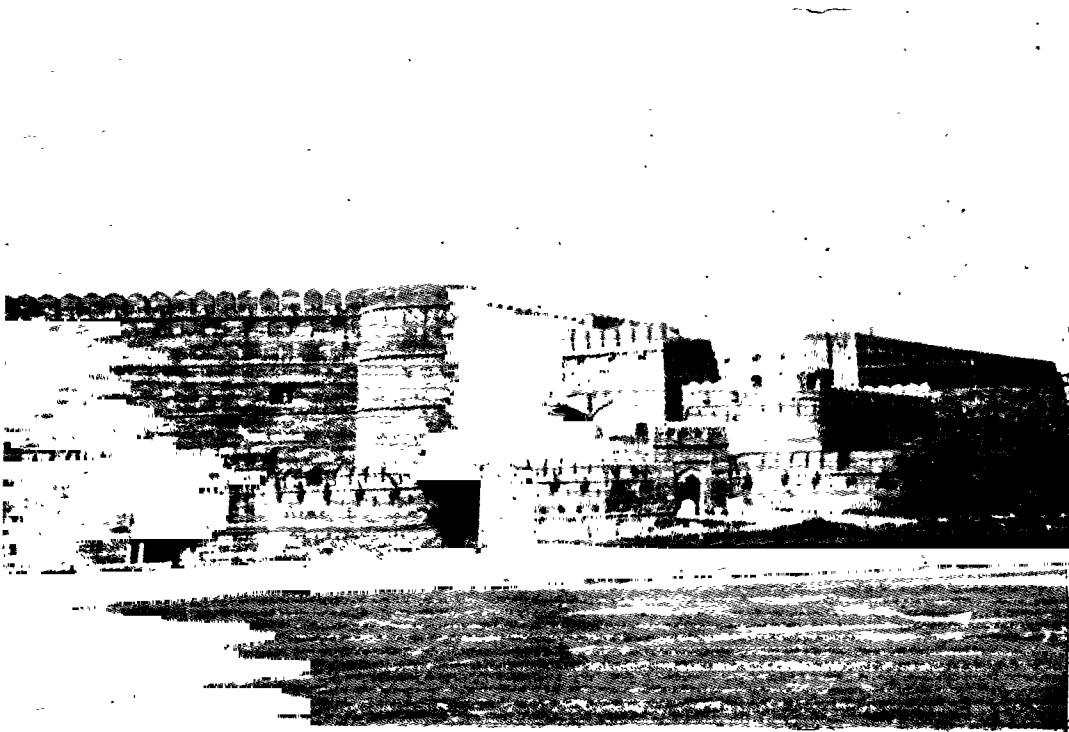
५८. आगरे का किला (१५६५-७२)

५६. आगरे के किले का दिल्ली द्वार (१५६८-८६)
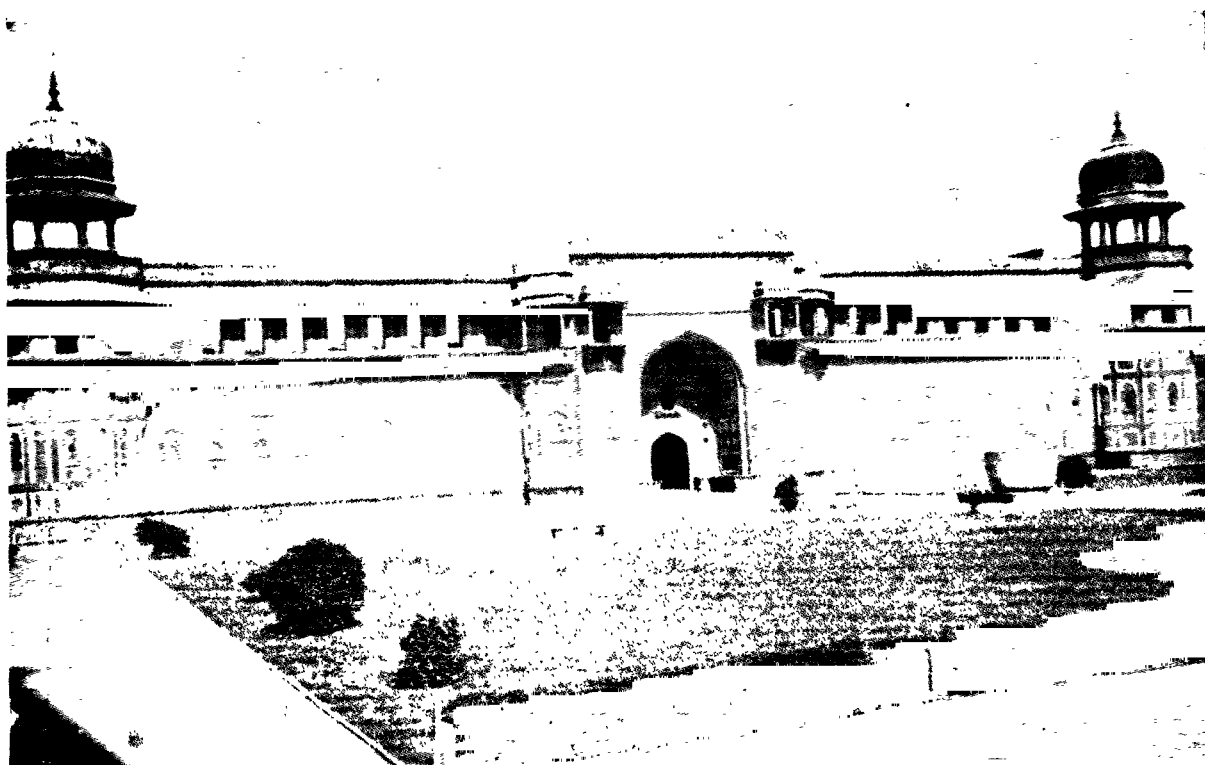
६०. जहांगीरी महल का पश्चिमी मुख (१५६५-७२)

६१. उत्तरी हाल के सर्पाकार तोड़े ।
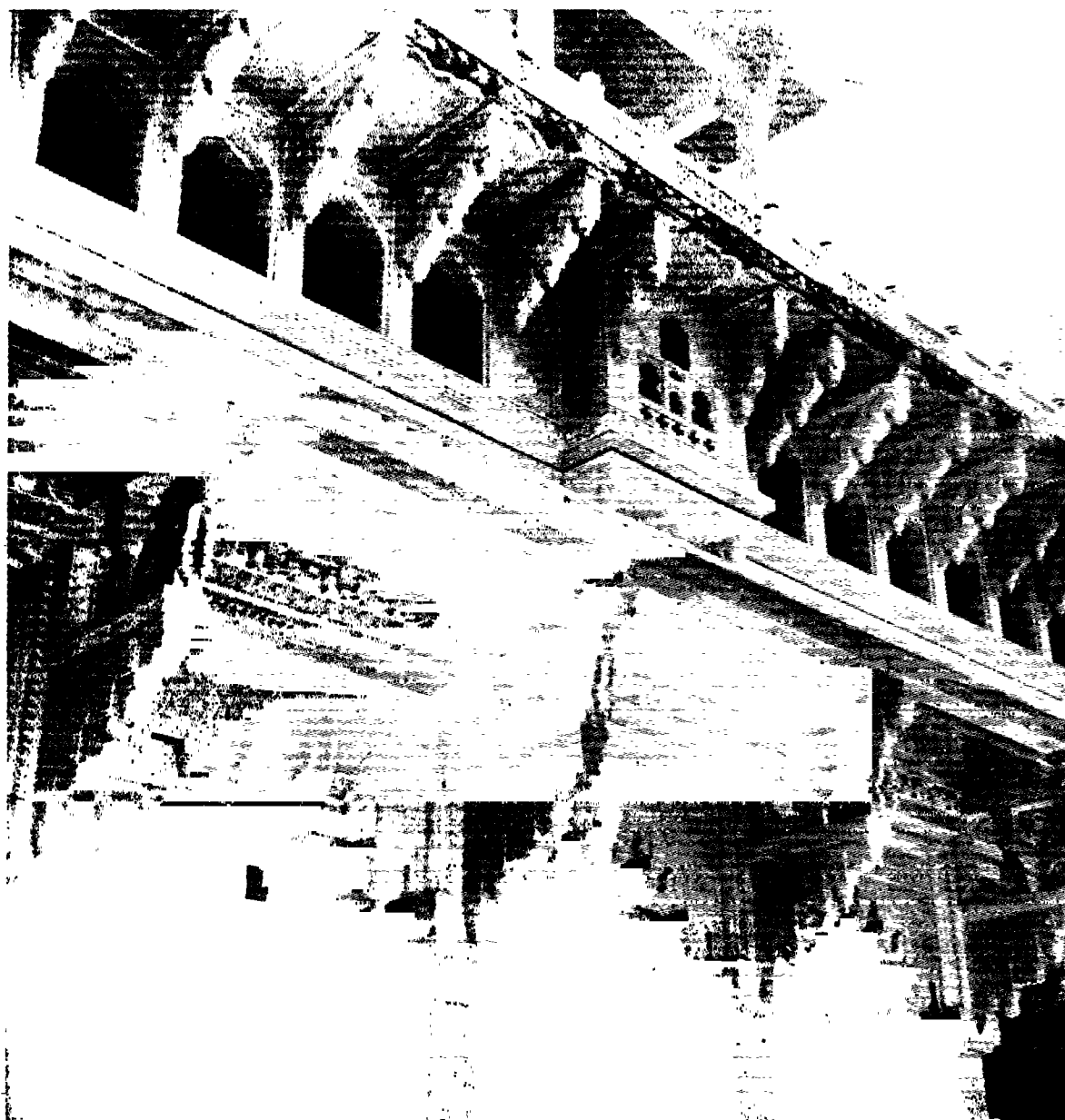
६२. जहांगीरी महल का भीतरी आंगन ।

६३. मयूर मण्डप के मयूराकृति के तोड़े।
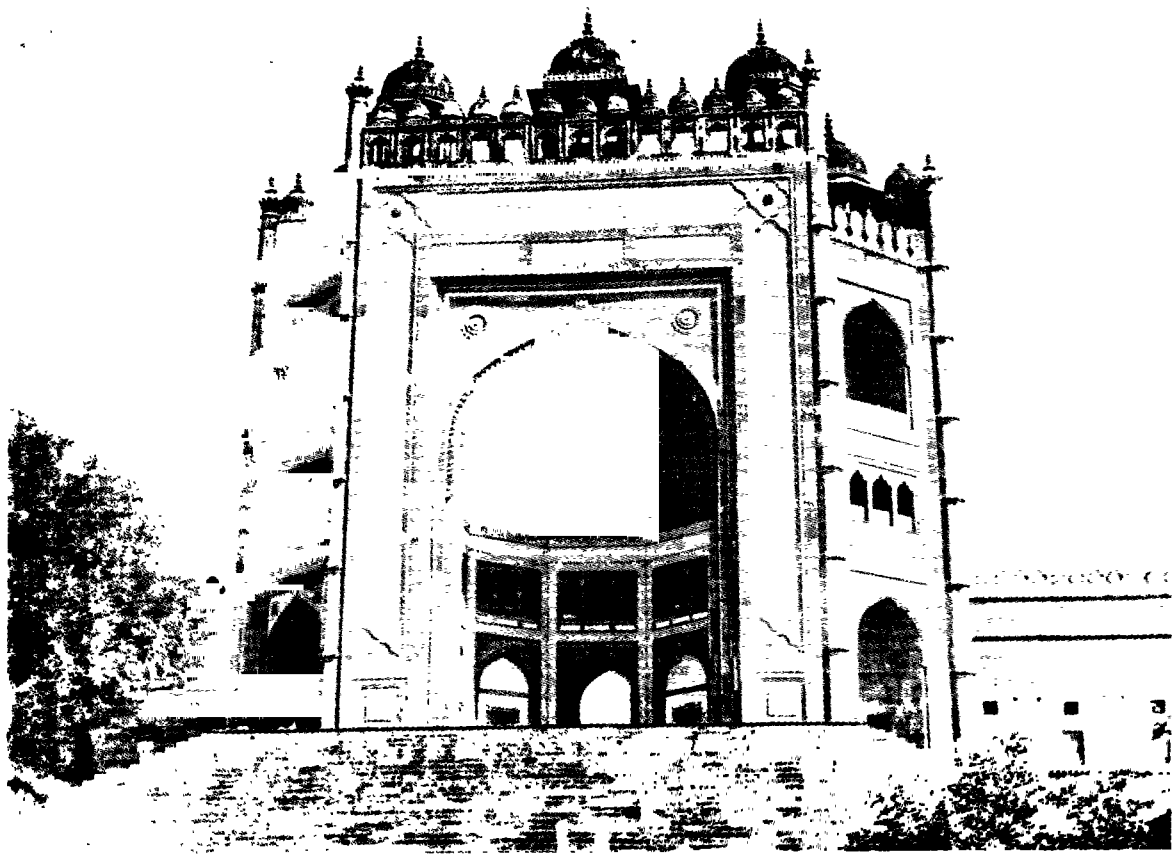
६४. फतेहपुर सीकरी का बुलन्द दरवाजा (१६१)
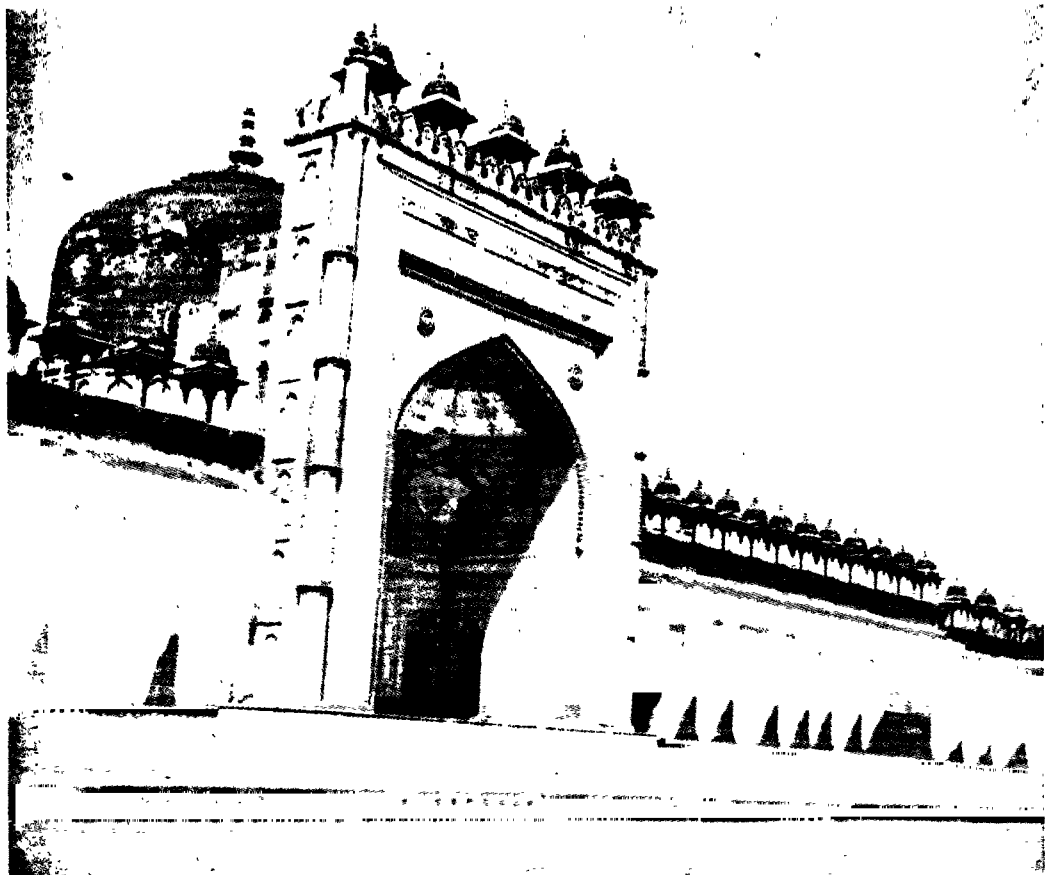
६५. फतेहपुर सीकरी की जामी मसजिद का आराधना भवन (१५७१)
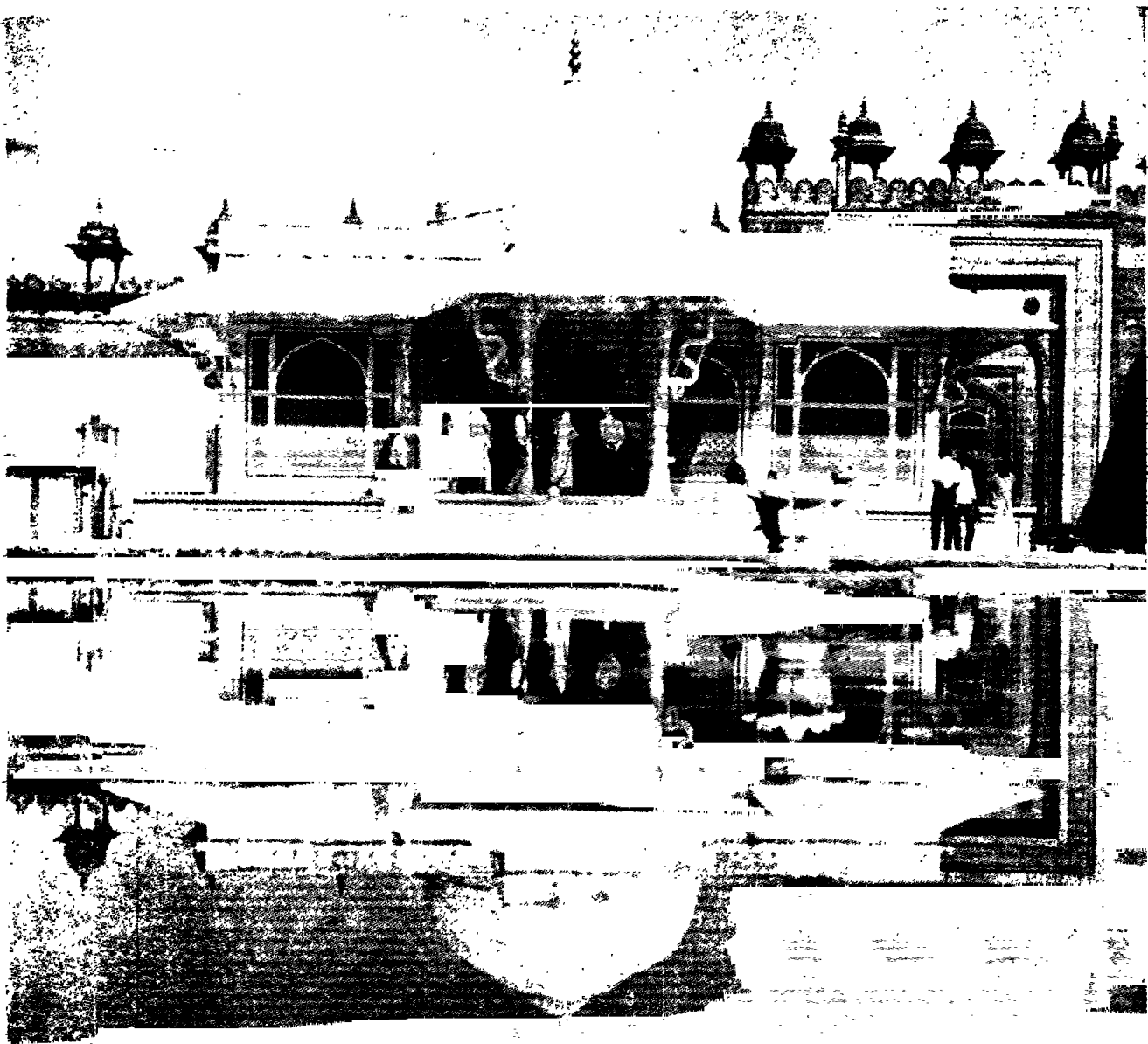
६६. सलीम चिश्ती का मकबरा, फतेहपुर सीकरी (१५८१)
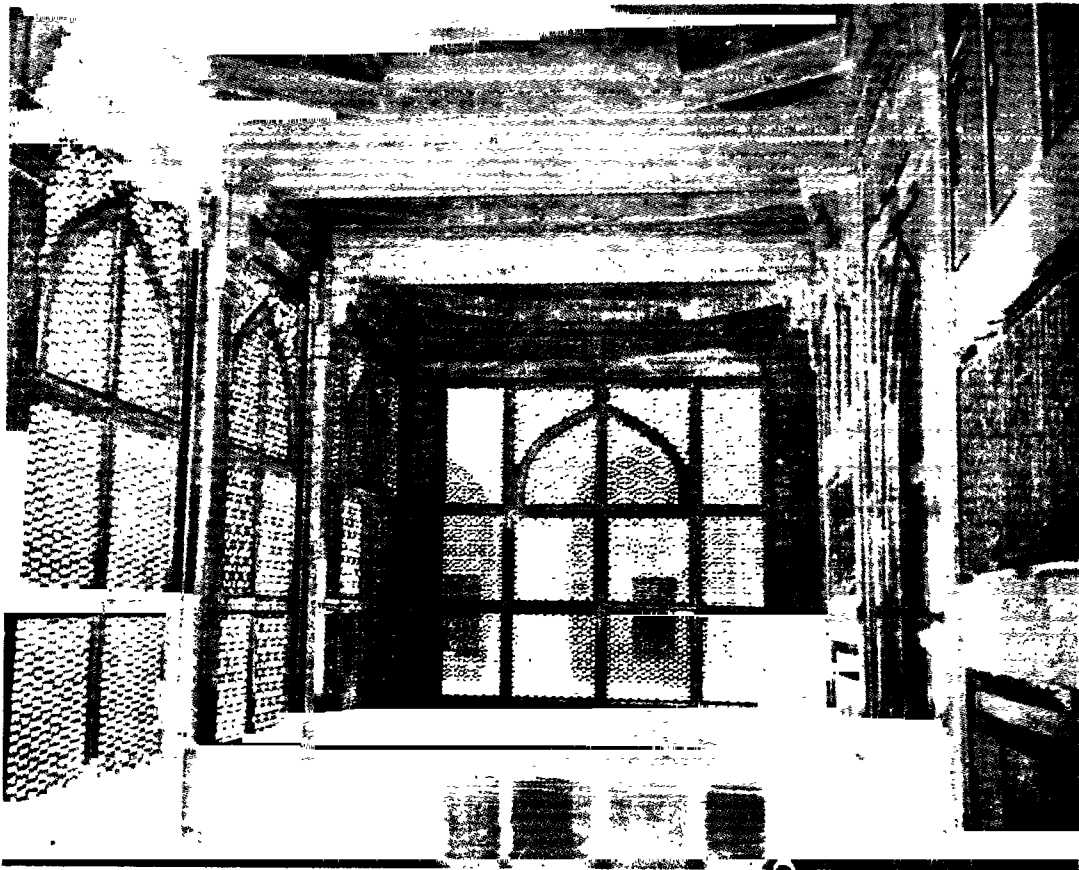
६७. सलीम चिश्ती के मकबरे का जालीदार बरामदा ।

६८. तथाकथित जोधबाई का महल, फतेहपुर सीकरी (१५७१–८४)
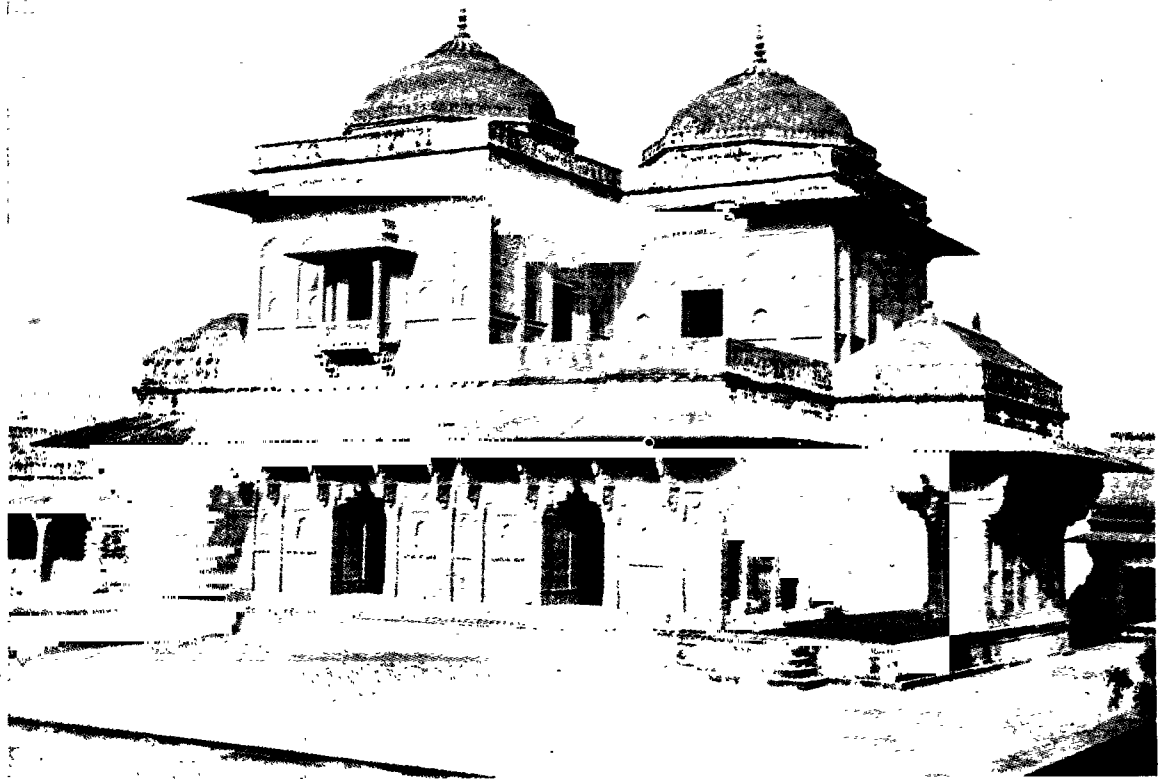
६९. बीरबल का महल, फतेहपुर सीकरी (१५७१-८४)
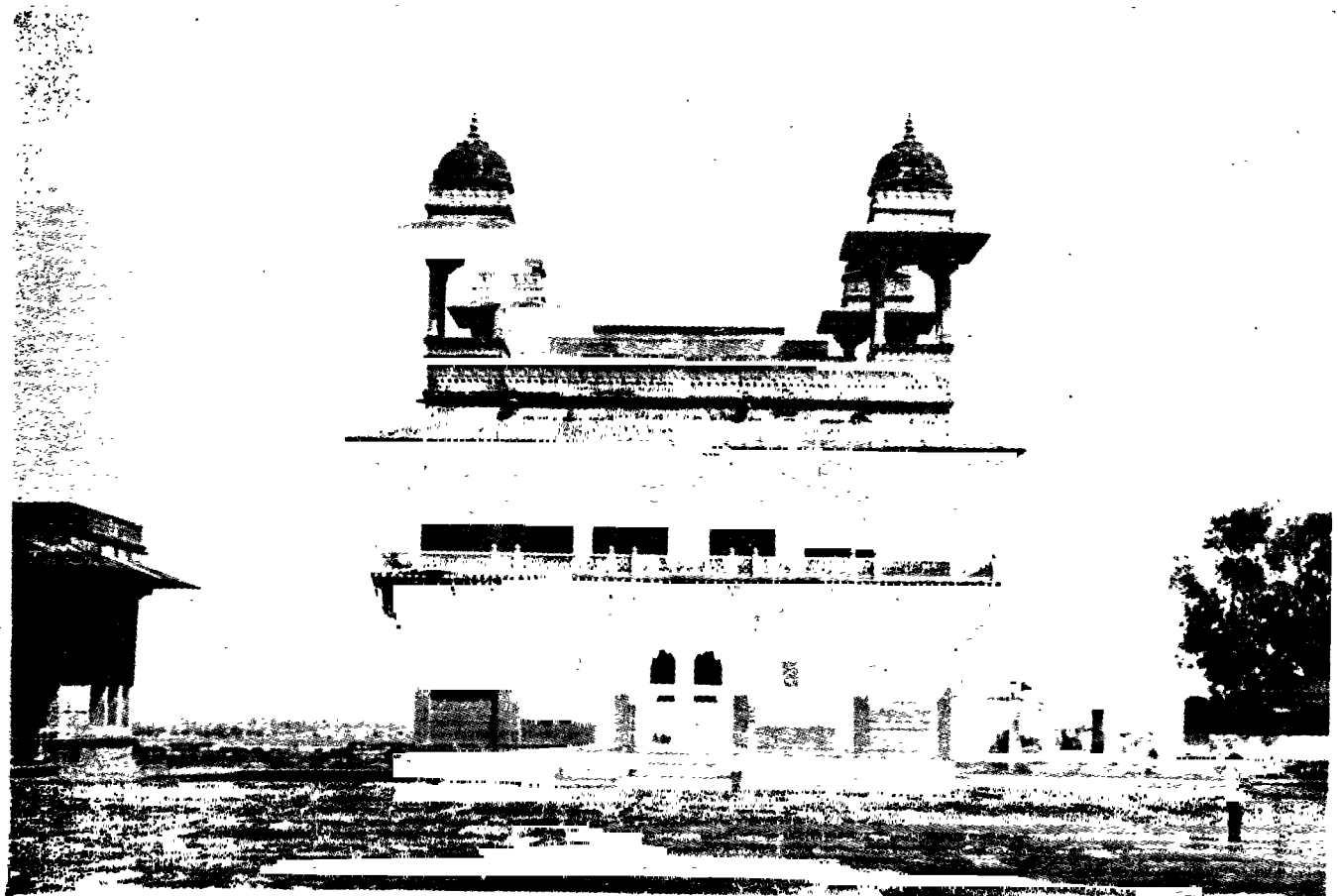
७०. दीवान-ए-खास फतेहपुर सीकरी (१५७१-८४)
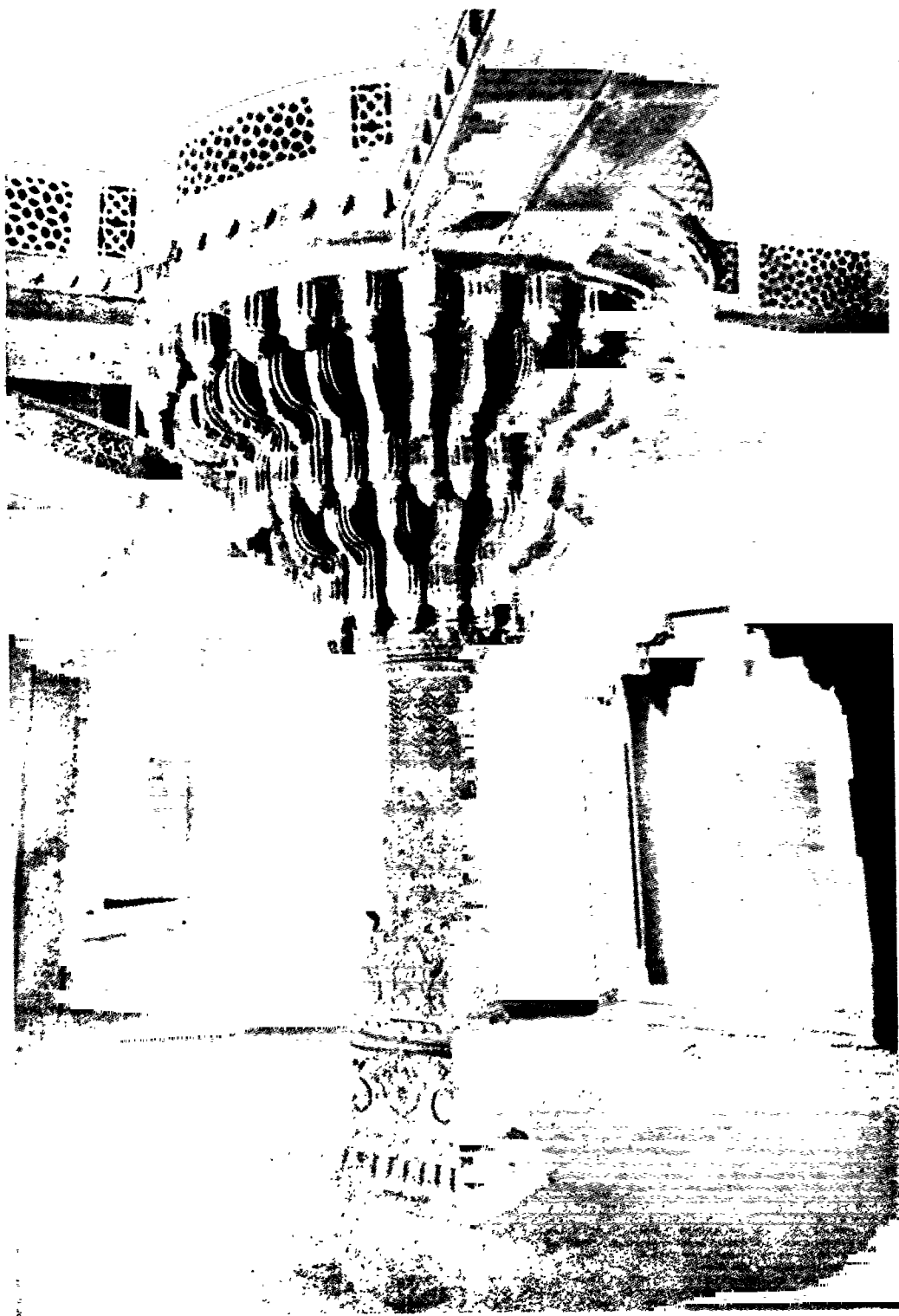
७१. दीवान-ए-खास का एक स्तम्भ ।
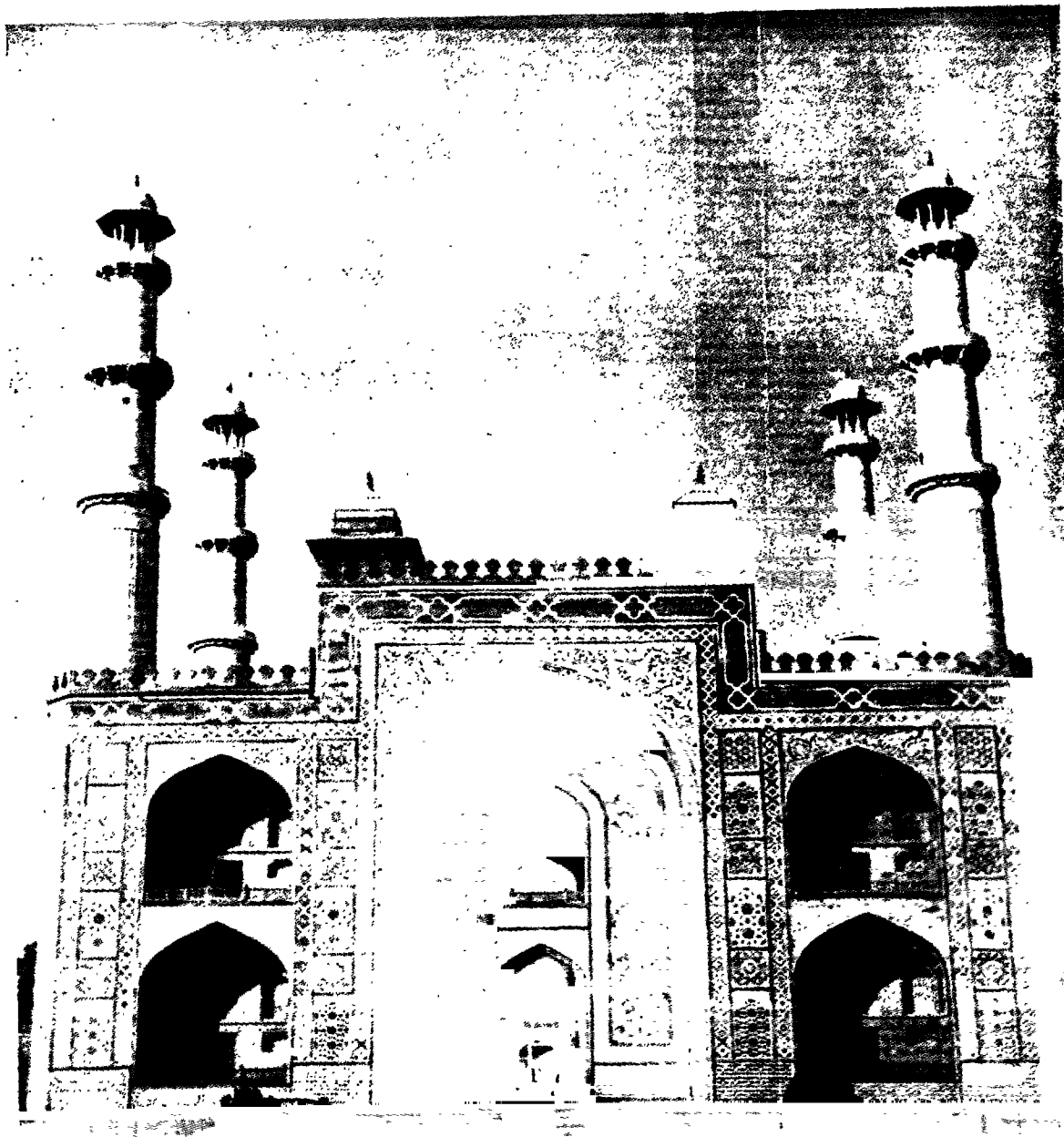
७२. अकबर के मकबरे का मुख्य द्वार, सिकन्दरा आगरा (१६०५–१२)
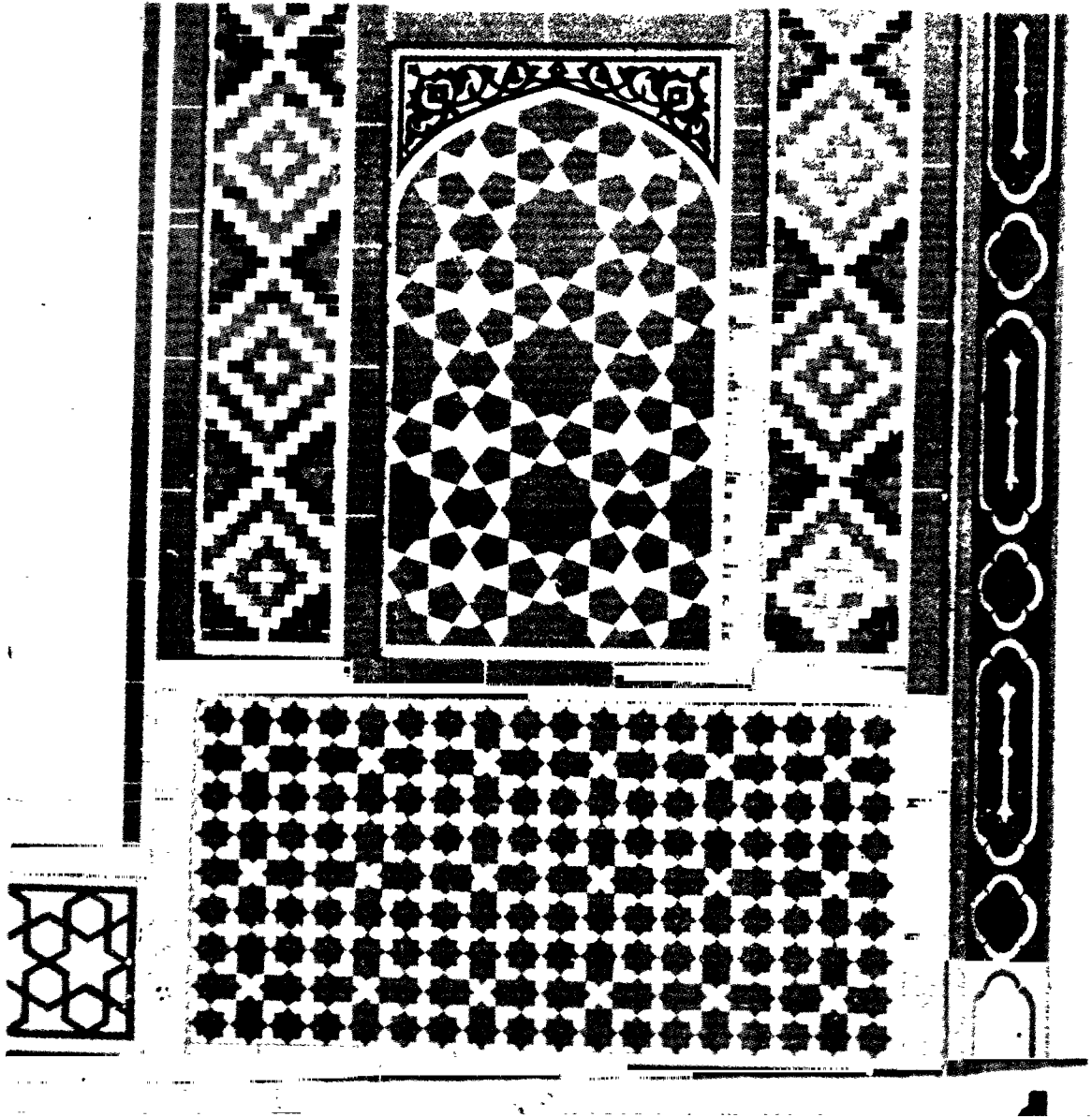
७३. मुख्य द्वार पर जड़ाऊ अलंकरण ।
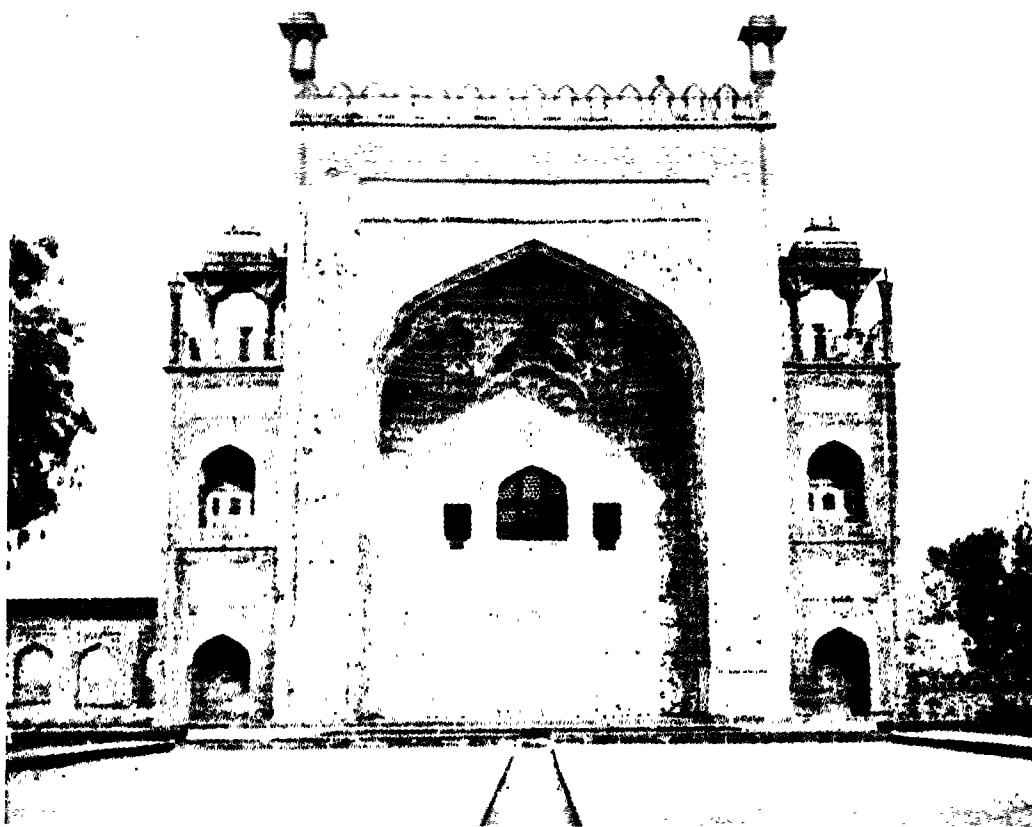
७४. अकबर के मकबरे का पश्चिमी आलंकारिक द्वार।
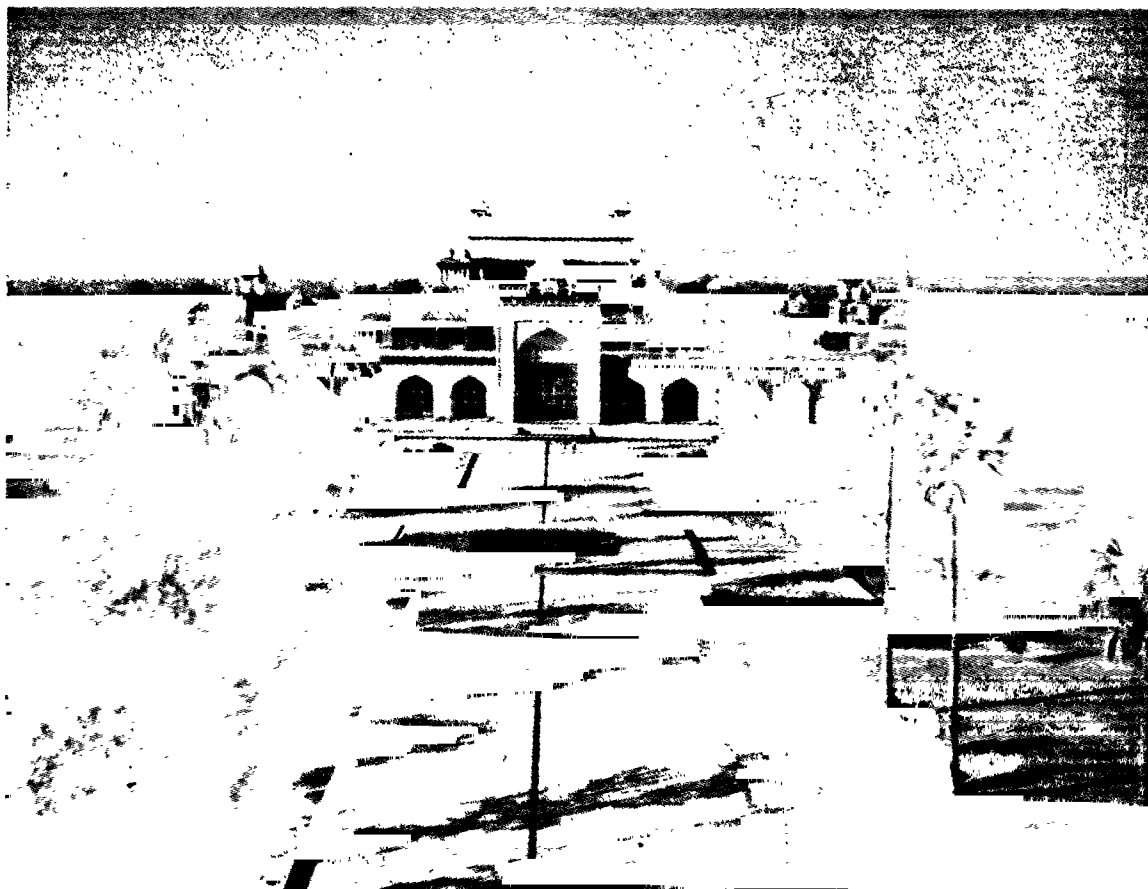
७५ मुख्य मकबरा।
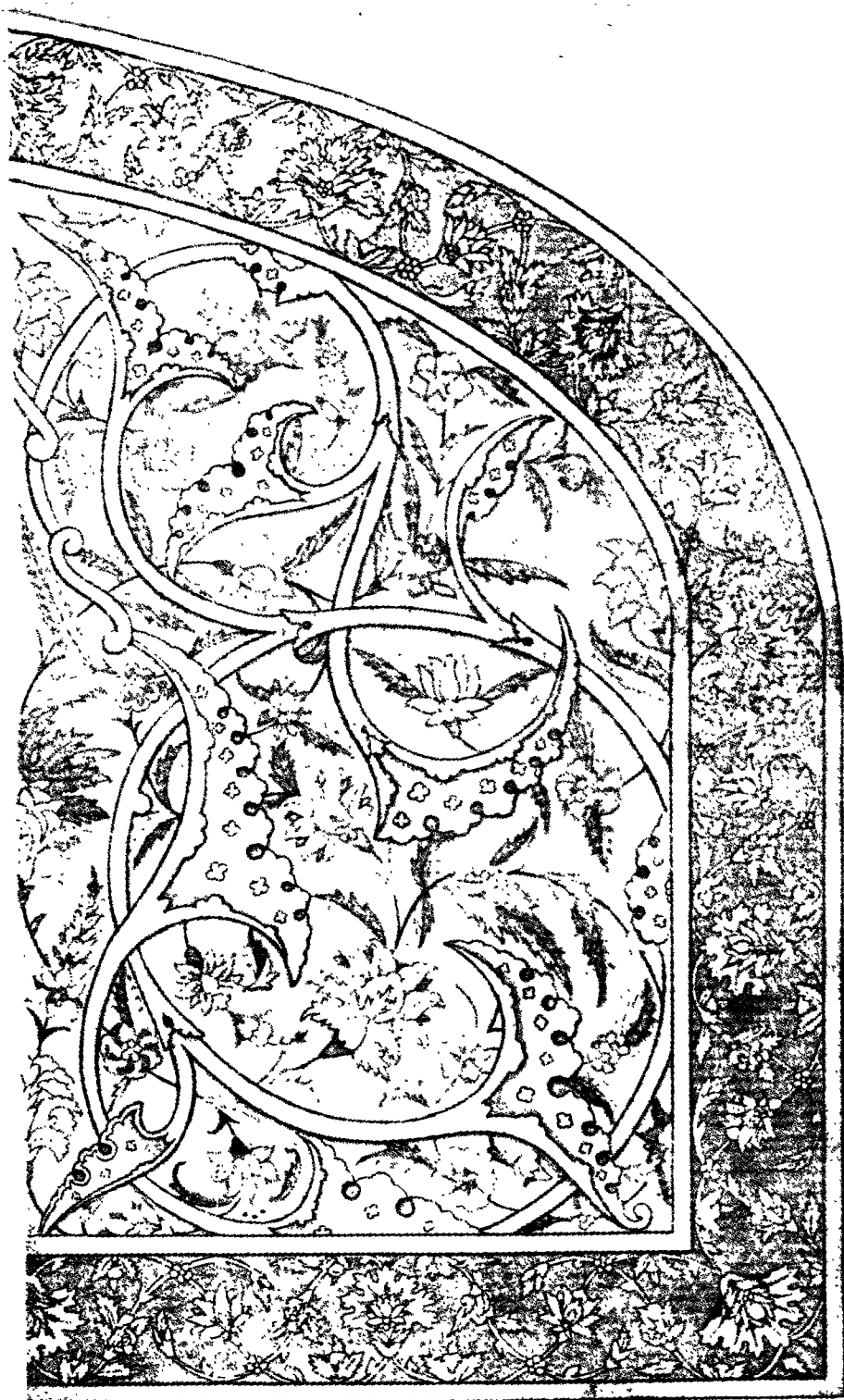
७६. अन्तराल मडण्प में चित्र अलंकरण ।
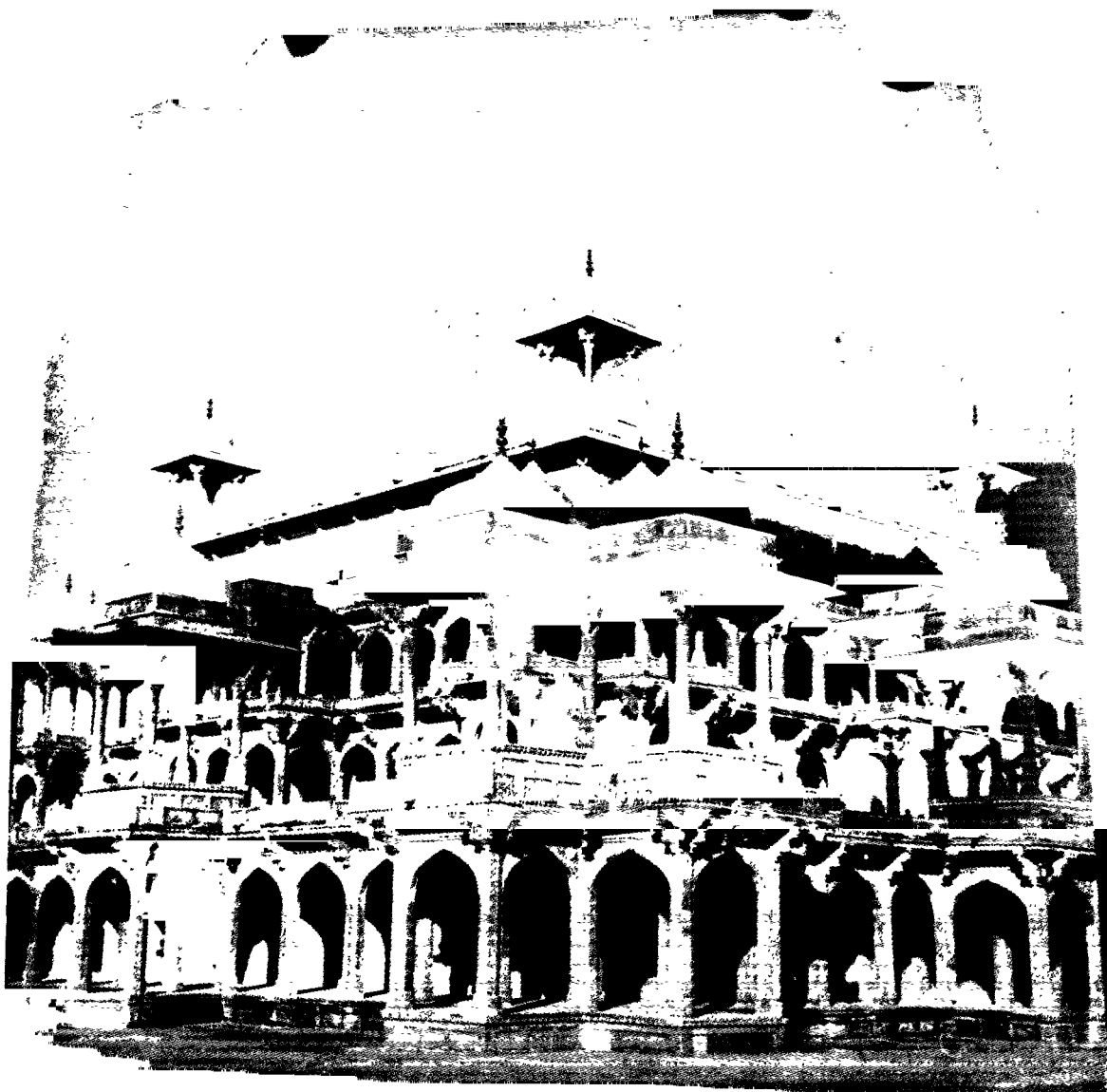
७७. ऊपरी मंजिलों में छत्रियों और महराबों की साजसज्जा ।
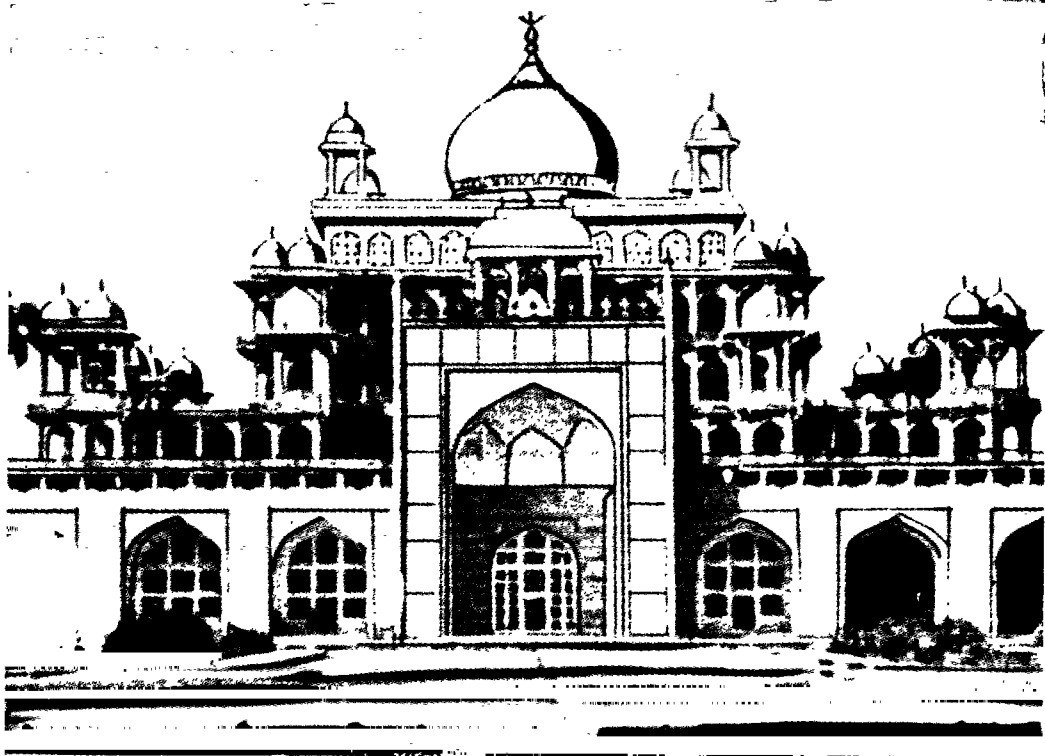
७८. अकबर के मकबरे पर काल्पनिक गुम्बद ।
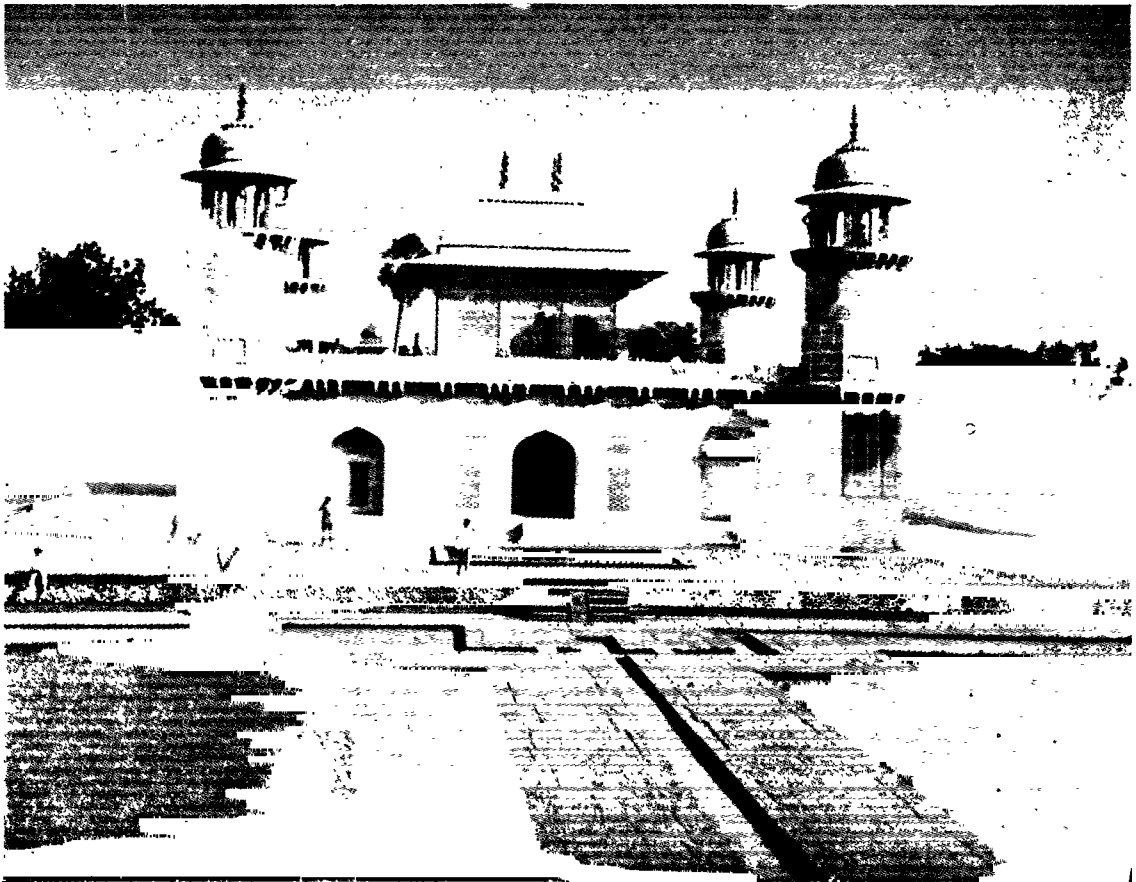
७९. ऐत्माद्दुद्दौला का मकबरा, आगरा (१६२२-२८)
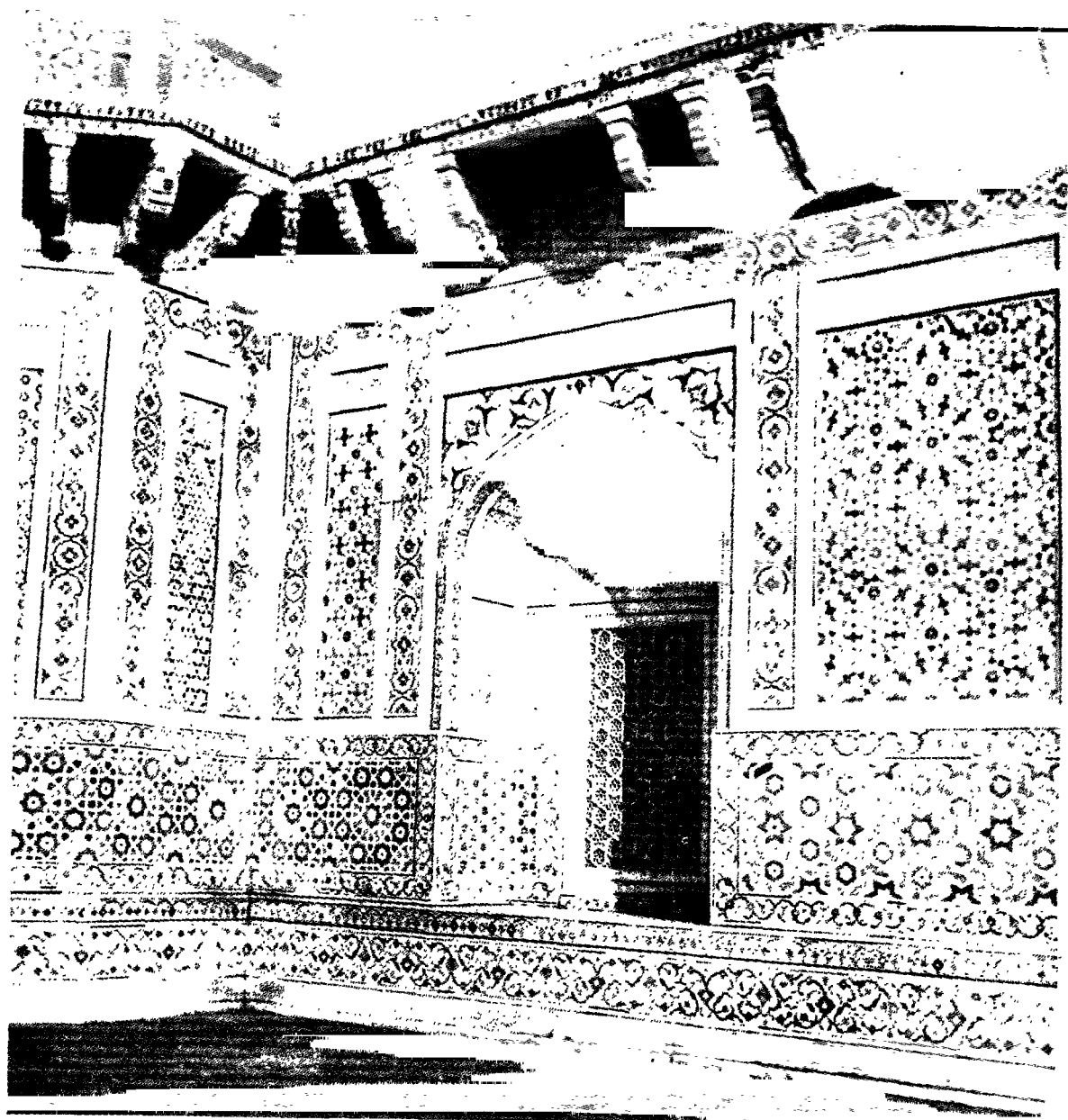
८०. ऐत्मात्दुद्दौला का मकबरा में जड़ाऊ अलंकरण ।
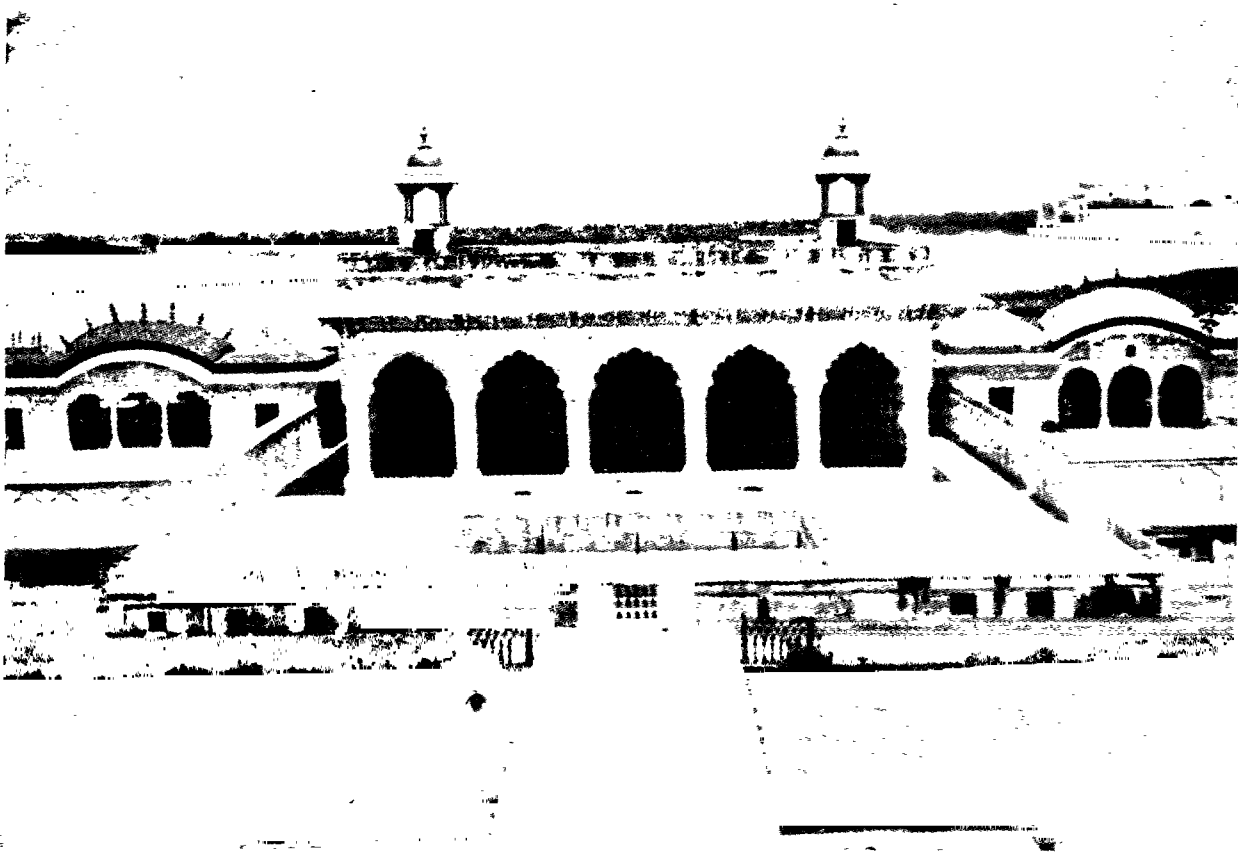
८१. आगरे के किले का खास महल (१६२८–३६)
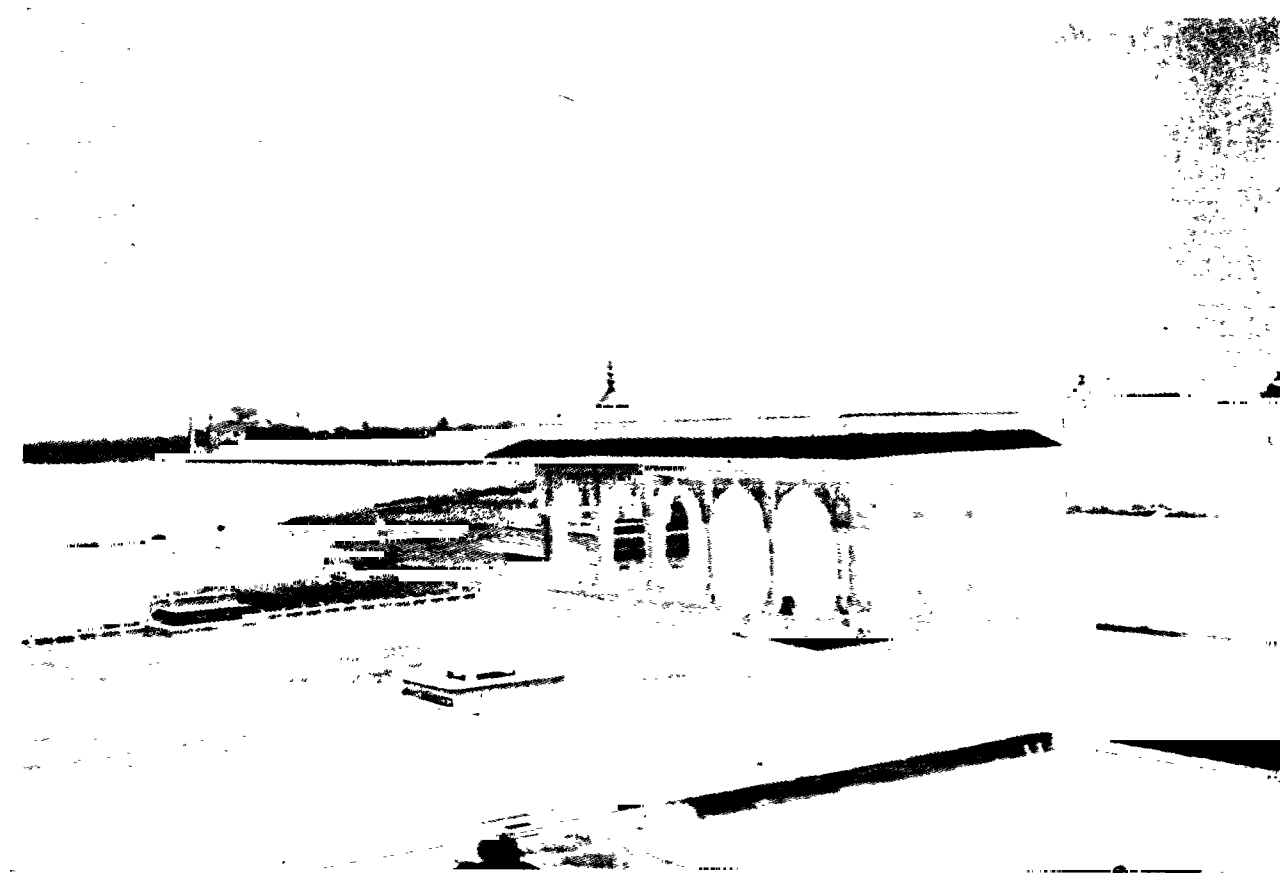
८२. आगरे के किले का दीवान-ए-खास (१६३५)
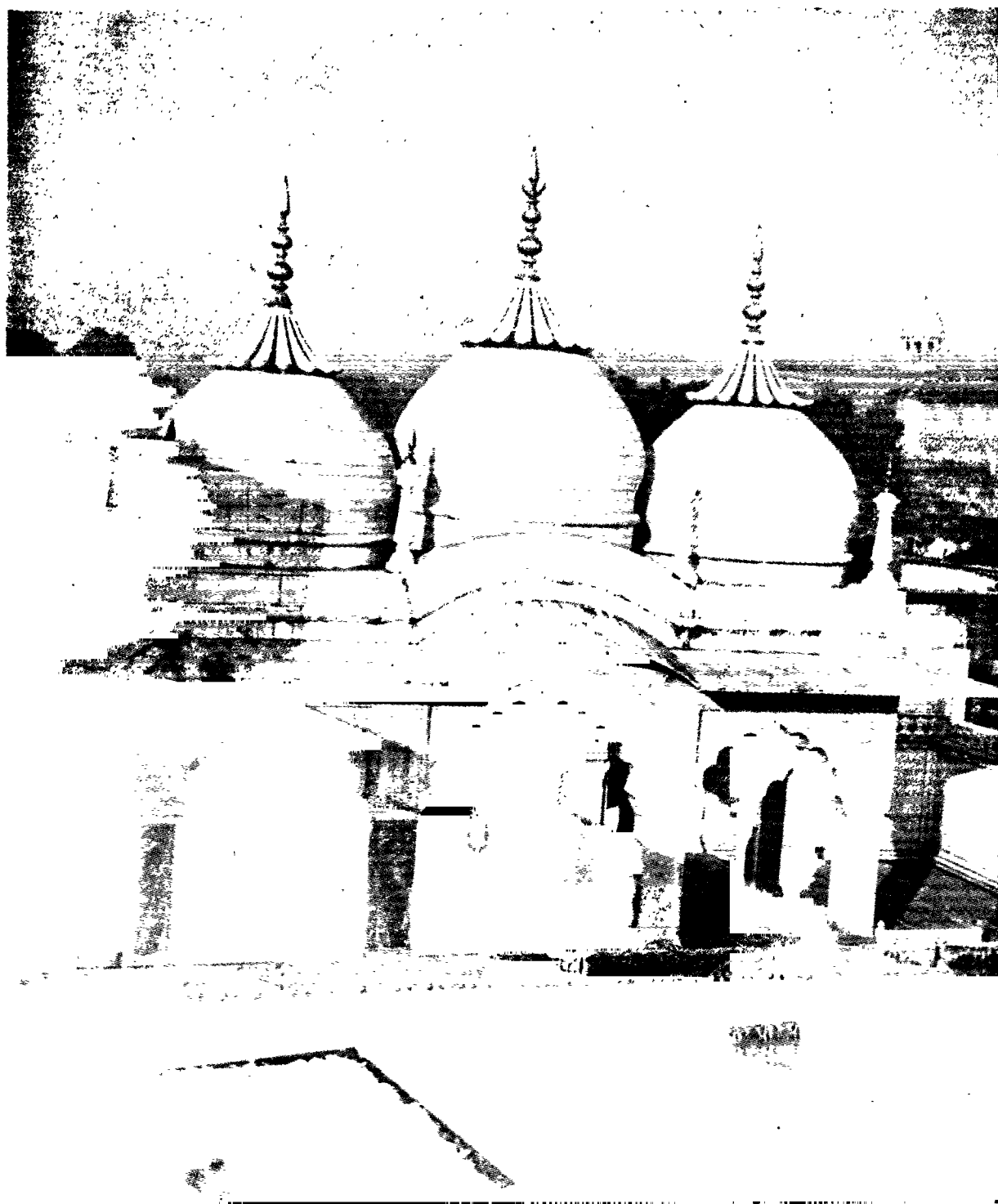
८३. आगरे के किले की नगीना मसजिद (१६२८-५८)
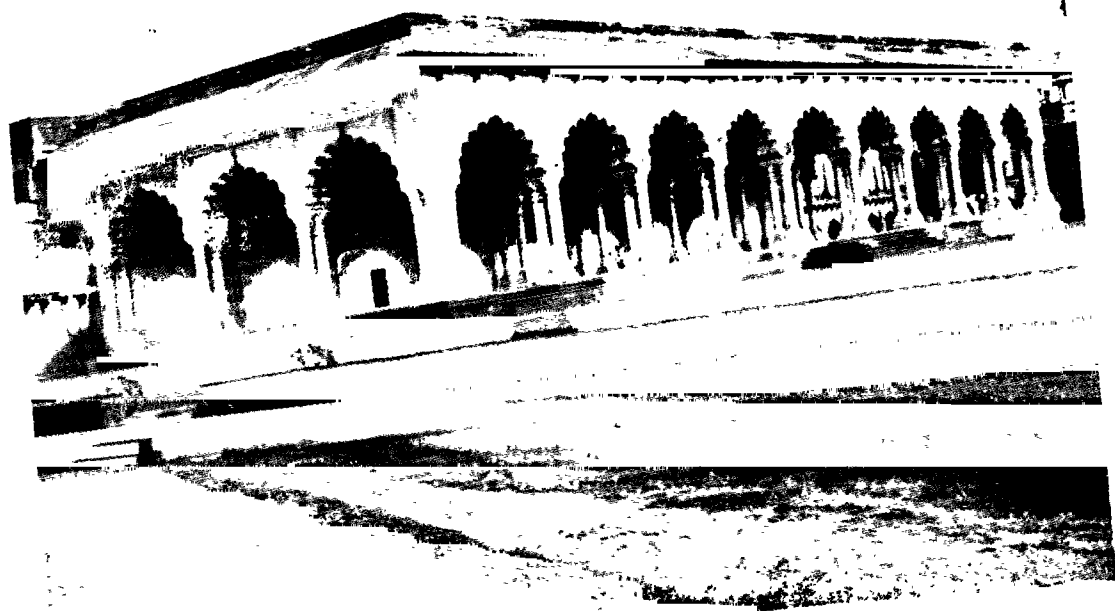
८४. आगरे के किले का दीवाने-ए-आम (१६२८-३६)
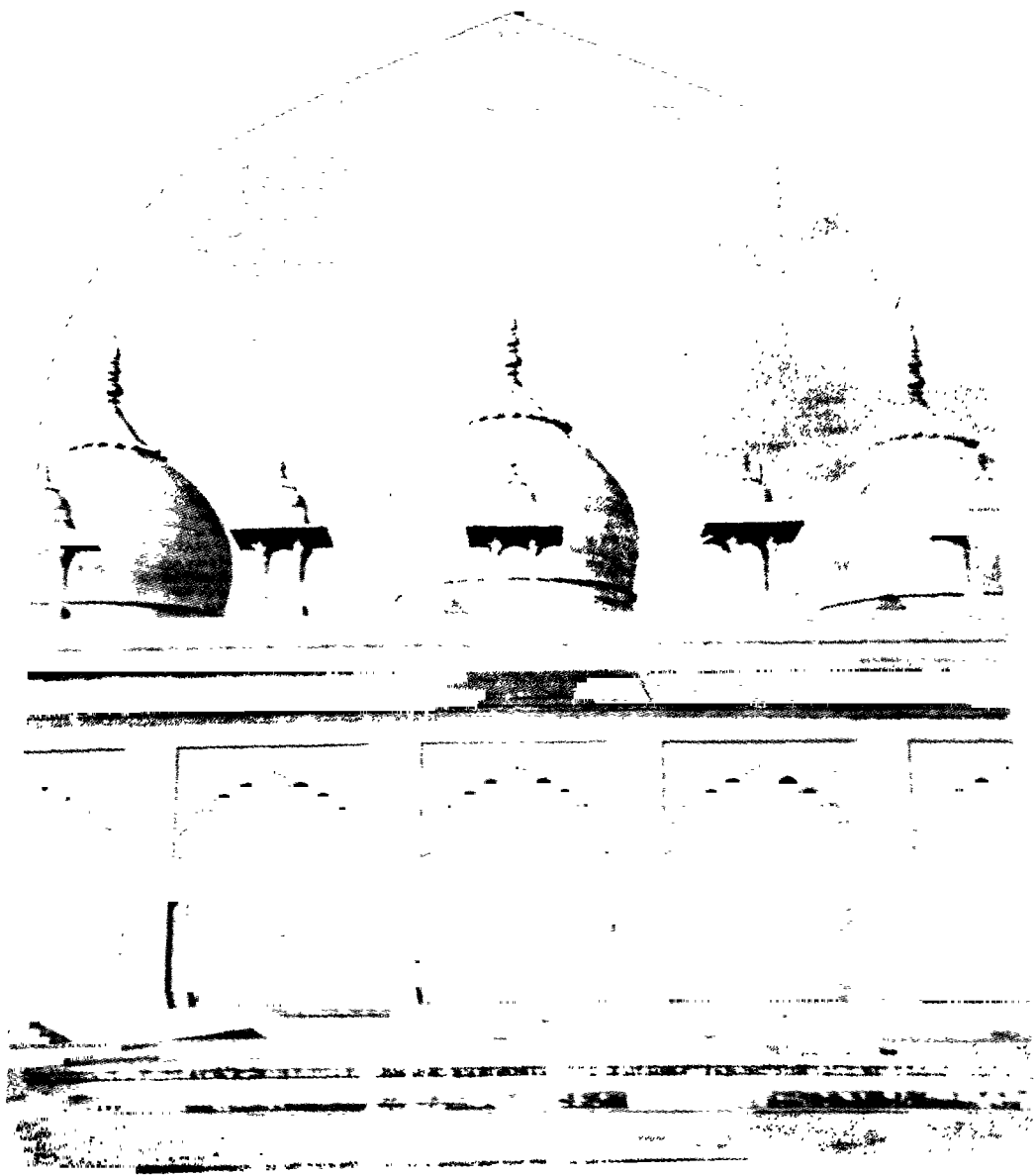
८५. आगरे के किले की मोती मजिसद (१६४८-५४)
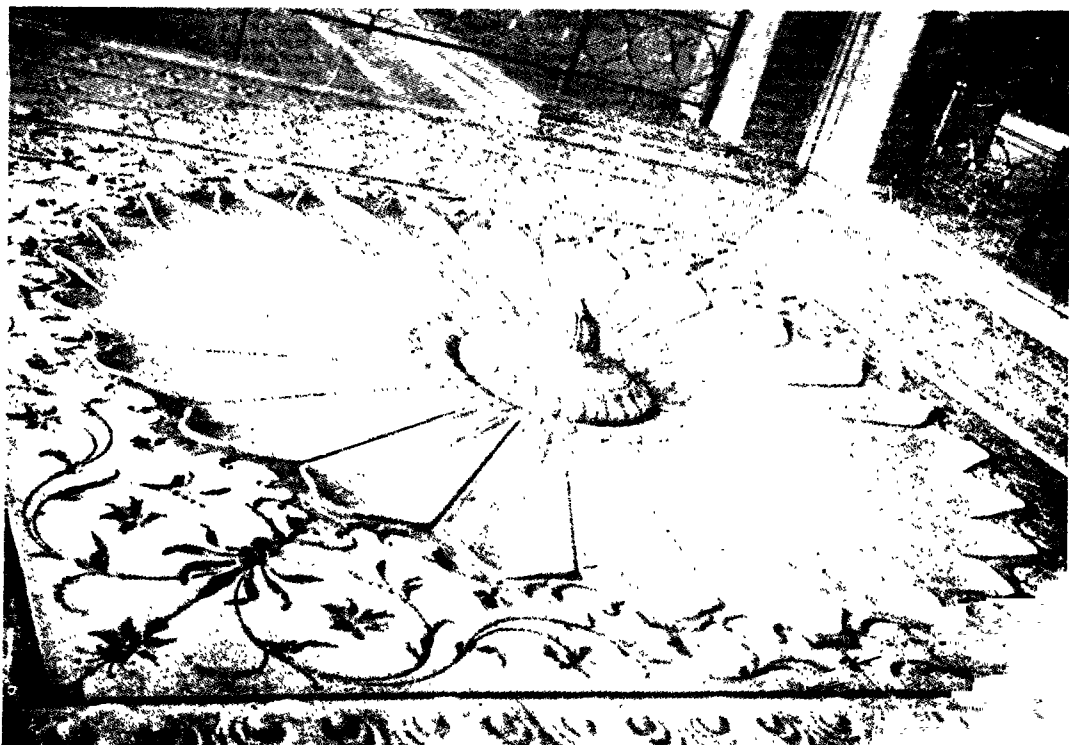
८६. दिल्ली के लालकिले के रंगमहल का कमल-सर (१६३८-४७)

८७. दिल्ली के लालकिले की मोती मसिजद (१६५६)
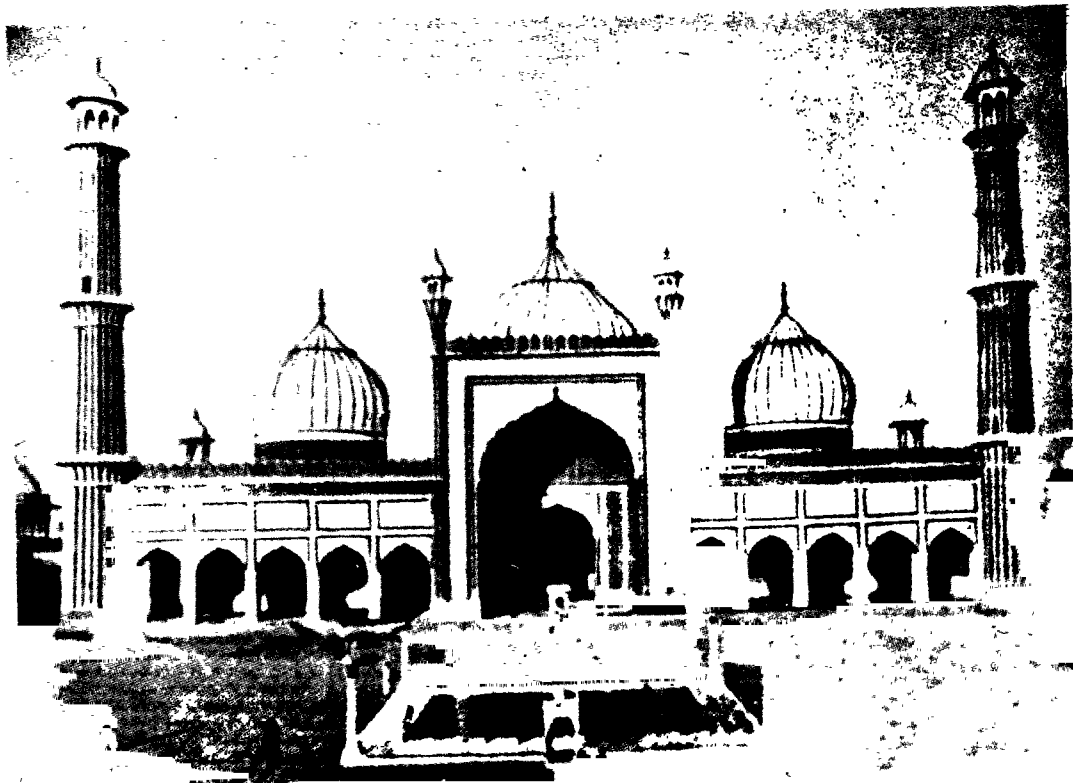
८८. दिल्ली की जामी मसजिद (१६५०)
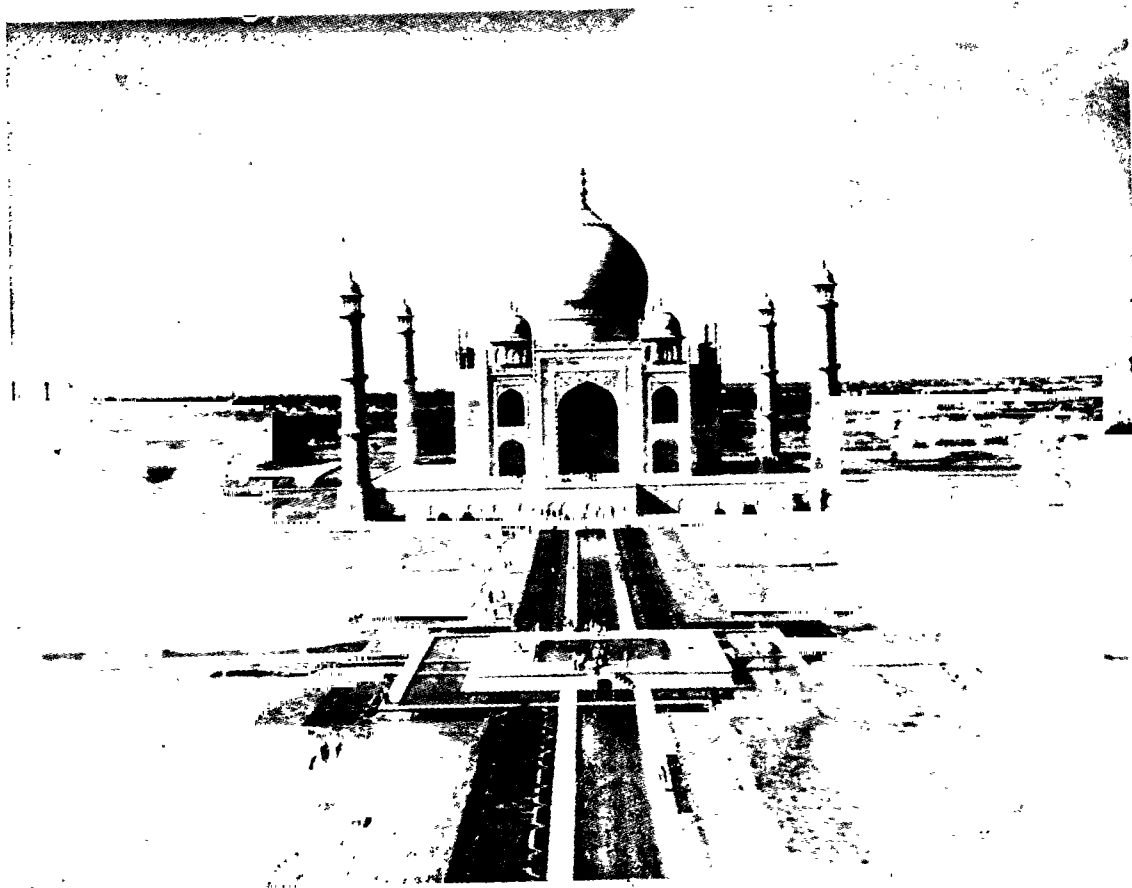
८६. ताजमहल— पुर्वभूमि ।
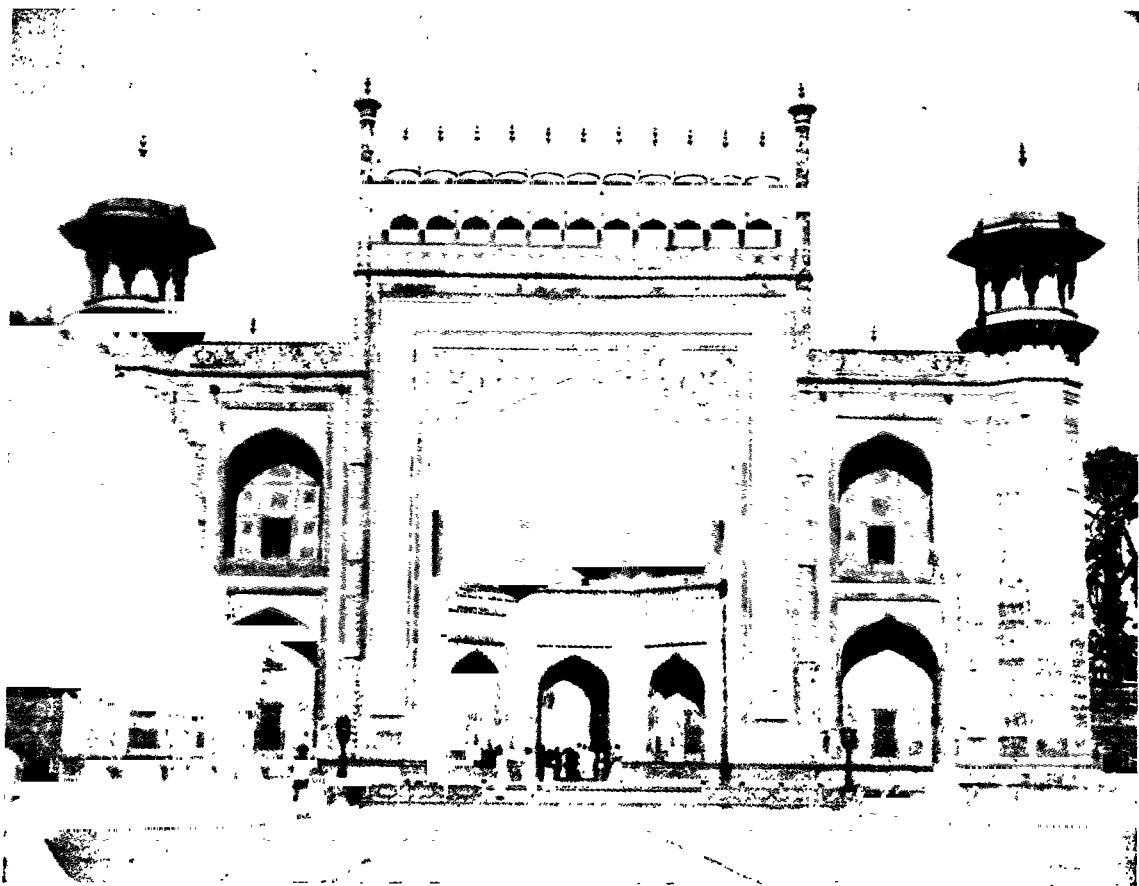
९०. ताजमहल का मुख्य द्वार (१६३१–४८)
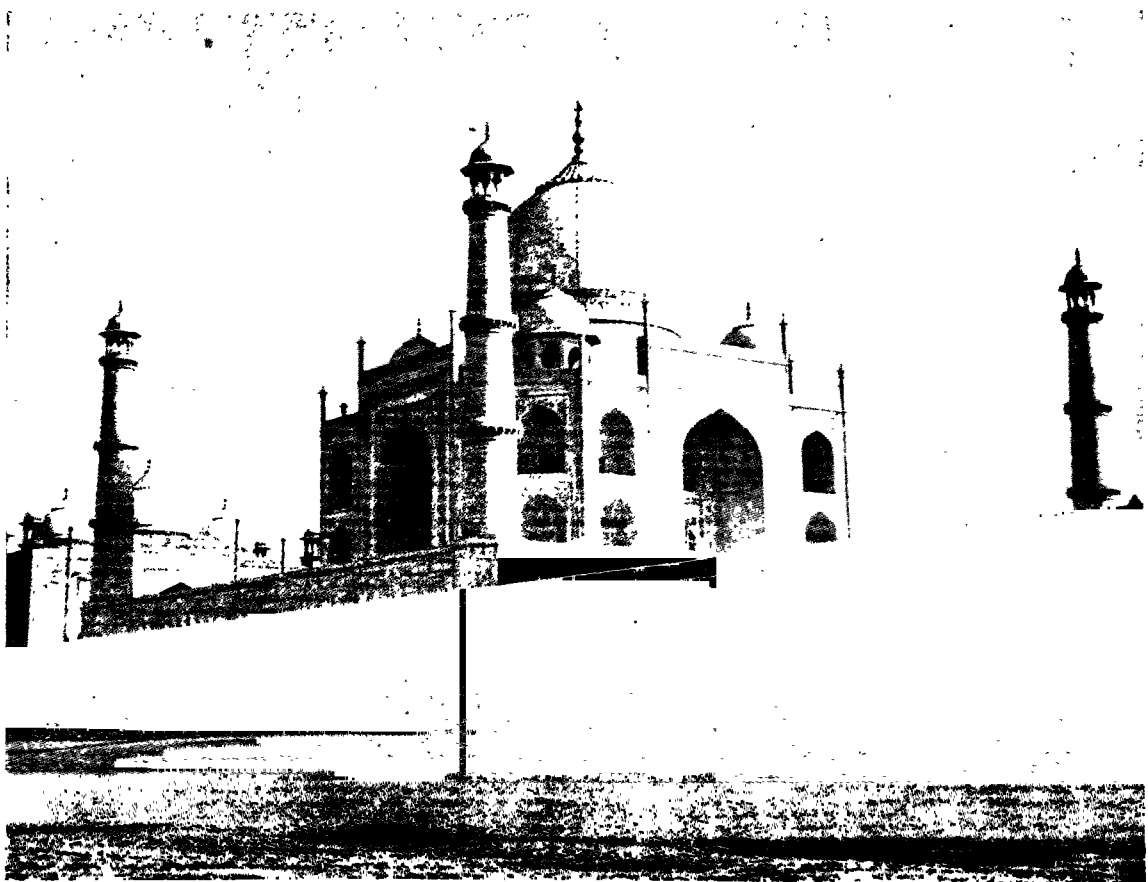
९१. ताजमहल—एक दृश्य।
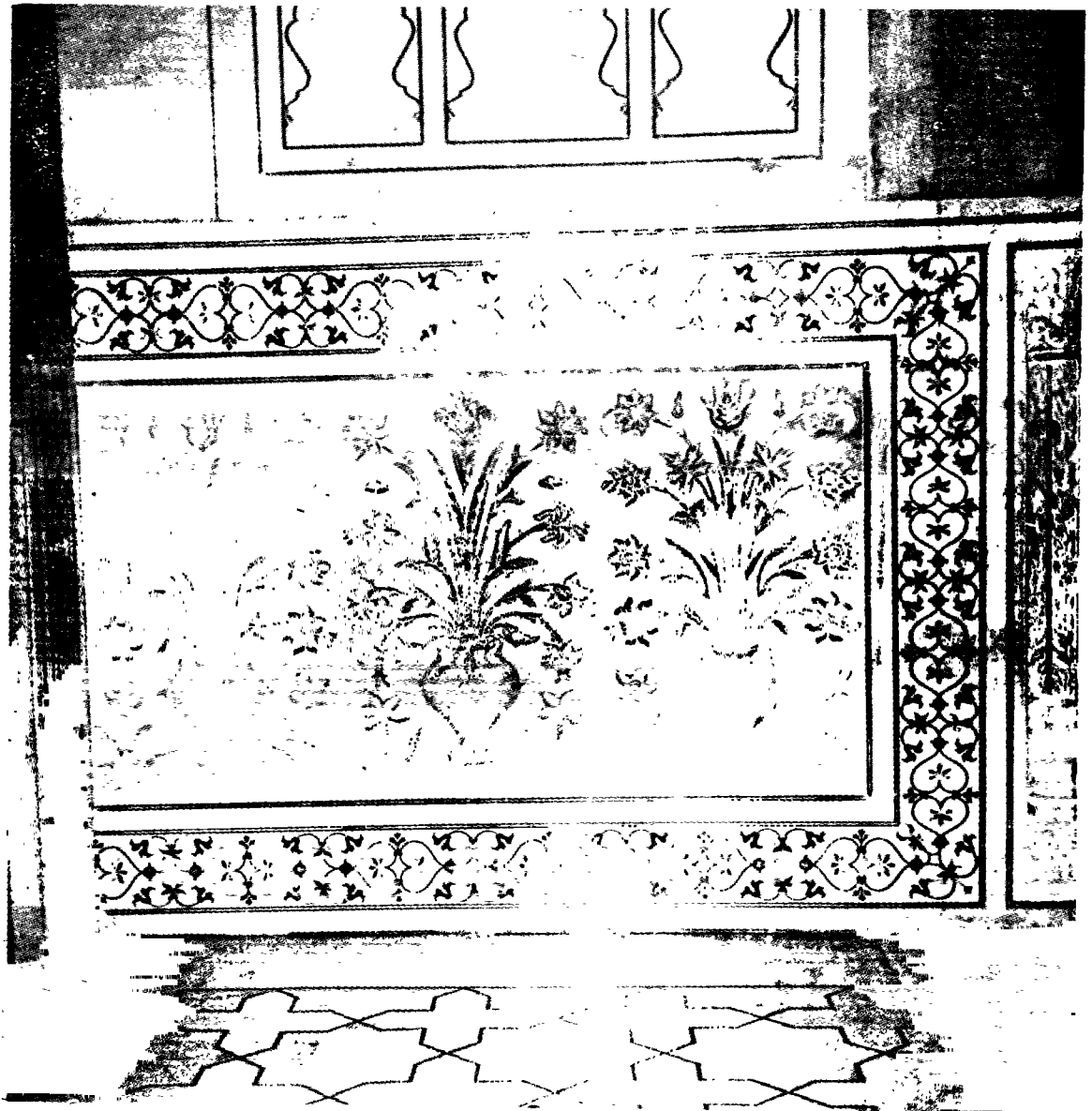
९२. ताजमहल—मुख्य कक्ष के उत्कीर्ण जड़ाऊ शिलापट्ट ।
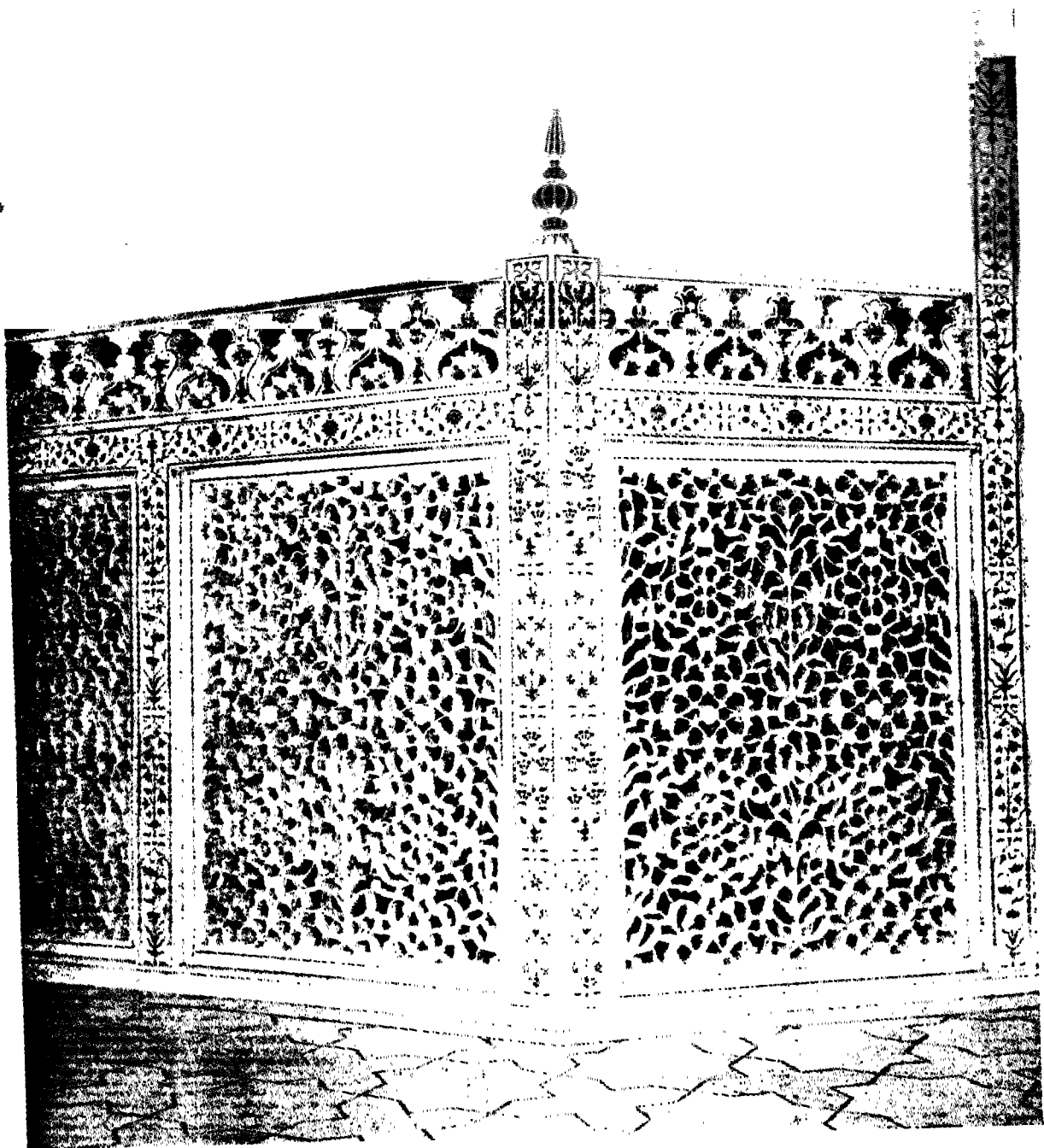
९३. ताजमहल—कब्रों के आठों ओर जड़ाऊ पर्दा ।

६४. ताजमहल ।
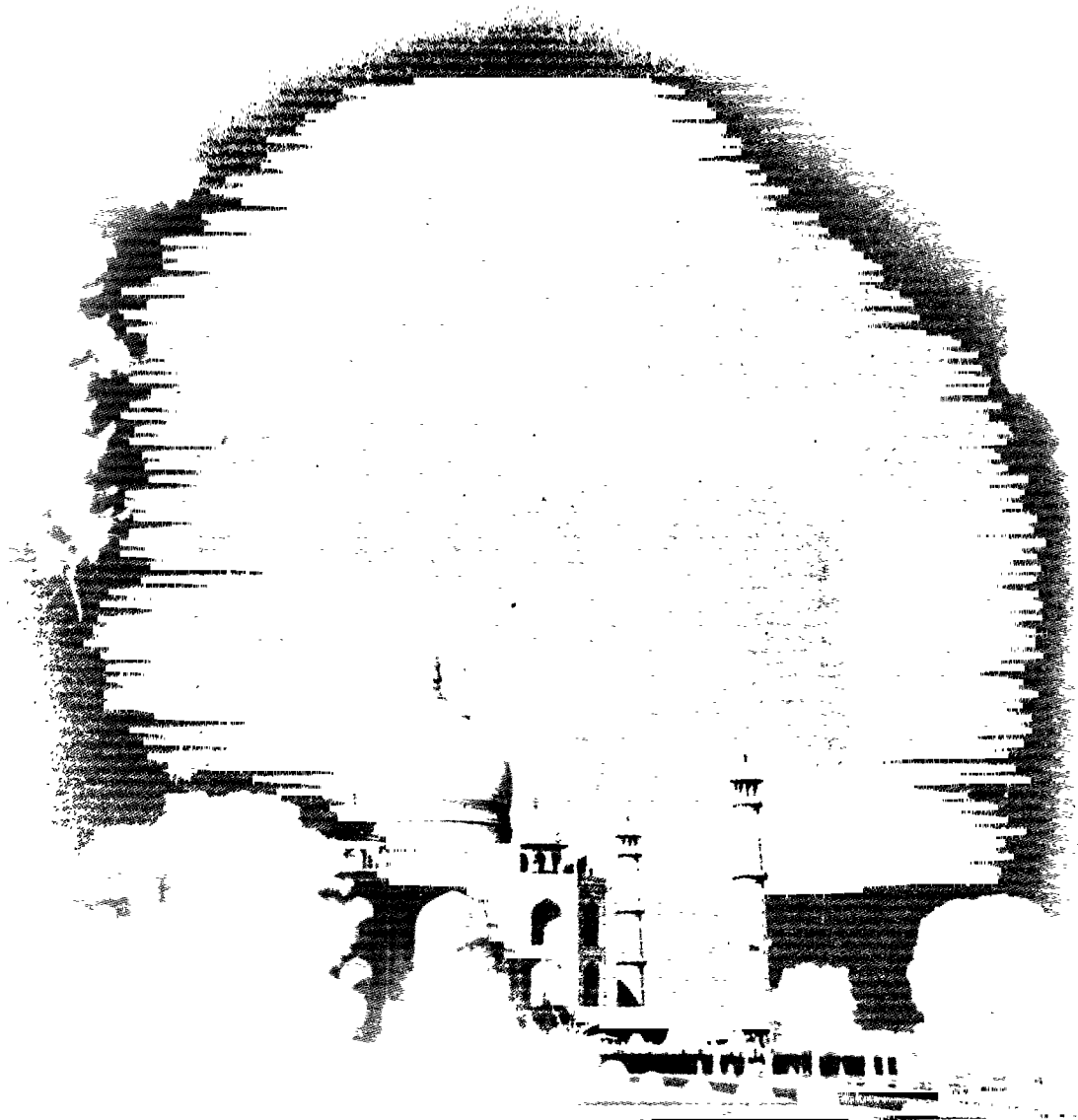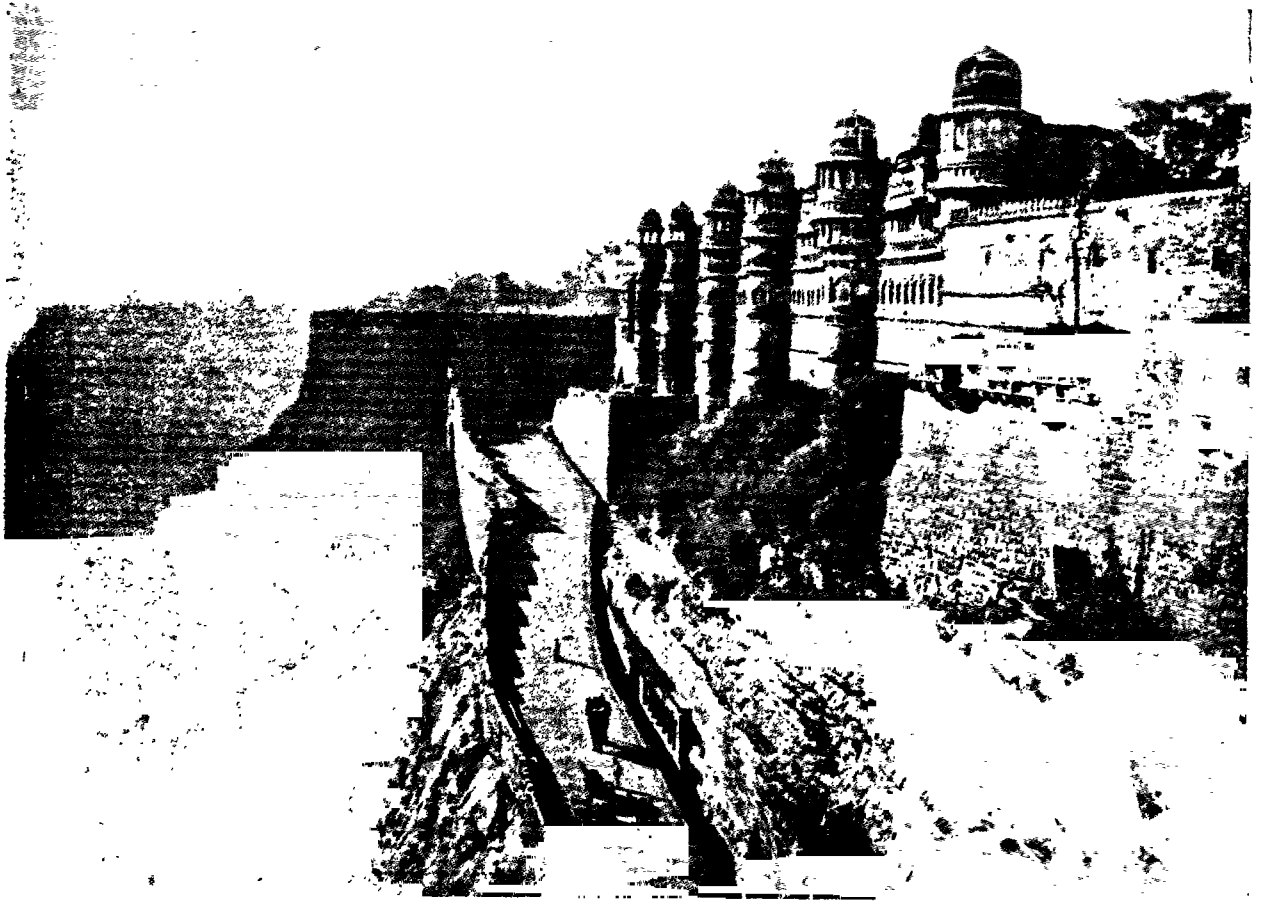
९५. मानमन्दिर, ग्वालियर (१५१०-१६)
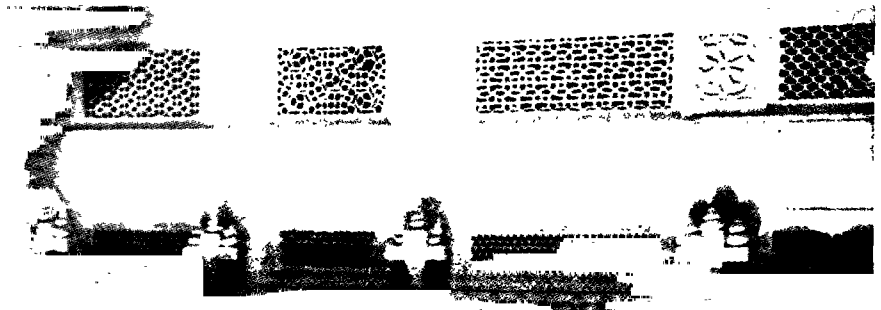
९६. मानमन्दिर—भीतरी आंगन में रंगीन टाइलों का अलंकरण

शुद्धि-पत्र

पृ०	कॉलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२	६	हैं	अनावश्यक है
५	१	३२	और	,,
१३	१	१	निर्जाव	निर्जीव
१४	१	८	गए हैं।"	गए हैं।
१७	१	७	पट्ट और पट्ट	पट्ट और पट्
३३	१	२२	महाराब	महराब
३३	१	३०	वास्तुविधा	वास्तुविद्या
३२	१	३४	प्रकट हुआ।	प्रकट हुआ। (चित्र २७)
३६	१	२६	छतें	छत्ते
३६	२	३०	बबी-बड़ी	बड़ी-बड़ी
४३	१	१३	निच्यावाण	निच्यावाश्म
४७	२	१५	चम्पानर	चम्पानेर
४७	२	३४	उत्कृष्ण	उत्कृष्ट
५१	१	९-१०	तमाकरदम् तमामे उम्र मशरुफे आवां-गिल कि इक दमा साहिब कुनह मन्ज़िल	तवाँ करदन तमामी उम्र रा मसरुफ ओबो-गिल कि शायद मक दमी साहब दिले ईंजा कुनद मंज़िल
५७	१	२३	गिर	घिर
५९	२	७	मस्जिम	मस्जिद
६४	१	अन्तिम पंक्ति	बीधिकाओं	वीथिकाओं
६५	२	११	एकांकी	एकाकी
७०	१	२६	अमेघ	अभेद्य
७१	२	२९	शौक	शोक
७२	१	५	आ	आँ
७३	२	२९	कम्बों	कम्बो
७८	१	१८	जन	जैन
८२	—	४	oli	Baoli
८३	—	३	वद्र	वप्र
८३	—	१३	Centeying	Centering

(कृ० प० उ०)

पृ०	कॉलम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८५	—	१ ब्लॉक की	Finia	Finial
८५	—	१५	चित्रावल्लरी	चित्रवल्लरी
८७	—	१२	स्तम्भ/स्मत्म	स्तम्भ
९१	—	४	Bandhopadhyayı	Bandhopadhyaya
९१	—	१७	Iames	James

चित्र संख्या ७ में पढ़िये—१४६९-१५०१

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य भूलें आम तौर पर और रह गयी हैं, जैसे 'भ' कभी-कभी 'म' छप गया है और 'ढ' ढ़' छप गया है। कहीं-कहीं 'व' और 'ब' का अन्तर नहीं रखा गया है। ˘ के स्थान पर ‿ प्रयुक्त हुआ है। कहीं-कहीं 'इ' और 'ई' की मात्राओं में भी अन्तर है। लेखक और प्रकाशक इन भूलों के लिए क्षमा प्रार्थी हैं।